श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्येण विरचिता

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।

पं० स्वामिगोविन्दसिंहसाधुकृत-

आर्यभाषाटीकासमेता ।

खेमराज-श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्षः,

मुंबईस्थः ।

शकाब्दाः १८५३. संवदब्दाः १९८८.

मुद्रक और प्रकाशक–

खेमराज श्रीकृष्णदास.

मालिक–" श्रीवेङ्कटेश्वर " स्टीम्–प्रेस, बम्बई.
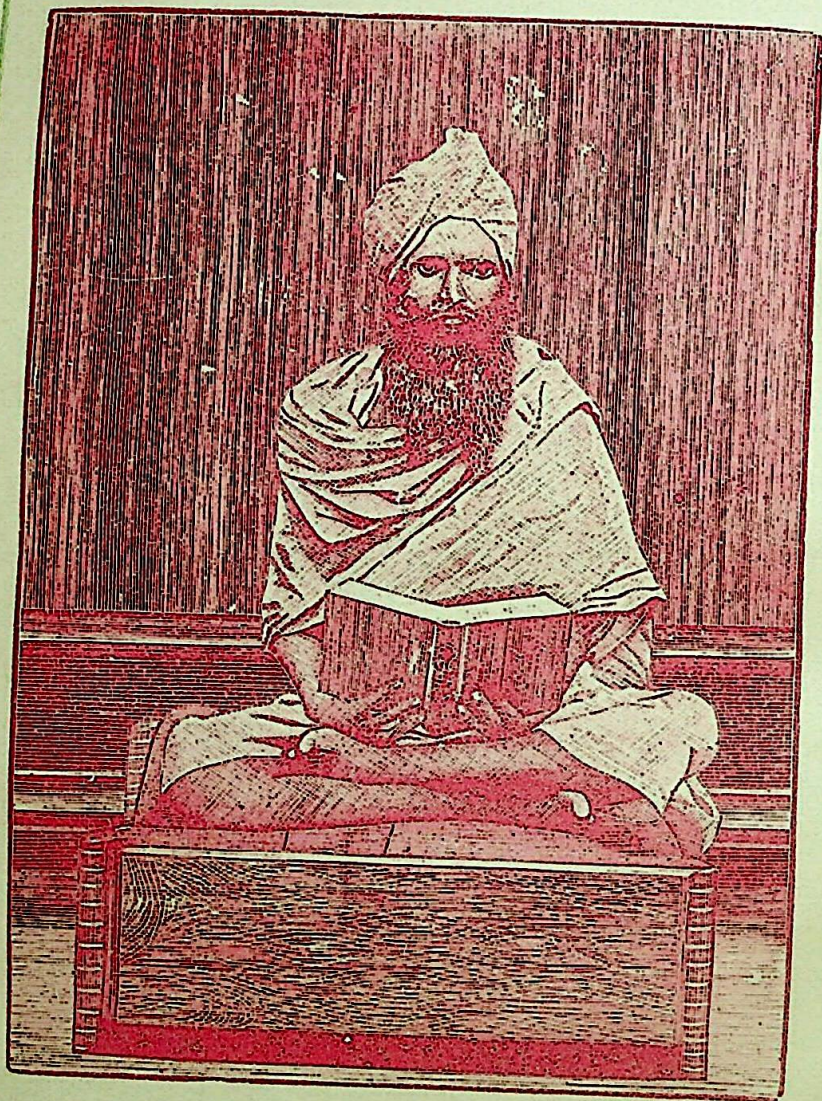
काशीनिवासी निर्मल पं० स्वामिगोविन्दसिंह साधुः

अथ न्यायतत्त्वसमीक्षाख्यभूमिका।

इस सर्वथा इत्थंभावेन अचिन्तनीय तथा अनवद्य वैशद्य विपुल संसारमें प्राणी-मात्रको प्रतिक्षण समूल दुःखनिर्मूलपूर्वक परमोत्कृष्टाप्रतिहत सुखसन्तानविषयिणी लिप्सा तथा एकान्तात्यन्त समूल दुःखविषयिणी जिहासा सामान्यरूपेण स्वान्तमें सर्वदा एकरस बनी रहती है; परन्तु यावत् प्राणी हेय हेयहेतु तथा हान हानो-पायको सम्यक्रूपसे न जानते हुए संसारचक्रमें प्राप्त होय सुखके बदले विपरीत अनेकविधि जन्ममरणादि दुःखहीको अनुभव करते हैं. वर्तमान प्रचलित संसार-चक्रमें प्रायः सामान्यरूपेण यों देखनेमें आता है कि—प्रादुर्भूत हुआ प्राणीमात्र प्रथम अबुद्धावस्थामें अपने मातापितृद्वारा या किसी दूसरे सजाति विजातिसम्ब-न्धिद्वारा पालनपोषणादि सहकारिताको पायकर समयानुसार स्वयं सुबोध हुआ विशेषरूपसे निरवच्छिन्न सुखसम्पादनमें प्रयत्नशील होता है; उसमें भी सामान्य-रूपसे इन प्राणियोंके दो भेद देखनेमें आते हैं. एक तो ऐसा प्राणीदल देखनेमें आता है कि, जिसमें विचारशक्तिका बहुतही ह्रास प्रतीत होता है; जैसे कि, पशु पक्षि कृमि दंशादि हैं. ऐसा प्राणीदल अहोरात्र केवल कार्य पालन पोषणादिमें प्रयत्नशील हुआ इसीको परम पुरुषार्थ तथा सुखसीमा मानकर अपनी आयुको व्यतीत करता हुआ स्वस्वान्तमें परम संतुष्ट होता है; और दूसरा विचारशील प्राणी-वर्ग देवमनुष्यादि हैं. इस प्राणिवर्गको जब अनेकविध भोगोंसे शरीर पालन पोषण कर कदाचित् दैवात् अवकाश मिलता है तो समय समय पर ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं कि मैं कौन हूं ? कैसा हूं ? कहांसे आया और कहां जाऊंगा ? इत्यादि एवं यह संसार क्या है ? कैसा है किसका है ? इत्यादि । एवं मेरा तथा इस संसारका कोई अधिपति है या नहीं ? यदि है तो कैसा है ? कौन है ? कहां है ? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्पयुक्त विचार उद्बुद्ध होते हैं. बस, इनही विचारोंको दार्शनिक विचार कहते हैं. वह दार्शनिक विचार इस देशमें प्रायः अस्ति नास्ति, कोटिके भेदसे प्राचीन कालसे दोप्रकारका चला आता है. इन विचारोंपर सिद्धान्त करनेवाले महापुरुषोंको ऋषि महर्षि मुनि महामुनि इत्यादि

प्रतिष्ठित शब्दोंसे इतरलोग स्मरण करते हैं और परमोत्कट जिज्ञासावस्थामें इतर लोग उनही महर्षियोंके सिद्धान्तोंको स्वान्तारूढ कर अपनेको कृतकृत्य तथा परमपुषार्थके भागी मानते हैं. वह दार्शनिक विद्या संसारके अनादि होनेसे समय २ पर यद्यपि अनेक प्रकारसे परिणत होती चली आती है तथा समय समय पर इस विद्याके प्रचारक ऋषि महर्षिभी अनेकों होचुके हैं; तथापि वर्तमान कालमें इस भारतभूमि प्रख्यात अस्तिकोटिकी दार्शनिकविद्या षट्भेदसे विभक्त हुई विराजमान है. तथा इसके प्रचारक परमपूज्य प्रातिष्ठित इस भारतसन्तानके हितपूर्वक एकमात्र शासक महर्षि भी षट्ही हुए हैं जिनके सदुपदेशोंसे उपदिष्ट तथा अनुगृहीत हुई भारतीय सन्तान अद्यावधि महर्षि कापिल, महर्षि कणाद, महर्षि गौतम, महर्षि पतंजालि, महर्षि व्यास, तथा महर्षि जैमिनि, इन सुशोभित नामोंसे तथा अपने पवित्र हृदयके भावोंसे समय २ पर स्मरण करती है, यद्यपि चार्वाक बृहस्पति बुद्धादि विद्वान् लोग नास्तिककोटि-के दर्शनोंके प्रवर्तक भी अनेक हुए हैं तथापि इस भारतीय प्रजामें उन दर्श-नोंका सन्मान तथा प्रचार वर्तमानकालमें बहुतही न्यून दीख पड़ता है; परन्तु कपिल कणादादि महर्षियोंके मुखारविन्दनिःसृत तथा सद्विद्वद्वायुद्वारा इत-स्ततः प्राप्त सदुपदेशरूपाऽऽमोदको किसी एक हतभाग्यके सिवाय ऐसा कोई भी भारतोद्बुद्ध प्रबुद्ध मधुप न होगा जो कि सत्कार तथा परम प्रेमपूर्वक श्रवणद्वारा आघ्रात न करे. भाव यह कि--इन महर्षियोंके सदुपदेशात्मक ज्ञान-मयी पताका आसमुद्र भारतमात्रमें तो क्या बलके पारके देशोंमेंभी एकरस सत्कारपूर्वक फहराती दीख पड़ती है; कारण यह कि--इन महात्माओंने अति-संक्षिप्त सूत्रभूत शब्दोंसे जिज्ञासुलोगोंको ऐसा सारभूत तथा पक्षपातरहित सदुपदेश किया है कि, विज्ञ अधिकारी यदि सन्तोषपूर्वक श्रद्धासे संगोपांग देखे या सुने तो अवश्य उसके चित्तमें आर्षसिद्धान्तका आभास पड़ही जावे और इन छहों महर्षियोंके सूत्रोंमें यह एक भारी उत्तमता है कि, सिवाय स्वसिद्धा-न्तप्रतिपादनके परस्पर रागद्वेषसे एक दूसरेका खण्डन मण्डन या कटाक्ष वच-नोंसे परस्पर तिरस्कारका लेशभी दृष्टिगोचर नहीं होता, प्रत्युत सबसे प्रथम दर्शनकार महर्षि कपिलदेव (कि, जिनके विषयमें श्रीमद्भागवतादि महापुरा-णोंमें भगवदवतारत्वेन गणना करी है उन) के दर्शनके उपयुक्त तथा सहकारक योगसूत्र निर्माण कर महर्षि पतंजलिने पाणिनि कात्यायनकी तरह एकार्थ-प्रतिपादकत्वेन परस्पर सख्य सूचन किया है. एवं कणाद महर्षिके दर्शनके उपयुक्त तथा सहकारक सूत्रोंको निर्माण कर गौतम महर्षिनेभी परम सख्य दिखलाया है. एवं ब्रह्मसूत्रोंके सहकारक धर्मसूत्रोंको निर्माण कर जैमिनि

महर्षिनेभी अपने गुरु व्यासदेवके साथ सम्मतिही सूचन करीहै; इसीहीसे सांख्य योग दोनों केवल एकही'सांख्य'शब्दसे प्रख्यात हैं और न्याय वैशेषिक दोनों एकही 'न्याय'शब्दसे प्रख्यात हैं.तथा ब्रह्मसूत्र और धर्मसूत्र दोनों केवल एकही'मीमांसा' शब्दसे प्रख्यात हैं. भाव यह कि–यह महर्षिलोग अपने आपको एक वैदिकसिद्धान्तानुयायी समझते हुए एक दूसरेकी जहांतक बन पडे सहायताही करते थे. किन्तु स्वकीय पाण्डित्य प्रख्यापनार्थ स्वेतरसिद्धांतको दूषित कदापि नहीं करतेथे. कपिल महर्षिने तत्त्वप्रसंख्यानको मुक्तिमार्ग माना है; उसीका सहकारी चित्तशोधक तथा जीवन्मुक्तिका सम्पादक योगशास्त्र है. इसी भावसे "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" ऐसा भगवान्नेभी कहा है. एवं पदार्थतत्त्वज्ञानको कणादमहर्षिने मुक्तिमार्ग माना है; उसीके उपयोगी वादिविजयाद्यर्थ निग्रहस्थान हेत्वाभासादिका प्रदर्शक न्यायशास्त्र है. एवं ब्रह्मज्ञानको मुक्तिमार्ग वेदव्यासने माना है उसीका उपयोगी अन्तःकरणशुद्धिद्वारा जैमिनिमहर्षिका धर्ममीमांसाशास्त्र है. एवं मूलसूत्रकारोंमें परस्पर विरोधका लेशभी नहीं है. यद्यपि कहीं २ मूलसूत्रमें नास्तिकमत खण्डनका आभास दीखपड़ता है. तथापि हमारा इस कथनमें तात्पर्य है कि–वैदिक मतावलम्बी इन छहोंका किसी अंशमेंभी विरोध नहीं है. एवं शंकरस्वामीके समयसे प्रथम होनेवाले इन षट्दर्शनसूत्रोंके व्याख्यानोंमेंभी कहीं परस्पर विरोध देखनेमें नहीं आता, यद्यपि सांख्यसूत्रोंपर विज्ञानभिक्षुके व्याख्यानमें आदिहीमें–

> मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा।
> आर्थं च श्रुतिवाक्यानां दर्शयँल्लोकगर्हितम् ॥ १ ॥
> कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते।
> सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते ॥ २ ॥
> परात्मजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते।
> ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं दर्शितं मया ॥ ३ ॥
> सर्वस्य जगतोऽप्यस्य नाशनार्थं कलौ युगे।
> वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ॥ ४ ॥
> मयैव कथितं देवि जगतां नाशकारणम् ॥

इत्यादि पद्मपुराणके वचनोंसे वेदांतियोंपर कटाक्षयुक्त लेख दीख पड़ता है, तथापि वह अत्यन्ताधुनिक होनेसे विज्ञश्रेणीमें कदाचित् श्रद्धेय नहीं है. अब हमसे

कोई यदि यह पूछे कि यदि सूत्रकारोंका तथा भाष्यकारोंका परस्पर विरोध नहीं तो वर्तमान कालमें तो दर्शन सम्बंधी कोई ग्रन्थ या लेख लिखाही नहीं जाता कि जिसमें सांख्यी नैयायिकोंका तथा नैयायिक विना अपने वेदान्तादिपांचोंका तथा वेदान्ती विना अपने न्यायादि पांचोंका इत्यादि परस्पर खण्डन या मण्डन न लिखा जावे; यदि यह खण्डन मण्डन सूत्रोंमें या उनके भाष्योंमें नहीं तो आया कहाँसे तथा किंमूलक है ? तो इसका उत्तर हमको जिह्वा संकुचित कर यही कहना पड़ता है कि–इस दर्शनकारोंके परस्पर विरोधका मूलभूत भगवान् भाष्यकार भगवत्पाद श्री १०८ शंकराचार्य्यही हैं. इनसे प्रथम सांख्य योगादि उत्तमसिद्धान्तोंके निराकरण करनेमें किसी आस्तिक विद्वान्‌का साहस न हुआ था किन्तु सांख्यसिद्धान्तको सहित उसके करताके अप्रमाणित ठहरानेमें तथा गौतम कणादको वैनाशिक तुल्य बतलाकर उनके सिद्धान्तोंको धूलीमें मिलानेमें एवं धर्म मीमांसाके मूलोच्छेदनमें यह प्रमथ २ भगवती भगवत्पादहीकी लेखनी प्रवृत्त हुई है. इसमें यदि कोई ऐसा कहे कि–शंकरस्वामी महाप्रमित लेखक हैं; इसलिये अत्यन्त निर्मूल लेख कदापि नहीं लिख सकते. कहींभी मूलसूत्रोंमें या उनके प्राचीन भाष्योंमें खण्डन मण्डनविषयक लेख अवश्य होगा उसीके आश्रयसे भाष्यकारकी लेखनीभी उधरही प्रवृत्त हुई तो इसमें हम यह कहते हैं कि–इसका मूल "एतेन योगाः प्रत्युक्ताः"यह द्वितीयाध्यायके प्रथम पादका तृतीय वेदान्तसूत्र है. बस, इसी एकभावी सूत्रके आधारसे प्रथमाध्यायके चारों पादोंकी जहांतक बनपड़ा कपिल महर्षिके सिद्धान्त निराकरणमें ही व्याख्या करी. अन्तमें फिरभी संतोष नहीं हुआ तो दूसरे अध्यायके आद्यमें " स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगः इति चेत्, न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ॥ १ ॥ " इस सूत्रकी व्याख्यामें फिर बिचारे कपिलको लथेड़ना आरम्भ किया और यहांतक लथेड़ा कि श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्य सर्वज्ञ कपिलदेव वासुदेवांश रूपसे अवतीर्ण और ही हुआ है और यह द्वैतवादी सांख्यशास्त्रका कर्ता कोई अवैदिक कपिल है इत्यादि सभी कुछ कहा. यद्यपि " ऋषि प्रसूतं कपिलं यः " इत्यादि श्रुतिस्मृतीतिहासप्रसिद्ध वह एकही महर्षि कपिल है जो कि देवहूति माताके गर्भसे कर्दम महर्षिके वीर्यसे हुआ है; उसीको श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धमें " अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः ॥ लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः ॥ १९ ॥ अ० २४ ॥ " इत्यादिवचनोंसे ब्रह्माने सिद्धोंका स्वामी भगवदवतार तथा सांख्यशास्त्रका कर्ता कहा है, एवं इसी ही कपिलने अपनी प्रसिद्ध सांख्यशास्त्रके अनुसारही उपदेश किया है; तथापि सांख्यशास्त्रका कर्ता अवैदिक था किन्तु श्रुतिप्रतिपाद्य कपिल दूसरा हुआ है, ऐसा कहते हुए स्वामी

को रोकनेका किसका सामर्थ्य है? आप साक्षात् शंकर हैं अत एव स्वतन्त्र होनेसे नियोग पर्य्यनुयोगानर्ह हैं जो चाहें सो लिखें, हम लोगों आस्तिकोंको बीचमें किन्तु करनेका अधिकार नहीं है किन्तु केवल राजशासनवत् इनका जो कुछ लेख होय वह हम लोगों अनुचरोंको सन्मानपूर्वक शिरोधार्य तथा मान्य है.

एवं आपने मन्वादिस्मृतियोंकों वर्णाश्रमधर्म बोधनमें सावकाश तथा कापिलशास्त्रको विना अध्यात्मविचारके निरवकाश, एवम् "अस्मत्कृते च व्याख्याने जना न विभ्रयुर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु" इत्यादि वचनोंसे कपिलादिमहर्षियोंके वचनोंमें लोगोंकी अधिक श्रद्धा तथा स्ववचनोंमें विश्वासका संदेह इत्यादि बहुत कुछ कहा परन्तु शेषमें इसकी व्यवस्था कुछ भी न करी ठीक २ अब मुझे स्मरण हुआ आपने अग्रिमभाष्यमें कापिलको द्वैतवादी होनेसे अवैदिक तथा कणाद गौतमको परमाणुवादी होनेसे वैनाशिक लिखही दिया है. गुरुका कहा सभी चेला लोग मानेहींगे फिर पृथक् व्यवस्था करनेका कौन प्रयोजन रहा ? कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि, तथा जैमिनि, ये पांचों दर्शनकार तो नानात्मवादी होनेसे अवैदिकही हैं. शेष रहे व्यासदेव सो इन्होंका भी योगसूत्रोंके भाष्यमें तो नाना चिदात्मवादही सिद्धान्त है इनको भी चाहे आप वैदिक मानें या अवैदिक. हां, इनके ब्रह्मसूत्रोंमें स्पष्टरूपसे चाहो कहीं भी नहीं मिलता परन्तु भगवत्पादनिर्मित उनके भाष्यमें एकात्मवाद अतिसमारोहसे निरूपण किया है.

अब हमको यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कापिलादि षट् महर्षि अवैदिक हैं या एक भगवत्पाद श्री १०८ शंकर स्वामींही अवैदिक हैं ? परस्पर विरुद्ध लेख है; इसलिये दोनोंमें एक कोटि अवश्य निर्बल होनी चाहिये. कौन होनी चाहिये. इसको विद्वान लोग स्वयं सोचें. मेरी अल्पबुद्धि इसपर सिद्धान्त नहीं करसकती और न मैं श्रद्धाशून्य होकर किसी अपने पूज्य पूर्वज वृद्धको न्यूनकोटीका कहनाही चाहताहूँ । परन्तु कापिलको अवैदिक कह कर किस मनुका कहा स्वामीको अपेक्षज है ? इसका पता मिलना कठिन है; क्योंकि मनुभी अनेक हो चुके हैं. यदि वैवस्वत कहें तो उन्होंने तो कुछ कहा ही नहीं. यह मनुस्मृति, तो उनके नामसे कई सहस्र वर्ष पीछे भृगुने बनाई है–इति । एवं यद्यपि प्रथमाध्यायके पंचमसूत्रसे लेकर अध्यायसमाप्तिके चारों पादोंमें तथा दूसरे अध्यायके दो सूत्रोंतक स्वामीजीने सांख्यादिशास्त्रोंका मनमाना खण्डन कर शेषमें 'एतेन योगाः प्रत्युक्ताः' इस तृतीय सूत्रपर योगका भी खण्डन कर विश्रांति करी; तथापि द्वितीयाध्यायके

द्वितीयपादके आरम्भमें भी आप यही उत्थानिका देते हैं कि–"सम्यग्दर्शनप्रपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणियानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते" इत्यादि। अब यहां यह सन्देह होता है कि–क्या व्यासप्रणीत दर्शन ही सम्यग्दर्शन हैं और सभी असम्यग् हैं? यदि ऐसा है तो उन दर्शनकारोंके विषयमें व्यासदेवने इतिहास पुराणोंमें जहां तहां परमेश्वरतुल्य प्रशंसा क्यों लिखी? जो जिसको देखकर भगवत्पादके स्वान्तमें भी ऐसा सन्देह हुआ कि "अस्मत्कृते च व्याख्याने जना न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु" इत्यादि। जिनका एकवार खण्डन हो चुका उनका फिर खण्डन करना क्या पिष्टपेषण नहीं है? इसका उत्तर स्वयं भाष्यकार यह लिखते हैं कि–पूर्व हमने श्रुत्यर्थविरोध दिखलाया है अर्थात् सांख्याचार्य्यादिकोंका किया श्रुत्यर्थ सम्यग् नहीं है, यह कहा है. और यहां उनकी युक्तियोंका प्रतिषेध किया जाता है इसलिये पिष्टपेषण नहीं है. अस्तु हमको यह भी स्वीकार है परन्तु आपकी प्रख्याति इस लोकमें "षड्दर्शनस्थापनाचार्य जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य्य" इत्यादि पवित्र विशेषणोंसे है; इसलिये आपको इनको अन्वर्थ करना उचित था. यह निवेदन श्रीचरणोंमें कुछ दोषतात्पर्यसे नहीं है किन्तु प्रार्थनारूपसे है; क्योंकि मिथ्या परदोषोद्भावन करना महाराजप्रसाद गिरानेकी तरह एक साधारण निर्बुद्धिपुरुषोंका काम है, परन्तु उसी राजभवनके यदि पुनः निर्माणकी अपेक्षा होय तो बहुतसे उत्तम शिल्पशास्त्रवेत्ताओंकी अपेक्षा होती है. इसलिये परके उसमेंभी अपने पूर्वजोंके दोषउद्भावन करनेको मैं बहुतही बुरा समझता हूं; तथापि गौतम कणादसिद्धान्तपर जो आपने मिथ्या आक्षेप किये हैं वे हमको सर्वथा असह्य हैं. यों तो यही सच है कि–निर्दोष एक परमात्मा है, जीवका निर्दोष होना दुर्घट है; परन्तु इतना कहना किसी विद्वानको अस्वीकृत न होगा कि–यदि महर्षि पाणिनि पतंजलि पदनियामकशास्त्रको निर्माण न करते तथा महर्षिगौतम कणाद पदार्थनियामक शास्त्रको निर्माण न करते तो इतर जीवोंको शास्त्रके विद्वान् बनकर बोलनाभी कठिन पड़ता. धनीका धन वर्तनेसे लोगोंको मुनीमभी धनीसा दीख पड़ता है परन्तु वस्तुतः वह धनी नहीं होता. आपने गौतम कणाद सिद्धांतके यद्यपि मुख्य २ कई एक पदार्थोंको दूषित किया है तथापि नानात्मवाद उन सबमें मुख्य है. इसलिये इसमें किंचिद् हमको भी वक्तव्य है. प्रथम नानात्मवादमें यह दोष हैं कि–जब एक आत्माके साथ मनका संयोग होता है तो उसी कालमें उसी मनका दूसरे आत्माओंके साथ संयोग भी नियमसे होगा क्योंकि आत्माओंको व्यापक होनेसे मनकी

सन्निधि सबके साथ समान है. एवं सन्निधिरूप हेतुके समान होनेसे सबका सुख दुःख समानही होना चाहिये १। नानात्मवादीको अदृष्टोंसे व्यवस्था माननीभी कठिन है, क्योंकि अदृष्टभी तो आत्ममनःसंयोगहीसे बने हैं, उनका भी यह इसी आत्माके हैं, दूसरेके नहीं; यह निर्द्धार होना कठिन है २। यदि नानात्मवादी कहें कि जिस आत्माने जैसे तात्पर्यसे जो क्रिया करी है वह उसीके अदृष्टोंकी जनक होसकती है, दूसरेके नहीं; तो यहभी सम्यग् नहीं क्योंकि तात्पर्यभी तो आत्ममनः-संयोगहीसे उत्पन्न होता है जो कि सर्वत्र तुल्यही है ३। यदि प्रदेश-कृता व्यवस्था कहो अर्थात् शरीरावच्छेदेन आत्ममनःसंयोगको रागादि तथा अदृष्ट सुखादिजनकता मानो तो यहभी ठीक नहीं; क्योंकि सभी आत्मा सभी शरीरोंमें समान विद्यमान हैं. शरीरके सम्बन्धसे कोई आत्मा प्रदेशवाला नहीं होसकता है. और शरीरकाभी सब व्यापक आत्माओंके साथ सम सम्बन्ध होनेसे 'यह अमुक आत्माका शरीर है' ऐसा निर्धार होना कठिन है ४। यदि आत्माका प्रदेश मानभी लियाजाय तो जिन दो जीवात्माओंको समान सुख दुःख होना है उनको एकही शरीरसे होजाना चाहिये, क्योंकि दोनों जीवा-त्माओंके अदृष्टका कदाचित् समान प्रदेशभी होसकता है. जैसे जिस प्रदेशमें चैत्रको जैसा सुख या दुःख अनुभव हुआ है यदि वहां उसके स्थानापन्न मैत्र नियत किया जावे तो उसको भी वैसाही सुख दुःख देखनेमें आता है; इसलिये दो जीवात्माओंको समान प्रदेशादृष्टका सम्भव होसकता है ५। एवं प्रदेशवादीको स्वर्गादि उपभोगभी नहीं होना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणादि शरीर प्रदेशेन उत्पन्न हुए अदृष्ट अतिदूर प्रदेशान्तरवर्ति स्वर्गके जनक नहीं बन सकते ६। नाना आत्मा व्यापकभी नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है ७। यदि आकाशादिकालादि दृष्टान्त कहो तो वेभी उत्पत्तिवाले होनेसे हमारे मतमें व्यापक नहीं हैं इत्यादि ८। यहां सूत्र २ अ०, ३ पादकी समाप्तिमें भाष्यकारने दोष दिये हैं; इनमें प्रथमके चार तो पूर्व पूर्व उत्तर २ से दूषित हैं और पंचममें यह वक्तव्य है कि, दो जीवात्माके या अधिकके परस्पर अदृष्टोंका या भोगका या उनके प्रदेशका समान होनाही असम्भव है; क्योंकि हमारे मतमें आत्मसमवायि अदृष्ट प्रत्यात्म असाधारण हैं और उन अदृष्टोंके भेदको अनादि होनेसे उनका किया मनके साथ आत्माका स्वस्वामिभाव लक्षण सम्बन्धभी अनादि है. एवम् आत्ममनःसंयोगके सर्वसाधारण होनेसे भी स्वस्वामिभावलक्षणसम्बन्धको सर्वथा असाधारण होनेसे पूर्वोक्त अभिसंध्यादि व्यवस्था सर्वथा उपपन्न होसकती है और वास्तवविचार करें तो मनका संयोग भी प्रत्यात्मसाधारण नहीं है; क्यों-कि आत्मसंयोगका प्रतिसंयोग भेदसे भेद है. मनका आत्मान्तरोंके साथ जो

संयोग है वह स्वस्वामिआत्माके साथ नहीं किन्तु दूसरा है इति ५। एवं तत्तद्विचित्र अनाद्यदृष्टसे प्रेरित हुए तत्तत् मन स्वस्वामि आत्माके प्रति स्वर्ग नरकादि तत्तत्प्रदेशावच्छेदेन सुखदुःखादि भोगका हेतु होसकते हैं. प्रदेशभेद होनेसे भी अदृष्ट तथा भोगका एकात्मवृत्तित्वेन परस्पर समानाधिकरण होनेसे कार्यकारणभाव निर्बाध है.

अन्यथा मनको मध्यमपरिमाण मानकर उसमें अदृष्ट सुखादिभोगके मानेवाले वेदान्तीकोभी व्यवस्था लगानी कठिन होगी; क्योंकि इसकोभी यह पूछ सकते हैं कि अन्तःकरणमें अदृष्टव्याप्यवृत्ति उत्पन्न होते हैं या अव्याप्यवृत्ति ? यदि व्याप्यवृत्ति कहो तो "शिरसि मे वेदना पादे मे सुखम्" इत्यादि प्रतीतकी अनुपपत्ति होगी; क्योंकि व्याप्यवृत्ति अदृष्ट व्याप्यवृत्ति सुखादिके जनकही होने चाहिये. एवं यदि द्वितीयपक्ष कहो तो क्रिया तथा अदृष्टकी अदृष्ट तथा भोगकी समानाधिकरणानुपपत्ति होगी—इत्यादि ६। जैसे आपके एकात्मवादमें आकाश दृष्टान्त है वैसेही हमारे नानात्मवादमेंभी आकाशादि दृष्टान्त होसकते हैं ७। यदि आकाश उत्पत्तिवाला है तो "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः"ऐसा आपभी नहीं कहसकते और"आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि वचनोंको देखकर बुद्धिविरुद्ध अर्थको श्रौत माननीभी बुद्धिमत्ता नहीं है. आकाशादि विभु हैं, अस्पर्श द्रव्य हैं तथा निरवयव हैं इसलिये उनकी उत्पत्ति माननी अयुक्त है इत्यादि ८। यद्यपि वेदान्तीके सुषुप्ति अवस्थाके तथा नैयायिकके मनःसंयोगाभावावस्थाके जीवात्मामें किञ्चिदपि विशेष नहीं तथापि दूषितकारणार्थ गौतमकणाद सिद्धान्तका अनुवाद करते हुए भाष्यकार उनके आत्माको घट कुडयादिवत् लिखते हैं. क्या जाने यह कौनसे ऋषि वचनोंका अनुवाद कर खण्डन कर रहे हैं ? गौतमकणाद सिद्धान्तमें तो कहीं आत्माको घटकुडयादिवत् कहा नहीं प्रत्युत "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव" इत्यादि श्रुतिसिद्धज्ञानादिगुणाधिकरण कहा है. पुरीततीबाह्यदेशावच्छेदेनात्ममनःसंयोगसे ज्ञानका प्रादुर्भाव होना अनुभवसिद्ध है. इस विलक्षण संयोगसे विना मुक्तिमेंभी कुछ विशेष नहीं अर्थात् सुषुप्ति एक मुक्ति अवस्थाका उदाहरणरूप है. सबीजनिर्बीज समाधि तो अन्तःकरणकी अवस्था है इसलिये मुक्तिका उदाहरण नहीं बनसकती. एवं इसके सिवाय अन्तःकरणमें या अविद्यामें आभास मानकर जीवकी सुषुप्ति या जाग्रत्की व्यवस्थाके लिये प्रतिदिन अन्तःकरणका कारणरूपेणावस्थान तथा अविद्याका वृद्धिरूपेण परिणाम माननाभी बुद्धि तथा शास्त्रविरुद्ध है. विना विशेष सामग्रीके कार्य्यकी कारणरूपेण परिणति या कारणकी कार्य्यरूपेण परिणतिमें संसारमात्रमें कोई उदाहरण नहीं है. उदाहरणरूपेण गृहीतदधिदुग्धादिपदार्थ स्वविकृत्यर्थ तिक्तादि विशेष पदार्थोंकी अपेक्षा रखते हैं इति ।

एवं संस्कृतके पूर्ण विद्वान् लोग तो यद्यपि अच्छीतरहसे इस वार्ताको जानते हैं कि–शंकरस्वामीने सांख्यादि सर्वदर्शनोंसे विरुद्ध एक अपनी ढाईपा जुदाही पकाई है तथा सुयोग्यशिष्यमण्डलीने उसकी सुगन्धि पूर्णरूपसे सर्वत्र फैलाई है तथापि आर्यभाषालेखसे उसी मतको मण्डन करतेहुए निश्चलादिविद्वानोंने जिन सरल पुरुषोंको महर्षि सिद्धान्तोंसे वंचित किया है उनके बोधका उपाय वर्तमानकालमें सर्वथा अचिन्तनीय है. शंकरमतको पुष्ट करतेहुए निश्चल कहते हैं कि–शंकरस्वामी महादेवका अवतार हैं इसमें व्यासोक्त "कलिमें वेद अर्थ बहु करि हैं । श्रीशंकर शिव तब अवतरि हैं । जैन बुद्धमतमूल उखारैं । गंगाते प्रभुमूर्ति निकारैं ।" इत्यादि पुराण वचन प्रमाण हैं १ । एवं परमपूज्य महर्षि वाल्मीकिने जिस अर्थका सविस्तर निरूपण किया है वही शंकरस्वामीभी उत्तम रीतिसे लिखते हैं २ । एवं युक्तिसेभी भेदवाद विरुद्ध है. वह युक्ति खण्डनादि ग्रन्थोंमें लिखी है; कठिन है, इसलिये यहां नहीं लिखते ३ ।"एवं मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति, द्वितीयाद्वै भयं भवति; अथ योऽन्यां देवतामुपासते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेव स देवानाम्" इत्यादि श्रुतिविरुद्ध होनेसेभी द्वैतवाद अप्रामाणिक है ४ । बस, इन चार हेतुओंसे निश्चलने शंकरमतको प्रमाणित किया है. प्रथममें यह वक्तव्य है कि विज्ञानभिक्षुने इससे विपरीतार्थ बोधक पद्मपुराणके पूर्वोक्त वचन लिखे हैं. सभी पुराणोंके कर्ता व्यासही हैं. दोनोंमें कौन सच्चे हैं ? सो आपही कहदीजिये. और आप कौनसे पुराणके गीत गाते हैं ? यदि नाम लिखते तो देखभी लेते; परन्तु आप तो श्रद्धाके उमँगमें नाम लिखाभी भूलगए. यदि आप कहें कि व्यासभी अनेक हुए हैं तो हमभी मानते हैं परन्तु आपकी आख्यायिकाका मूलकारक तो कोई शंकरस्वामीका शिष्यही व्यासदेव होगा ऐसा जानिये १ । और जिस वासिष्ठके पोथेको आप महर्षिवाल्मीकिकृत मानते हैं वह तो शंकरस्वामीकीही शिष्यमण्डलीमेंसे किसी शंकरानन्दादि विद्वान्का लेख है. आपसोचें तो सही कि यदि यह ग्रन्थ शंकरस्वामीसे प्रथम होता जैसे मनु गीता महाभारत विष्णुपुराणादिके वचन जगह २ पर भाष्यमें आते हैं. कोई इसका वचन या प्रकरणभी न आता ? परन्तु शारीरक मात्रमें योगवासिष्ठका नाम तक नहीं है; इसलिये यह ग्रन्थ सर्वथा आधुनिक है २ । खण्डन मण्डनकी युक्ति तो खड्गकी तरह वादी प्रतिवादी दोनोंको समान है वह जिसके पास दृढ होगी उसीका विजय होगा. केवल अद्वैत वादको युक्तिप्रधान मानना भ्रम है ३ । एवं श्रुतिविचारमें जैसे छान्दोग्यमें "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि वचनोंसे चार्वाक सिद्धान्तका निरास किया है वैसेही "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति"इत्यादि कठ या वाजसनेयि वचनोंसे बौद्धोंका क्षणिक विज्ञानवाद निरास किया है अर्थात् जो इस

आत्मामें क्षणिक विज्ञानरूपेण नानापना देखता है वह वारंवार यमयातना सहनपूर्वक जन्ममरणको प्राप्त होता है. एवं "द्वितीयाद्वै" इत्यादि श्रुति अनुवादक अर्थवाद-रूपा है, भय दूसरेहीसे हुआ करता है, इसमें किसीको सन्देह ही नहीं; परन्तु दूसरे विद्यमानकोभी भयकी भीतिसे उसको न मानना मूर्खता है, कपोत नेत्र निमिलनसे बिडालाभाव वस्तुतो नहीं होता एवम् "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" इत्यादि वाजसनेयि वचनकाभी अभेद भावनासे उपासनामें तात्पर्य्य है, भाव यह कि भेदभावना रखनेसे यदि लोकमें मित्रका चित्तभी स्वच्छ नहीं रहता तो सर्वज्ञ देवतासे भेदभावना रखनेसे उपासनाका क्या फल होगा ; इसीलिये भेद भावनासे उपासना करनेवालेको अर्थात् तन मन धनसे विना देवताके नामसे केवल घण्टे बजानेवाले मूर्ख भक्तको श्रुति देवोंका पशु कहती है अन्यथा एक आत्मामें उपास्य उपासकभावादि विरुद्ध धर्मोंका समावेशभी तो सर्वथा बुद्धिविरुद्ध कल्पना है–इत्यादि

एवं स्वदेशियोंका परस्पर खण्डन मंडनावलोकनसे विदेशी विद्वानोंकोभी महर्षियोंके सिद्धान्त पर आक्षेप करनेका अवसर मिला है, यह कहते हैं कि 'गुरुणी द्वे' यह तथा 'द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः' यह इत्यादि कई एक स्थलोंमें महर्षि कणादका सिद्धान्त अज्ञात पूर्वक है क्योंकि हम (Baroscope,) वायु मापक यन्त्रसे वायुमें बोझेका अनुभव करा सक्ते हैं. एवं हिम करकादिजलमें भी नैमित्तिक द्रवण अनुभव सिद्ध है इत्यादि २ इसका उत्तर हम संक्षेपसे यह कहते हैं कि यह विदेशियोंके आक्षेप महर्षि सिद्धान्त मर्माज्ञात पूर्वक हैं; क्योंकि कणाद महर्षिने पदार्थोंके स्वरूप प्रायः दो तरहके निरूपण किये हैं एक तात्त्विक स्वरूप जैसे कि "शीतस्पर्शवत्य आपः, उष्णस्पर्शवत्तेजः रूपरहितस्पर्शवान् वायुः" इत्यादि दूसरा साधर्म्य वैधर्म्य निरूपणप्रसङ्गमें पदार्थोंका लोकस्थितिके अनुरोधसे स्वरूप कहा है. जैसे " गुरुणी द्वे, द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः" इत्यादि । इनके तात्त्विक स्वरूपमें तो कदापि किसीको विपरीत ज्ञान नहीं होता किन्तु जब जहां जिसको होता है महर्षि सिद्धान्तके अनुकूलही होता है; परन्तु लोकस्थित्यनुरोधसे कहे पदार्थोंमें अल्पश्रुत पुरुषोंको प्रायः विपरीत ज्ञान होही जाता है. जैसे वायुमें गुरुत्वका जलमें नैमित्तिक द्रवणका इत्यादि, महर्षिने वायुमें गुरुत्व नहीं माना परन्तु गुरुत्वकी भ्रान्तिकारक वेगाख्य संस्कार वायुमें माना है जैसे वेगापहत हुई वस्तुमें अल्पगुरुत्ववालोंमेंभी अधिक गुरुत्वका भान होता है वैसेही वस्तुतः गुरुत्वरहित वायुमेंभी गुरुत्वका स्थल विशेषमें भ्रमसे भान होता है यदि वायुमें गुरुत्व होय तो यंत्र

के सिवाय पात्रनिरुद्ध वायुकाभी पात्रसे पृथक् गुरुत्व प्रतीत होना चाहियें; परन्तु होता तो नहीं यदि कुछभी होता है तो बलात् प्रविष्ट हुए पार्थिव परमाणुओंहीका होता है; वायुका नहीं. एवं जलकी लोकस्थितिभी सरित् समुद्र वापी कूप तडागादि संसार मात्रमें स्वाभाविक द्रवणयुक्त ही प्रतीत होती है किंतु जलमें द्रवण प्रतिरोध नैमित्तिक है अर्थात् जलमें द्रवण प्रतिरोधनार्थ जहां तहां विलक्षण वायुसम्पर्क अपेक्षित है इति। कणादादि महर्षि कोई लौकिक विद्याके आचार्य्य न थे किंन्तु आध्यात्मिक विद्याके प्रचारक थे परन्तु उस महाविद्याके. प्रतियोगित्वेन उपयोगि लौकिक पदार्थोंकाभी जिन २ का निरूपण कियाहै वह सब योगबलसे अनायास किया है याते सर्वथा भ्रांतिरहित है. उसी कणाद गौतम महाशास्त्रके संक्षिप्तसारभूत अर्थका अवबोधक यह 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' नामक ग्रन्थ यद्यपि स्वयं महाप्रख्यात तथा परीक्षक मण्डलीमें देश देशान्तरोंमें सर्वत्र सत्कृतिपूर्वक पठन पाठनमें प्रत्यहं प्रचरित है तथापि ततोऽप्यधिक प्रचारार्थ तथा वंगदेशीय विद्वद्वर्य्य श्रीविश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्यके वास्तविक हार्दको अत्यल्पश्रुत विद्यार्थीके सरल स्वान्तमें अनायास समारोहार्थ विद्यानुरागी कतिपय सुचरित्र पवित्र मित्रमण्डलके अभ्यर्थनसे मैंने इसको प्रति पंक्ति सरलदेशभाषामें भूषित कर समर्थन किया है; अतएव मुझे यह पूर्ण आशा है कि श्रीकाशीजीके तथा देश देशान्तरोंके सुप्रतिष्ठित विद्वान् गुरुलोग स्वकीय शिष्य प्रशिष्य श्रेणीमें शीघ्रबोधार्थ इसका प्रेमपूर्वक प्रचारकर मेरे यथाबुद्धि श्रमको सफल करते हुए मुझे अवश्य अनुगृहीत करेंगे—इति शम्।

निवेदक काशीनिवासी—

निर्मल पं० स्वामी गोविन्दसिंह साधु.

विशेषवक्तव्य।

इस न्याय सिद्धान्त मुक्तावली प्रकाशका प्रकाश यद्यपि मेरी लेखनीद्वारा एकधा तो पूर्ण रूपसे श्रीकाशीजीमें होही चुकाया तथापि मेरी जो यह अभिलाषा थी-कि यह शत सहस्रधा होकर देशदेशान्तरके अनेक विद्वानोंकी दृष्टिगोचरहोकर पवित्र हो तथा विद्याभिलाषी विद्यार्थिगणका स्वल्प व्ययहीसे मिलहो उसका पूरा होना मेरी शक्तिसे अतिक्रान्त था तदर्थ मैंने जगत्प्रख्यात दीनपालक व्यापारमि-षेणार्य्य-सद्ग्रंथजीर्णोद्धारक महापरोपकारी दानसन्मानादि अनेक सद्गुणसम्पन्न वैश्य-कुलकलापकुमुदकलानिधि मुम्बईके सुप्रतिष्ठित सेठ श्रीमान् क्षेमराज श्रीकृष्णदासको सूचना दी तो उन्होंने प्रेमपूर्वक सर्वप्रियधनके व्ययसे तथा मुद्रणयन्त्र रूप अपूर्वमहा-शक्तिसे मेरे शुभसंकल्पको सफल किया; इसालिये मैं इस सद्गुणसम्पन्न सद्गृहस्थ-को अनेकशः धन्यवाद देताहूँ.तथा परमेश्वरसे प्रतिक्षण प्रार्थी हूं कि यह दीर्घकालतक सुखपूर्वक आरब्धकार्य्यमें प्रतिदिन उन्नति करताहुआ लोकोपकारपूर्वक यशोभागी बनारहें-इति शम् ।

निवेदक काशीनिवासी-

निर्मल पं०स्वामी गोविन्दसिंह साधु.

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्या विषयानुक्रमः ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यनुक्रमः।

इति न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्या अनुक्रमणिका समाप्ता ।

अथ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।

भाषाटीकासमेता।

अथ प्रत्यक्षपरिच्छेदः १.

प्रज्वालितोऽज्ञानतमोऽपनोदी येन प्रदीपो मधुरैर्वचोभिः॥
सन्मानसे मानसराजहंसं वन्दे गुरुं नानकनामकं तम्॥ १॥

मूढस्तु मूढ एवास्ति तत्त्वज्ञस्त्वास्ति तत्त्ववित्॥
तस्मादर्द्धप्रबुद्धा ये ते सन्त्यत्राधिकारिणः॥ २॥

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः॥
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः॥ १॥

भाषा–चूडामणिरूप किया है चन्द्र जिनने, तथा कंकणरूप किया है वासुकि सर्प जिनने ऐसे जो स्वाभाविक नृत्यमें निपुण महादेव हैं वे हम सबके कल्याणके लिये होवें॥ १॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरंतनोक्तिभिः॥
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः॥ २॥

भाषा–मैं अपने राजीव नामक शिष्य पर कृपा करता हुआ, प्राचीन आचार्योंके अतिसंक्षिप्त, सिद्धान्तानुकूल, अपनी बनाई कारिकावलीको अनायासही स्फुट करता हूं॥ २॥

सद्द्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताऽभावप्रकर्षोज्ज्वला॥
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम्॥ ३॥

भाषा–पृथिवी जलादि नव द्रव्योंके सहित रूपरसादि चौवीस गुणोंसे गुंथित, उत्क्षेपणादि पंचविध कर्मकी बोधक, जातिरूप सामान्य तथा विशेष और समवा-

यसे मिश्रित, प्रागभावादि अनेकविध अभावोंकी प्रकाशक ऐसे यह बुद्धिमें विराजमान शुभयुक्तियुक्त न्यायसिद्धान्तरूप मोतियोंकी माला विश्वनाथ पण्डितने विष्णु परमात्माके वक्षःस्थलमें अर्पण करी हुई, पण्डित लोगोंके चित्तोंको बहुत काल पर्य्यन्त आनन्द विस्तीर्ण करे इस पूर्व कथनसे द्रव्यादि पदार्थवत्त्वेन रूपेण मुक्तावलीनिरूपित सादृश्य ग्रन्थमें कहा अर्थात् जैसे मोतियोंकी माला द्रव्यसाध्या है तथा गुणसे (सूत्र) से गुन्थिता है एवं पुण्यवान् पुरुषोंके पूर्वकृत सत्कर्मोंकी बोधिका है, और मोतियोंकी प्राचीन जातियोंसे तथा उनमें होनेवाले महत्त्व निर्मलत्व आदि धर्मोंसे निरंतर सम्बन्धवाली है तथा तेजोअभावमें अर्थात् अन्धकारमें प्रकर्षरूपसे उजाला करती है । वैसेही यह मेरा मुक्तावलीरूप ग्रन्थ भी मोतियोंकी मालाकी तरह पूर्ण गुण रखता है ॥ ३ ॥

विघ्नविघाताय कृतं मंगलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति । नूतनेति ।

भाषा-ग्रन्थ लिखनेमें जो विघ्न, उनके विनाशके लिये किये मङ्गलको शिष्य लोगोंकी शिक्षाके अर्थ (अर्थात् मेरी तरह मेरी शिष्यपरंपराभी कार्य्यमात्रके आद्यमें कृष्णपरमात्माका स्मरण करे) ग्रन्थकार ग्रन्थके आदिमें लिखता है नूतनेति ।

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥१॥

भाषा-नवीन मेघके सदृश कान्तिवाले, तथा गोपोंकी नव युवतियोंके वस्त्र चुराने वाले, संसाररूप वृक्षके कारणभूत-जगत् प्रसिद्ध श्रीकृष्ण देवको नमस्कार है ॥ १ ॥

---

१ विघाताय । यहां वि×घात=दोपद हैं. प्रथमका नाम उपसर्ग है और द्वितीयका नाम प्रातिपदिक है, उनमें द्वितीयपदको तो स्वार्थवाचकत्व सर्वतंत्रसिद्धान्त सिद्ध है परन्तु उपसर्गपदको कई आचार्य्य वाचकत्व मानते हैं, और कई पदान्तरयोगसे द्योतकत्व मानते हैं प्रकृतमें द्योतकत्ववादीके मतमें तो यद्यपि दोष नहीं, परन्तु वाचकत्ववादीके मतमें (उत्पत्तिवाली वस्तुका अभाव) 'घात' पदहीका अर्थ होनेसे 'वि' पद अनर्थक प्रतीत होता है, तथापि आचार्य्योंका यह संकेत है कि-जहां विशिष्ट वाचक पदके समीप विशेषणवाचक पदान्तर होय वहां विशिष्ट वाचक पदको विशेष्यमात्र वाचकत्व होता है इससे प्रकृतमें यह सिद्ध हुआ कि-केवल 'घात पदका' अर्थ शुद्ध अभावमात्र है, और 'वि' विशेषणके मिलानेमें " उत्पत्तिवालेका अभाव" यह अर्थ हुआ. एवं दोनों मतमें कुछ दोष नहीं.

ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं,विनापि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेत् न ।

भाषा-(शंका) विघ्नध्वंसके प्रति वा समाप्तिके प्रति मंगलको कारणता नहीं है, क्योंकि मंगलसे विनाभी नास्तिकादिकोंके ग्रन्थोंकी निर्विघ्न समाप्ति देखी जाती है.

अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव हि फलं कल्प्यते । इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत् कल्प्यते। यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्न-

(१) यहां " मङ्गलाचरणमयुक्तं निष्फलत्वात्" इस अनुमानमें यदि कोई निष्फलत्व-रूप हेतुको स्वरूपासिद्ध कहे तो " मङ्गलं निष्फलं फलविशेषशून्यत्वात्" इस प्रयोगसे उसका वारण करनेसे प्रकृत अर्थकी सिद्धि हो सकती है. इसी तात्पर्यसे ' ननु ' इत्यादि ग्रन्थ कहने वाले वादीकी शंकाभी है ।

(२) " मङ्गलं विघ्नध्वंसं प्रति तथा समाप्तिं प्रति कारणत्वाभाववत् कार्य्याधिकरण-वृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् घटं प्रति वेमवत् " यह अनुमान व्यतिरेक व्यभिचारका साधक है ।

(३) 'एवं मंगलं सफलं अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात्" यह अनुमान मङ्गलकी सफलताका साधक है ।

(४) " मङ्गलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलत्वे सति सफलत्वात् " यह अनुमान पूर्वोक्त व्यतिरेकव्यभिचारका वारक है. "कारणसत्त्वे कार्य्यसत्त्वमन्वयसहचारः । कारणाभावे कार्य्याभावः व्यतिरेकसहचारः एवं कारणसत्त्वे कार्य्याभावोऽन्वयव्यभिचारः । कारणाभावें कार्य्यसत्त्वं व्यतिरेकव्यभिचारः " ' विनापि मङ्गलं ' इत्यादि ग्रन्थसे पूर्वपक्षीने मङ्गलसमाप्तिके कार्य्य कारणभावका व्यतिरेकव्यभिचारही दिखलाया है, किन्तु अन्वयव्यभिचारका प्रदर्शन नहीं किया , परन्तु सिद्धान्तीने "यत्र च सत्यपि मङ्गले " इत्यादि ग्रन्थसे अन्वय-व्यभिचारका वारण किया है । इसलिये पूर्वपक्षमें अन्वयव्यभिचारके स्थल 'कादम्बरी' आदि आस्तिक ग्रन्थ जानने चाहियें ।

(५) "नास्तिकग्रन्थः स्वाश्रयपुरुषप्रयत्नजन्यत्वसम्बन्धेन मङ्गलवान् । स्वप्रतियोगिचरम-वर्णघटितत्वसम्बन्धेन समाप्तिमत्वात् भारतादिवत् " यहां प्रथम ' स्व ' पदसे मङ्गलका ग्रहण है और द्वितीयसे समाप्तिका ग्रहण है. इस अनुमानसे जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना हो सकती है ।

प्राचुर्य्यं वा बोध्यम् । प्रचुरस्यैव चास्य बलवत्तरविघ्ननिराकरणे कारणत्वम् । विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः ॥

भाषा-(समाधान) अनिन्दित जो शिष्ट पुरुषोंका प्रयत्न उस प्रयत्नका मंगलको विषयीभूत होनेसे मंगलकी सफलताका अनुमान होता है एवं (तत्र) मंगलमें विशेषरूपसे फलकी जिज्ञासा हुई तो दृष्ट फलका सम्भव होय तो अदृष्टकी कल्पना करनी अयोग्य है प्रकृतमें "आरब्धं कर्म्म मे निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्" इस कामनासे प्रवृत्त पुरुषकी कामना विषयरूपसे उपस्थित होनेसे हम मंगलका फल ग्रन्थकी समाप्तिरूपही कल्पना करते हैं (इत्थञ्च) इसरीतिसे मङ्गल समाप्तिरूप फलवाला हुआ तो जिस नास्तिकादिके ग्रन्थके आद्यमें मङ्गल न देखनेमें आवे वहांभी उस ग्रन्थकर्त्ताके पूर्व जन्म जन्मान्तरके किये मङ्गलकी कल्पना अर्थात् अनुमान कर लेना होता है और जिस (कादम्बरी) ग्रन्थविशेषकी मङ्गल होनेमेंभी समाप्ति नहीं हुई है वहां कोई बलिष्ठ विघ्न किंवा विघ्नोंका समुदाय जांनना चाहिये बलिष्ठविघ्नविशेष अथवा विघ्नोंके समुदायके विनाशार्थ, बलिष्ठ मङ्गल समुदायकोही कारणता है और प्राचीन आचार्य्य लोग तो विघ्नध्वंसको मङ्गलका व्यापार कहते हैं।

नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलम् । समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभा(१)दिकारणकलापात् । नचैवं स्वतःसिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः विघ्नशङ्कया तदाचरणात् तथैव शिष्टाचारात् । नच तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकशिष्टाचारानुमितवेदाप्रामाण्यापत्ति(२)रिति वाच्यम्, सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात्(३) । अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि

---

(१) 'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा ॥ प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥' इस वचनसे विलक्षण बुद्धिका नाम प्रतिभा है ।

(२) यहां फलसाधनांशमें भ्रांतिरहितका नाम शिष्ट है, उन शिष्टोंके आचारसे अर्थात् प्रबलसे अनुमित " समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् " इत्यादि वेदवचन उसको अप्रमाण्यापत्ति होगी इस वचनके अनुमापक अनुमानका आकार " मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिका विगीतशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत् " इत्यादि है ।

(३) एवं स्वतःसिद्ध विघ्नविरहवाले पुरुषमें विघ्नात्मक प्रतियोगिरूप कारणके न होनेसे विघ्नध्वंसरूप कार्य्यके अनुदयकी उपपत्ति हुई तो मङ्गलमें कारणताभी अबाधित रहीं और कारणताबोधक वेदकोभी अप्रमाणता न हुई ।

न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम् । मङ्गलं च विघ्नध्वंसविशेषे कारणम् । विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादिः, कचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं, प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात् । इत्थं च नास्तिकादिकृतग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंसः स्वतःसिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्तीति न व्यभिचार इत्याहुः ॥

भाषा—और चिन्तामणिकार गांगेशोपाध्यायादि नवीन आचार्य्योंका यह मत है कि—मङ्गलका विघ्नध्वंसही फल है. ग्रन्थसमाप्ति तो बुद्धिप्रतिभाती (स्फूर्त्याख्यसंस्कार) कारणसमुदायसे होती है. शंका—जो पुरुष अपने कार्य्य करनेमें स्वतःसिद्ध विघ्नोंके विरहवाला है उसके किये मङ्गलको निष्फलता होगी ? समा० यह वार्ता हमको इष्ट है; क्योंकि विघ्नोंकी शंकासे उस धार्मिक पुरुषने मंगल किया है और शिष्ट पुरुषोंका आचरणभी ऐसाही है. शंका—यदि मङ्गल निष्फल होगा तो उसके बोधक शिष्टाचारानुमित वेदको अप्रमाणता होगी? समा०—विघ्नोंकी विद्यमानावस्थामेंही विघ्नोंके नाशका बोधक वेद है अन्यथा नहीं। इसीसे पाप भ्रमसे किया हुआ प्रायश्चित्त निष्फलभी है परन्तु उसके बोधक वेदको अप्रमाणता नहीं है जैसे—विघ्नध्वंस विशेषमें मङ्गल कारण है, वैसेही विघ्नध्वंस विशेषमें (विनायक) गणेशस्तुतिपाठादिभी कारण हैं और किसी स्थलमें विघ्नोंका अत्यन्ताभावही समाप्तिका साधन है. तात्पर्य्य यह, कि सर्वत्र प्रतिबन्धक संसर्गाभावकोही कार्यजनकता है. इस रीतिसे नास्तिकादिकृत ग्रन्थोंमें पूर्वजन्मकृत मङ्गलजन्य पापनाश, अथवा स्वतःसिद्ध विघ्नोंका अत्यन्ताभाव समझना चाहिये.एवं व्यतिरेक व्यभिचार नहीं है । ' आहुः ' यह क्रियापद ' नव्याः ' इस कर्तृ पदसे अन्वित है ।

संसारमहीरुहस्य बीजाय इति । संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय निमित्तकारणायेत्यर्थः । एतेन ईश्वरे प्रमाणं दर्शितं भवति । तथाहि । यथा[1] घटादिकार्य्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि । न च[2] तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवति ।

---

१ " क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्य्यत्वात् घटादिवत् " यह ईश्वरसाधक सिद्धान्तीका प्रयोग है ।

२ भूमण्डलकी रचना तथा अंकुरादिकी उत्पत्ति, जीवप्रयत्नसाध्य कदापि नहीं है.

इत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः । नच शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात् । अस्मं तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्य्यकारणभाव एवानुकूलस्तर्कः । "द्यावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेयाः ॥ १ ॥

भाषा–संसाररूप जो महीरुह (वृक्ष) उसका बीज अर्थात् निमित्त कारणभूत । इस पूर्व कथनसे ईश्वरमें प्रमाण भी प्रदर्शन किया है । तथाहि । जैसे घटादि कार्य्य कुलालादिकर्तासे जन्य हैं, वैसेही पृथिवी अंकुरादि कार्य्यभी कर्तासे ही जन्य हैं. पृथिवी अंकुरादिका कर्ता कोई अस्मदादि जीव तो बनही नहीं सकता, इसलिये तत्कर्तृत्वेन ईश्वरकी सिद्धि हो सकती है. शंका–कर्तासे अजन्यत्वका साधक जो शरीराजन्यत्वरूप हेतु, उससे 'क्षित्यंकुरादि' अनुमान सत्प्रतिपक्ष होगा. समाधान–यह कथन सम्यक् नहीं क्योंकि शरीराजन्यत्व रूप हेतुमें अनुकूलतर्कका अभाव है और सिद्धान्तानुमानमें तो कर्तृत्वेन कार्यत्वेन रूपेण जो परस्पर कार्य्यकारणभाव, वही अनुकूल तर्क है. एवं अनुमानसे ईश्वर सिद्ध हुआ तो "आकाश तथा पृथ्वीका प्रादुर्भावकारक एक देव परमात्मा सदा विराजमान है,वह विश्वका कर्ता है तथा संसारका पालक है" इत्यादि अर्थ बोधक वेदवाक्य भी ईश्वरसद्भावमें प्रमाण हो सकते हैं ॥ १ ॥

---

१ "क्षित्यंकुरादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वात् । ध्वंसविशेषवत्". यह ईश्वर निराकारकवादीका प्रयोग है, इससे सिद्धान्तीका प्रयोग सत्प्रतिपक्ष है.

२ "अप्रयोजकत्वात् । व्यभिचारशंकोत्थानेऽनुकूलतर्काभावादित्यर्थः" भाव यह है कि–वादीके प्रयोगमें यदि "शरीराजन्यत्वमस्तु कर्त्रजन्यत्वं मास्तु" इत्याकारक व्यभिचार शंकाका उत्थान होय तो उसका वारक अनुकूल तर्क नहीं मिलता, क्योंकि तर्कका स्वरूप प्रायः कार्य्यकारणभावभंगप्रसंगरूप होता है, सो प्रकृतमें वादीने "यदि कर्त्रजन्यत्वं न स्यात् तर्हि शरीराजन्यत्वमपि न स्यात्" यही कहना होगा, परन्तु इससेभी वादीके प्रयोगमें व्यभिचारशंका निवृत्त नहीं होती क्योंकि कर्त्रजन्यत्वका तथा शरीराजन्यत्वका परस्पर कार्य्यकारणभाव यदि प्रथम कहीं प्रसिद्ध होय तो उसका "न स्यात् न स्यात्" कहके भंगप्रसंग दियाजाय सो तो कहीं प्रसिद्ध हैही नहीं इसलिये वादीका प्रयोग अप्रयोजक है.

३ और मुझ सिद्धान्तीके प्रयोगमें तो व्यभिचार शंकाका निवर्तक "यदि कर्तृजन्यत्वं न स्यात् तर्हि कार्य्यत्वमेव न स्यात्" इत्याकारक कार्य्यकारणभाव भंगप्रसंगरूप अनुकूलतर्क मिल सकता है क्योंकि कर्तृजन्यत्वका तथा कार्य्यत्वका परस्पर कार्य्यकारणभाव प्रसिद्ध है एवं ईश्वरसाधक अनुमान सत्प्रतिपक्ष नहीं है.

पदार्थान् विभजते, द्रव्यं गुण इत्यादि—

भाषा–'द्रव्यं गुणः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पदार्थोंका विभाग दिखलाता है–

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ॥
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ २ ॥

भाषा–द्रव्य गुण तैसे कर्म सामान्य विशेष समवाय तैसे अभाव ये सात पदार्थ न्यायवैशेषिक सिद्धान्तमें कथन किये हैं ॥ २ ॥

सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तम् । तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः । एते च पदार्था वैशेषिकप्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यविरुद्धाः प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये । अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशंकितम् । ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात् । तथाहि । मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते । तच्छून्येन तु जन्यते । तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते । उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यते इति कल्प्यते । एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः । तद्धि न षट्सु पदार्थेष्वन्तर्भवति, सामान्येऽपि सत्त्वात् । यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतेः । नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेत् । न–

भाषा–सातवां पदार्थ 'अभाव' कहनेसेही पूर्वले षट्पदार्थोंको भावरूपता अर्थसे सिद्ध हुई, इसलिये पूर्वले षट् पदार्थोंका भावरूपसे पृथक्क स्थापन नहीं किया येही सात पदार्थ वैशेषिकशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं. तथा न्यायसिद्धान्तसेभी विरुद्ध नहीं है. इसी वार्ताको कणाद मुनिकृत सूत्रभाष्यमेंभी लिखा है इसीलिये चिन्तामणिके उपमान खण्डमें शक्ति सादृश्य आदि पदार्थोंको उक्त सात पदार्थोंसे भिन्न होनेकी प्रभाकरके मतसे शंका करी है । जैसे शंका–शक्तिसादृश्यादि अतिरिक्त पदार्थोंके होतेभी आप सातही पदार्थ कैसे कहते हैं ? तथाहि, मणि मंत्र या औषधीके समीप होनेसे अग्निसे दाह नहीं होता और मणिआदिके समीप न होनेसे अग्निसे दाह होता

है. ऐसे स्थलमें मणिमंत्रादिसे अग्निकी दाहानुकूल शक्तिका विनाश होता है, और उत्तेजक सूर्य्यकान्तमणिके समीप होनेसे किंवा चन्द्रकान्त मणिके दूर कर देनेसे अग्निमें दाहानुकूल शक्तिकी उत्पत्ति होती है, ऐसी कल्पना होसकती है, ऐसेही सादृश्यभी एक पृथक् पदार्थ है. वह सादृश्य, द्रव्यादि षट् भावपदार्थोंके अंतर्भूत नहीं है, क्योंकि जैसे गोत्वजाति नित्य है वैसेही अश्वत्वजातिभी नित्य है.इस प्रतीतिसे सादृश्यपदार्थ सामान्यमेंभी प्रतीत होता है. भाव यह है कि, द्रव्यादि षट् भावपदार्थोंमेंसे किसीका कदापि केनचिद्रूपेण सामान्यमें भान नहीं होता और सादृश्यका होता है. इस लिये पृथक् पदार्थ मानना चाहिये. ऐसेही सद्रूपसे अर्थात् भावरूपसे प्रतीत होनेसे सादृश्यको अभावके अन्तर्भूत भी नहीं कह सकते, एवं शक्ति तथा सादृश्य उक्त द्रव्यादि सप्त पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थ है.

मण्याद्यभावविशिष्टवह्न्यादेर्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वकल्पनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनानौचित्यात् । नचोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात् । सादृश्यमपि न पदार्थान्तरम्, किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् । यथा चन्द्राभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति ।

भाषा-चन्द्रकान्तमणि आदिके अभावविशिष्ट अग्निको, अथवा स्वतन्त्ररूपसे मणिआदिके अभावको दाहादिके प्रति कारण कल्पनेसे सम्यक् निर्वाह होय तो मणिआदिके समवधानासमवधानसे अनेक वार शक्तिकी उत्पत्ति तथा उसके प्रागभाव ध्वंसकी कल्पना करनी अनुचित है, शंका-उत्तेजक सूर्यकान्त मणिके सत्त्व कालमें प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणिके समीप होनेसभी अग्निसे दाह कैसे होता है ? समा०-केवल चन्द्रकान्तमणिही प्रतिबन्धक नहीं, किन्तु उत्तेजक सूर्य्यकान्तमणिके अभावविशिष्ट चन्द्रकान्तमणि दाहके प्रति प्रतिबन्धक है और उत्तेजकाभावविशिष्टचन्द्रकान्तमणिके अभावको दाहके प्रति कारणता है. ऐसेही सादृश्य भी उक्त पदार्थोंसे कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, किन्तु " तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्व " ही सादृश्य है अर्थात् ' तत् ' किसीएक वस्तुसे भिन्न पदार्थमें जो उस वस्तुकी अनेक धर्म्मवत्ता, वही उस पदार्थमें सादृश्य है. जैसे चन्द्रसे भिन्न सुन्दर मुखमें, चन्द्रगत (आह्लादकत्व) सुख विशेष जनकत्वादि धर्मही चन्द्रनिरूपित

सादृश्य है; वह सादृश्यघटक धर्म्म कहीं जातिरूप है. जैसे–'घटसदृशः पटः' और कहीं उपाधिरूप है जैसे–"यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपि" इत्यादि।

द्रव्याणि विभजते, क्षित्यबिति–

भाषा–'क्षित्यप्' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार द्रव्योंका विभाग लिखता है–

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः॥ द्रव्याणि–

एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः।

भाषा–पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन ये नव द्रव्यहैं.

ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम्; नहि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत् न।

शंका–द्रव्यत्वजातिमें क्या प्रमाण है ? यदि "द्रव्यं द्रव्यं" इस अनुगत प्रतीतिसे प्रत्यक्ष प्रमाणही कहो तो सम्यक् नहीं, क्योंकि अशास्त्री लोग घृत लाक्षादि पदार्थोंमें द्रव्य व्यवहार नहीं करते; इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे सकल द्रव्य साधारण द्रव्यत्व जातिकी सिद्धि नहीं होती।

कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति। ननु

---

(१) समवायेन कार्य्यत्वावच्छिन्नके प्रति तादात्म्येन द्रव्यको कारणता है कारणता अवश्य किञ्चिद्धर्म्मावच्छिन्ना होती है। वह धर्म्म लाघवसे जातिरूप है। अनुमानप्रमाण उसका साधक है। तथाहि। समवायसम्बन्धावच्छिन्न–कार्य्यत्वावच्छिन्न–कार्य्यनिष्ठकार्य्यता निरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता,सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् घटगतकार्य्यतानिरूपितदण्डगतकारणतावत् १। यद्वा समवायसम्बन्धावच्छिन्नसंयोगत्वावच्छिन्नसंयोगनिष्ठकार्य्यतारूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता २। अथवा समवायसम्बन्धावच्छिन्नविभागत्वावच्छिन्नविभागनिष्ठकार्य्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता ३ । इत्यादि इन पिछले द्वयअनुमानमें साध्य हेतु तथा उदाहरणका निवेश प्रथम अनुमानवत् करलेना. प्रथम अनुमानोंमें कार्य्यत्वधर्मको कार्य्यतावच्छेदक माननेमें उपस्थितिकृत गौरव है, इसलिये द्वितीय कहा. द्वितीयमेंभी नित्यसंयोगवादीके मतसे संयोगत्वावच्छिन्ना कार्य्यता अप्रसिद्ध है,इसलिये तृतीय कहा. नित्यविभागका आश्रय कोई द्रव्य नहीं है इसलिये विभागत्वावच्छिन्ना कार्य्यता अप्रसिद्ध नहीं है.

दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्। तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते, तस्य च रूपवत्त्वात्कर्म्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम् । तच्च गन्धशून्यत्वात् न पृथिवी नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम् । तत्प्रत्यक्षे चालोकानिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेत्, न, आवश्यकतेजोऽभावेनोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्म्मवत्त्वप्रतीतिरप्यालोकापसारणोपाधिकी भ्रांतिरेव । तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पना गौरवं च स्यात् । सुवर्णस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथाऽग्रे वक्ष्यते ॥

भाषा—कार्यकी समवायिकारणताकी अवच्छेदक होनेसे संयोगकी अथवा विभागकी समवायिकारणताकी अवच्छेदक होनेसे द्रव्यत्व जातिकी सिद्धि होती है. मीमांसक शंका—दशम द्रव्य अन्धकार क्यों नहीं कहा ? उसका नेत्रोंसे ग्रहण भी होसकता है. और नील रूपवाला होनेसे, तथा गमनादि क्रियावाला होनेसे उसमें द्रव्यरूपता सिद्ध है. गन्धशून्य होनेसे वह पृथिवीरूप नहीं है, नीलरूपवाला होनेसे जलादि स्वरूपभी नहीं है और उसके प्रत्यक्षमें प्रकाशकी सहायतासे विना ही नेत्र इंद्रियको कारणता है ॥ एवं दशम द्रव्य अन्धकार भी माननीय है। समाधान—उष्ण स्पर्श तथा भास्वर रूपवाला होनेसे अवश्य माननीय जो तेजःपदार्थ, उसके अवभावमेंही यदि अन्धकार व्यवहार हो सके तो और अधिक पृथक्द्रव्यकी कल्पना करनी अनुचित है और उसमें रूपवत्ता प्रतीति तो भ्रमरूप है. एवं कर्मवत्त्व प्रतीतिभी प्रकाशापसरण रूप उपाधिबलसे भ्रमरूपा है. अन्धकारको पृथक् द्रव्य माननेसे, उसके अनेक अवयव, तथा तिनके उत्पत्ति विनाश कल्पना करनेमें गौरवभी होता है. इसलिये अन्धकार पृथक् द्रव्य नहीं है और सुवर्ण जैसे तेजःपदार्थके अन्तर्भूत है, वैसे तेजोनिरूपण अवसरमें कहेंगे ॥ ३ ॥

गुणान् विभजते अथ गुणा इति—

'अथ गुणा' इत्यादि ग्रंथसे मूलकार गुणोंका विभाग दिखलाता है—

अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥
स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम्॥
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥

बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ॥
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥५॥

भाषा–रूपं रसं गन्ध स्पर्शं संख्या परिमाणं पृथक्त्वं संयोग विभाग परत्वं अपरत्व बुद्धि सुख दुःखं इच्छा द्वेषं प्रयत्नं गुरुत्वं द्रवत्वं स्नेहं संस्कारं (अदृष्ट) धर्म्म अधर्म्म और शब्द ये चतुर्विंशति गुण हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतश्च शब्देन च दर्शिताः तत्र गुणत्वादिकजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषा–शेषपद कारिकामें केवल पादपूर्तिके लिये हैं, ये चौवीस गुण कणाद मुनिने अपने सूत्रोंमें कंठसे पढे तथा 'च' शब्दसे दिखलाये हैं, अर्थात् "प्रयत्नाश्च गुणाः" ऐसे सूत्रके अन्तमें लिखा है इससे यह सिद्ध हुआ कि १७गुण कंठसे पढे हैं और ७ 'च' शब्दसे दिखलाए हैं, उन गुणोंमें गुणत्वादि जातिकी सिद्धि गुणनिरूपणावसरमें दिखलाई जायगी ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

कर्माणि विभजते, उत्क्षेपणमिति–

भाषा–'उत्क्षेपणं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कर्म्मोंका विभाग दिखलाता है–

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ॥
प्रसारणं च गमन कर्म्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

भाषा–वस्तुका ऊपरको क्षेपण करना, तैसे नीचेको क्षेपण करना, पटादि विस्तृत पदार्थोंको संकोचना, तैसे संकुचित पदार्थोंको विस्तृत करना एवं परिच्छिन्न पदार्थकी गमन क्रियाको मिलाकर यह पांचप्रकारका कर्म है ॥ ६ ॥

कर्म्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥६॥

भाषा–चलनाकार अनुगत प्रत्यय ज्ञान होनेसे कर्म्मत्व जाति प्रत्यक्ष सिद्ध है ऐसे कर्म्मत्वजातिकी व्याप्य उत्क्षेपणत्व आदि जातियांभी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ॥ ६ ॥

नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्म्माधिकतया कुतो नोक्तमत आह भ्रमणमित्यादि ।

शंका–यहां भ्रमणादि पांचकर्म्मे और भी क्यों नहीं कथन किये ? समाधान–इसी शंकाके उत्तरमें 'भ्रमणम्' इत्यादि ग्रन्थको मूलकार स्वयं लिखता है:–

भ्रमणं रेचनं स्पंदनोर्ध्वज्वलनमेव च ॥
तिर्य्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

भाषा—गोलाकार चलना, निकलना, थोड़ा २ चलना, दीपशिखादिका ऊपरको ज्वलना, सर्पादिका टेढ़ा चलना, ये सब गमनके अंतर्भूत होनेसे प्रकृतमें गमन कथनमात्रसेही लाभ हो सकते हैं ॥ ७ ॥

सामान्यं निरूपयति सामान्यमिति ॥

भाषा—'सामान्यं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार सामान्यका निरूपण करता है—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ॥
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते ॥ ८ ॥

भाषा—पर और अपर भेदसे सामान्य दो प्रकारका है। द्रव्यादि तीनमें रहनेवाली सत्ताका नाम पर सामान्य है ॥ ८ ॥

तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्, अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तमनेकेति। नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्। एकव्यक्तिवृत्तिस्तु न जातिः। तथा चोक्तम्। व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥ १ ॥ इति ॥ तत्रैकव्यक्तिकत्वादाकाशत्वं न जातिः। तुल्यव्यक्तिकत्वाद्घटत्वं कलशत्वं न जातिद्वयम्। संकीर्णत्वाद्भूतत्वं मूर्तत्वं च न जातिः अनवस्थाभयात् सामान्यत्वं न जातिः ॥

---

१ परस्परात्यन्ताभावके समानाधिकरणमें रहनेवाले धर्मद्वयका एकत्र समावेश संकर है. जैसे भूतत्वाभाववाले मनमें मूर्तत्व है और मूर्तत्वाभाववाले आकाशमें भूतत्व है इन दोनोंका एकत्र समावेश पृथ्वी आदि चतुष्टयमें है, अर्थात् पृथ्वी आदि चतुष्टयमें भूतत्व मूर्तत्व दोनों धर्म रहते हैं, इसलिये ये दोनों जातिरूप नहीं हैं.

भाषा--नित्य और अनेक व्यक्तियोंमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाला यह उस सामान्यका लक्षण है. अनेक व्यक्तियोंमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले संयोगादि गुणभी हैं. सामान्यके लक्षणकी उनमें अतिव्याप्ति होगी, उसके वारणार्थ लक्षणमें " नित्यत्वे सति" यह विशेषण कहा. संयोगादि गुण अनेक व्यक्तियोंमें समवाय संबंधसे रहते तो हैं परन्तु नित्य नहीं हैं, याते दोष नहीं. नित्य तथा समवायसंबंधसे रहनेवाले आकाशके परिमाणादिभी हैं उनसे लक्षणकी अतिव्याप्ति वारणार्थ 'अनेक' पद कहा. आकाशके परिमाणादि गुण नित्य होकर समवाय संबंधसे रहते तो हैं, परंतु अनेक व्यक्तियोंमें नहीं रहते किन्तु केवल एक आकाशमात्रमें रहते हैं, याते दोष नहीं. नित्य होकर अनेकव्यक्तियोंमें वर्तनेवाला अत्यन्ताभावभी है उससे लक्षणकी अतिव्याप्ति वारणार्थ साधारणरूपसे वर्तनेको न कहकर समवायसंबंधसे वर्तना कहा. अत्यन्ताभाव अपने अधिकरणोंमें स्वरूपसंबंधसे रहता है, समवायसे नहीं रहता,याते दोष नहीं. एकव्यक्तिमें वर्तनेवाला धर्म्म जातिरूप नहीं कहा जाता; इसी वार्ताको प्राचीनाचार्य्योंनेभी कहा है ॥ व्यक्तिका अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असंबंध ये जातिके बाधकोंका संग्रह है ॥ १ ॥ उनमें आकाशादि एक व्यक्तिमें रहनेवाला होनेसे आकाशत्वादि धर्म जातिरूप नहीं है ॥ १ ॥ दोनोंका सदृश स्वरूप होनेसे घटत्व और कलशत्व दोनों धर्म जातिरूप नहीं हैं, किन्तु शरीरकृत लाघवसे घटत्वधर्म्मही जातिरूप है ॥ २ ॥ दोनोंका संकीर्ण होनेसे भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों धर्म्म जातिरूप नहीं हैं ॥ ३ ॥ अनवस्थाके भयसे सामान्यमें सामान्यत्व धर्म जातिरूप नहीं है ॥ ४ ॥

विशेषस्य व्यावृत्तस्वभावस्य रूपहानिः स्यादतो विशेषत्वं न जातिः । समवायसम्बन्धाभावात् समवायो न जातिः । परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम् । अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्।सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वम् ।एतद्बोधनायैव द्रव्यादित्रिकवृत्तिरित्युक्तम् । तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम् ॥८॥

---

१ भाव यह कि यदि विशेषपदार्थमें विशेषत्वरूप जाति मान ली जाय तो उसीसे उसको व्यावर्तकत्व कहना होगा, क्योंकि सामान्याश्रयको सामान्यरूपसे भेदसाधकताका नियम है परन्तु विशेषपदार्थको सामान्यरूपसे भेदसाधकता बन नहीं सकती क्योंकि उनके स्वतोव्यावर्तकत्वात्मक रूपकी हानि होती है.

२ समवायको या अभावको जातिवाला माननेसे प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽन्यतरसम्बन्धसे समवायाभाव ही बाधक है अर्थात् समवायमें प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽन्यतरसम्बन्धसे समवाय नहीं रहता. इति.

भाषा--न्यायसिद्धांतमें घटपटादि यावत् पदार्थ अपने २ घटत्व पटत्वादि धर्म्मों-से परस्पर पृथक् बनेरहते हैं, परंतु विशेष पदार्थ उनसे उलटा है; अर्थात् नित्य द्रव्योंको पृथक् करता हुआ आप स्वयं पृथक् बना रहता है. यही इसका स्वरूप है. अब इससे उलटा यदि इसमें विशेषत्व धर्म्म मानलिया जाय तो इसके 'स्वतो व्यावृत्तत्व' रूप वास्तव स्वरूपकी हानि होगी, याते विशेषत्व धर्म्म जातिरूप नहीं है ॥ ५ ॥ जाति अपने अधिकरणोंमें समवायसम्बन्धसे रहती है यह पूर्व कहचुके हैं एवं इसमें समवायसम्बन्धके अभावसे समवायमें समवायत्व धर्म जातिरूप नहीं है ॥ ६ ॥ अधिक देशमें रहनेवालीका नाम परसत्ता है; और न्यून देशमें रहनेवालीका नाम अपरसत्ता है. घटत्वादि यावत् जातियोंकी अपेक्षा अधिक देशमें रहनेवाली होनेसे सत्ता पर है इसी वार्त्ताके बोधनार्थ मूलमें "द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु" अर्थात् द्रव्यादि तीनमें रहनेवाली कहा. सत्ताकी अपेक्षासे घटत्वादि यावत् जातियां अपर हैं ॥

परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥
व्यापकत्वात्परापि स्याद्व्याप्यत्वादपरापि च ॥

भाषा–परसत्तासे भिन्न जातिको अपरजाति कहते हैं और द्रव्यत्वादिक जातियां तो पर भी हैं तथा अपरभी हैं ॥ ९ ॥ जात्यन्तरकी अपेक्षया व्यापक होनेसे वही जाति पर कही जाती है तथा व्याप्य होनेसे उसीमें अपर व्यवहार होता है ।

व्यापकत्वादिति । पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद्द्रव्यत्वादेः परत्वम् । सत्ताऽपेक्षया व्याप्यत्वादल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम् । तथाच धर्मद्वयसमावेशादुभयमविरुद्धम् ।

भाषा–पृथिवीत्वादि जातियोंकी अपेक्षासे व्यापकरूपसे अधिक देशमें वर्तनेवाली होनेसे द्रव्यत्व आदि जातियोंको परत्व है, तैसे सत्ताकी अपेक्षा व्याप्यरूपसे अल्प देशमें रहनेवाली होनेसे द्रव्यत्वादि जातियोंको अपरत्व है इस रीतिसे एक व्यक्तिमें धर्म्मद्वयका समावेश परस्पर विरुद्ध नहीं है।

विशेषं निरूपयति अन्त्य इति–

भाषा–'अन्त्यः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार विशेषका निरूपण करता है–

अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्त्तितः ॥१०॥

भाषा–अन्त्य और नित्य द्रव्योंमें वर्त्तनेवालेका नाम विशेष कथन किया है १०॥

अन्तेऽवसाने वर्तते इत्यन्त्यो यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तिरिति फलितोऽर्थः। घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात् परस्परं भेदः परमाणूनां परस्परं भेदको विशेष एव। स तु स्वत एव व्यावृत्तस्तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः।

भाषा–अन्तमें अर्थात् अवसानमें जो वर्त्ते उसका नाम 'अन्त्य' है, अर्थात् जिसकी अपेक्षा दूसरा कोई विशेष नहीं है.फलितार्थ यह कि–विशेष पदार्थ प्रत्येक नित्य द्रव्यकी एक व्यक्तिमात्रमें रहता है, घटादि स्थूलकार्य्योंसे लेकर द्व्यणुकादि सूक्ष्म कार्य्योंपर्य्यन्त अपने २ कपालपरमाणु आदि अवयवोंके भेदसे परस्पर भेद है, परन्तु परमाणुओंका परस्पर भेदक विशेष पदार्थही है; वह आप स्वतः व्यावृत्तस्वरूप है, इससे उसमें विशेषान्तर कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

समवायं दर्शयति, घटादीनामिति–

भाषा–'घटादीनां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार समवायको दिखलाता है–

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्म्मणोः ॥
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥११॥

भाषा–घटादि कार्योंका अपने कारण कपालादिकोंके साथ, तथा गुणकर्मोंका द्रव्योंके साथ, एवं जातिका द्रव्य गुण कर्म्म तीनोंके साथ जो सम्बन्ध, उसका नाम समवाय कहा है ॥ ११ ॥

---

१ यहां ईश्वरकी नित्यज्ञानवत्त्वेन तथा आकाशकी शब्दसमवायिकारणत्वेन व्यावृत्तिको मानते हुये विशेष पदार्थके माननेवाले भी कईएक पण्डित लोग ईश्वरमें तथा आकाशमें विशेषपदार्थकी वृत्तिता नहीं मानते हैं, और नवीन लोग तो यह कहते हैं कि विशेषके अतिरिक्त पदार्थमाननेमें कोई प्रमाण नहीं है. जैसे–विशेष पदार्थ स्ववृत्ति धर्म्मसे विना स्वयं व्यावृत्त है वैसेही नित्य द्रव्योंकोभी मान सकते हैं एवं विशेष पदार्थके अतिरिक्त माननेका कुछ उपयोग नहीं.

अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः । समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम् ।

भाषा-अवयव अवयवीका, जाति व्यक्तिका, गुण गुणीका, क्रिया क्रियावालेका, नित्य द्रव्य विशेषका जो सम्बन्ध, उसका नाम समवाय है, समवाय नाम नित्य होनेवाले सम्बन्ध विशेषका है ।

तत्र प्रमाणं तु गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानेन संयोगादिबाधात् समवायसिद्धिः । नच स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनम् ।अर्थान्तरं वा अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धेः । नच समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसंगः तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाभावात् ।

भाषा-उसकी सिद्धिमें अनुमान प्रमाण है, जैसे 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट बुद्धि दण्डरूप विशेषण तथा पुरुषरूप विशेष्य, दोनोंको ग्रहण करती हुई, उन दोनोंके संयोगरूप सम्बन्धकोभी विषय करती है. वैसेही गुण क्रियादि विशिष्ट बुद्धिभी विशिष्ट बुद्धि होनेसे गुणक्रियादि विशेषण तथा गुणक्रियादिमान् विशेष्य इन दोनोंको विषय करती हुई इन दोनोंके सम्बन्धकोभी विषय करती है.

---

१ शंका-यद्यपि लाघवसे एक समवाय सिद्ध होनेसे प्राचीनोंके मतमें दोष नहीं तथापि समवाय नाना माननेवाले नवीनोंके मतमें उक्तानुमानसे समवायसिद्धि नहीं होती । किन्तु समवाय नाना कल्पनाकी अपेक्षा स्वयं उपस्थित स्वरूप नाना माननेही उचित है. (समा०) नव्यमतमें समवायेन पटकार्य्यके प्रति तादात्म्येन तन्तुओंको हेतुता है. पटमें रहनेवाली कार्य्यताका अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय है. शंका-समवायके स्थानमें स्वरूप सम्बन्ध मानके भी कार्य्य कारण भावकी कल्पना होसकती है (समा०) एवं जिसमें समवायेन कार्य्यकी उत्पत्ति होती है वह समवायिकारण है. यह समवायिकारणकी व्यवस्था न रहेगी. शंका-जिसमें सम्बद्ध होकर कार्य उत्पन्न होय वह समवायिकारण ऐसा कहनेसेभी निर्वाह होसकता है (समा०) ऐसे कहनेसे कपालोंमें सम्बद्ध जो घटका ध्वंस उसके प्रतिभी कपालोंको समवायिकारणता माननी होगी यह उचित नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि भावकार्य्यमें रहनेवाला जो कार्य्यतारूप धर्म्म, उसका अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय है. एवं कार्य्यतावच्छेदक संबंधविधया नव्यमतमेंभी समवायकी सिद्धि हुई.

इस अनुमानसे संयोगसम्बन्धका तो प्रकृतमें बाध है इसलिये समवायही की सिद्धि होती है; क्योंकि संयोग दो द्रव्यपदार्थोंकाही होता है, शंका–अयुत सिद्ध पदार्थोंका स्वरूप सम्बन्ध कहनेवाले मीमांसकके मतमें इस अनुमानसे सिद्ध साधन हुआ और समवायसाधनके लिये प्रवृत्त नैयायिकको अर्थान्तर हुआ, अर्थात् समवायसाधनार्थ प्रवृत्त नैयायिकको स्वरूपकी सिद्धि हुई तो अर्थान्तर हुआ; समाधान–अनेक स्वरूप सम्बन्ध कल्पना करनेमें गौरव है, इससे लाघवसे प्रकृतानुमानद्वारा एक समवायकी सिद्धि माननीही उचित है. शंका–यदि समवाय एक है तो स्पर्शसमवाय तथा रूपसमवायको एक होनेसे वायुमें रूपवत्ता बुद्धिको प्रमात्व होना चाहिये. समाधान–वायुमें रूपसमवायके होनेसे भी प्रतियोगित्व सम्बन्धसे रूपके वहां न होनेसे वायुमें रूपवत्ता प्रतीति नहीं होती ।

एवमभावस्यापि वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिद्ध्येदिति न वाच्यम्, तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिप्रसंगात्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात् । अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रतीतिर्न स्यात्, वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात्, मम तु मते घटे पाकरक्ततादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वात् न तद्वत्ताबुद्धिः । वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम् । इत्थं च तत्तत्कालीनतत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः ॥ ११ ॥

शंका–इसरीतिसे अभावका भी भूतलादिकोंमें 'वैशिष्ट्य' संज्ञक सम्बन्धान्तर अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होगा. समा०–अतिरिक्त मानना यदि आपको अंगीकार होय तो हम पूछते हैं कि–क्या वह वैशिष्ट्य नित्य है अथवा अनित्य है ? यदि नित्य कहो तो भूतलमें घट लानेके पश्चात् भी घटाभाव बुद्धि होनी

---

१ अर्थात् "घटाभाववद्भूतलम्"इत्यादि ज्ञानकालीन घटाभावविषयक बुद्धि विशिष्ट तत्तद्भूतलादिक तत्तदभावोंका स्वरूपसम्बन्ध है. भाव यह कि–तत्तत्क्षणात्मक कालभी अभावके स्वरूपमें विशेषणरूपेण भान होता है ऐसा हमको अभिमत है. एवं यद्यपि घटात्यन्ताभावस्वरूपेण भूतलादिकोंमें नित्य है इसलिये घट विद्यमान दशामेंभी "घटाभाववद्भूतलम्" इत्याकारक बुद्धि होना चाहिये ॥ तथापि "घटाभाववद्भूतलम्"इत्यादि ज्ञानकालिक तत्तत्क्षणरूप विशेषणके अभाव होनेसे घटसत्त्वकालमें घटाभावावगाहिनी प्रतीति नहीं होसकती क्योंकि उस कालमें तत्तत्क्षणरूप विशेषणके न होनेसे विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव कह सकते हैं.

चाहिये, क्योंकि घटाभाव नित्य है, यातें घटवाले भूतलमें भी घटाभाव सिद्ध है (अन्यथा) घटाभावको अनित्य मानो तो घटशून्यदेशमें भी घटाभावकी प्रतीति नहीं हुई चाहिये; क्योंकि घटाभाव सर्वत्र एक जैसा है, सो वह घटके लानेसें नाश हो चुका है और अभावका 'वैशिष्टच' संज्ञक सम्बन्ध तो घटके लानेसे भी भूतलमें विद्यमान है. शंका-समवायको एक माननेवाले तुम सिद्धान्तीके मतमें भी अग्निसंयोगसे रक्त हुए घटमें प्रथम होनेवाले श्यामरूपका समवाय तो है, वहां श्यामरूपवत्ता बुद्धि होनी चाहिये ? समाधान-मेरे मतमें तो घटकी पाकरक्तता दशामें श्यामरूपका नाश हुआ है,उसके समवायके होनेसेभी प्रतियोगित्वसम्बन्धसे उसके न होनेसे तद्वत्ता बुद्धि नहीं होती; क्योंकि प्रत्यक्षमें विषयको भी विषयत्वेन कारणता है और तुम यदि 'वैशिष्टच' को अनित्य मानो तो अनन्त वैशिष्टच कल्पनामें तुमको गौरव भी होगा. शंका-वैशिष्टचको न मानकर यदि घटाभावका भूतलादिमें स्वरूपसम्बन्ध भी माने तौ भी पूर्ववत् घटवाले भूतलमें भी घटाभावबुद्धि होनी चाहिये ? समाधान-हमारे मतमें केवल स्वरूप मात्रही सम्बन्ध नहीं है; किन्तु, घटाभाव ज्ञानकालमें जिस जिस भूतलमें घटाभाव बुद्धि है वह वह भूतलादिकही उस उस अभावका स्वरूपसम्बन्ध विशेष है, इस रीतिसे पूर्वोक्त अतिप्रसंगभी नहीं है ॥ ११ ॥

अभावं विभजते, अभावस्त्विति—

भाषा-'अभावस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार अभावका विभाग दिखलाता है—

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योऽन्याभावभेदतः ॥

भाषा-संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव भेदसे अभाव दो प्रकारका है ।

अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योऽन्याभाववत्त्वम्[1] । संसर्गेति । संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः । अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात् ।

भाषा-द्रव्यादिषट्कसे भिन्नका नाम अभाव है, यह सामान्यरूपसे अभावका लक्षण है, वह अभाव संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव भेदसे दो प्रकारका है, अन्योन्याभावको एक तरहका होनेसे उसका विभाग नहीं है ।

---

१ यह अभावका लक्षण अन्योऽन्याभावघटित है और वक्ष्यमाण अन्योन्याभावका लक्षण सामान्यरूपसे अभावघटित है. एवं यह लक्षण परस्पराश्रयरूप दोषसे दूषित हुआ, इसलिये समवायसामानाधिकरण्यान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक सत्ताभावरूप ही अभावका निर्वचन मानना उचित है.

संसर्गाभावं विभजते, प्रागभाव इति–

भाषा–'प्रागभाव'इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संसर्गाभावके विभागको दिखलाता है।

प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ १२ ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥

भाषा–प्रागभाव तैसे ध्वंस और अत्यन्ताभाव ॥ १२ ॥ एवं तीन भेदोंको प्राप्त हुआ एकही संसर्गाभाव है.

संसर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम् । अन्योऽन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम् । विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् । जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् । नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम् । यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः । तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित्[१]।

भाषा–अन्योन्याभावसे भिन्न अभावका नाम 'संसर्गाभाव' है और जिसकी तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता होय उसका नाम'अन्योन्याभाव' है; विनाश होनेवाले अभावका नाम 'प्रागभाव' है. एवं उत्पन्न होनेवाले अभावका नाम 'ध्वंस' है. अधिकरणपदार्थमें वस्तुके सदा सम्बन्धाभावका नाम 'अत्यन्ताभाव' है. जहां किसी एक भूतलदेशसे घटादि निकाल दिये और कालान्तरमें फिर वहांही स्थापन किये, वहां विशेषणरूप वर्तमान घटकालको अभावके स्वरूप सम्बन्धमें अप्रविष्ट होनेसे अत्यन्ताभावके नित्य होनेसे भी घटकालमें घटात्यन्ताभावबुद्धि नहीं होती. कई एक आचार्य्य ऐसे स्थलमें उत्पत्तिविनाशवाला चौथा अभाव मानते हैं.

अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम् । श्यामघटे रक्तो नास्तीति, रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते, नतु तदत्यन्ताभावम् । नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाऽप्य-

१ द्वितीय नाम इसका शास्त्रमें सामयिकाभाव है. समयविशेषमें होनेवालेका नाम 'सामयिकाभाव' है.

त्यन्ताभावो वर्तत इति प्राहुः । नन्वस्त्वभावानामधिकरणात्म-कत्वं लाघवादिति चेत्, न अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनामपेक्ष्यातिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात् । एवं चाधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते । एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते, अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिंद्रियाग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात् । एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमत्यन्ताभावस्येति प्रत्युक्तम्, अप्रत्यक्षत्वापत्तेः ।

भाषा-यहां प्राचीनाचार्य्योंका यह सिद्धांत है कि-ध्वंस तथा प्रागभावके अधिकरणमें अत्यन्ताभाव नहीं रहता है. 'श्यामघटमें रक्तरूप नहीं है तथा रक्तघटमें श्यामरूप नहीं है' इत्यादि प्रतीतिसे रक्तरूपके प्रागभावका तथा श्यामरूपके ध्वंसका अवगाहन होता है; किन्तु, उनके अत्यन्ताभावका अवगाहन नहीं होता, क्योंकि प्रागभावका तथा ध्वंसका अत्यन्ताभावके साथ विरोध है और नवीन तो यह कहते हैं कि-उनके परस्पर विरोधमें कोई प्रमाण नहीं. जिस कालमें ध्वंस तथा प्रागभाव रहते हैं उसी कालमें अत्यन्ताभाव भी उसी अधिकरणमें रहता है प्रभाकर, शंका-लाघवसे अभावोंको तत्तदधिकरणस्वरूपही मानना उचित है. समा०-अनेक अधिकरणस्वरूप कल्पनाकी अपेक्षा अभावोंकी अतिरिक्त कल्पनाही लघुभूता है. एवं अभावोंको अधिकरणोंसे अतिरिक्त माननेसे उनका आधाराधेयभावभी बनसक्ता है. ऐसे माननेसे तत् तत् शब्द गन्धरसादिकोंके अभावका प्रत्यक्षभी बनसकता है. (अन्यथा) अभावोंको अधिकरण स्वरूप माने तो अभावोंका साक्षात्कार नहीं होगा; क्योंकि शब्द गन्ध रसादिके अभावके अधिकरण भूतलजलादि श्रोत्रघ्राणादि इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं.अभावोंको अधिकरणस्वरूप मानें तो उनका ग्रहणभी नहीं होगा. इस वक्ष्यमाण कथनसे अत्यन्ताभावको ज्ञानविशेषस्वरूप, अथवा कालविशेषस्वरूप माननेवालोंका सिद्धान्तभी खण्डित किया, क्योंकि ऐसे माननेसे अत्यन्ताभावका प्रत्यक्ष नहीं होगा ।

---

१ शंका-अभावाधिकरणका भावको तथा अभावप्रतियोगिताक अभावको जैसे आपने अधिकरणस्वरूप मानकेभी आधाराधेय भावकी उपपत्ति करी है वैसेही प्रत्येक स्थलमें अभावको अधिकरणस्वरूप मानकर आधाराधेय भावभी मानलिया जाय तो हानि क्या है ? समा०-इसरीतिसे इस दोषके वारण कियेभी 'तत्तत्' शब्द गन्धरसादिके अप्रत्यक्ष होनेका दोष बना है इसी तात्पर्यसे मुक्तावलीकारने "एवंच" इत्यादिग्रन्थसे द्वितीय दोष लिखा है।

इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते, सप्तानामित्यादि–

भाषा–अब 'सप्तानां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पदार्थोंके समानधर्म तथा विरुद्ध धर्मोंको कहता है–

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥

भाषा–द्रव्यादि सात पदार्थोंका समानधर्म्म ज्ञेयत्वादिक कहा है ॥ १३ ॥

समानो धर्मो येषां ते सधर्माणस्तेषां भावः साधर्म्यम्, समानो धर्म इति फलितोऽर्थः। एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणस्तेषां भावो वैधर्म्यम्, विरुद्धो धर्म इति फलितोऽर्थः। ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता, सा च सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात्। एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥ १३ ॥

भाषा–जितने पदार्थ परस्पर एक धर्म्मवाले हैं, उनमें रहनेवाले धर्म्मका नाम समान धर्म्म है एवं जितने पदार्थ परस्पर विपरीतधर्म्मवाले हैं उनमें रहनेवाले धर्म्मका नाम विरुद्ध धर्म्म है. 'ज्ञेयत्व' शब्दसे ज्ञानकी विषयता[1]का ग्रहण है वह ज्ञानकी विषयता सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि ईश्वर और योगीकी ज्ञानीय विषयताको केवलान्वयी[2] माना है. एवं 'अभिधा' नाम संकेतका है. उस संकेतीय विषयताका नाम 'अभिधेयत्व' है. एवं 'प्रमा' नाम पदार्थज्ञानका है. उसकी विषयताका नाम प्रमेयत्व है. यहां आदि शब्दसे अस्तित्व कालसम्बन्धित्व आदि धर्म्मोंका ग्रहण है, द्रव्यादिषट्का समानधर्म्म भावत्व प्रसिद्ध है, इससे उसको छोड़कर पाँचोंका कहता है ॥

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ॥

भाषा–द्रव्यादि पञ्च पदार्थ भावरूप हैं, अनेक हैं तथा समवायी हैं ॥

द्रव्येति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च। यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति, तथाऽप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम्। तथाचानेकभाववृत्तिपदार्थ-

---

१ विषयमें रहनेवाले ज्ञानादिनिरूपित धर्म्मविशेषका नाम विषयता है.

२ यावत् पदार्थोंमें रहनेवाले धर्म्मोंको न्यायसिद्धान्तमें केवलान्वयी माना है.

विभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिः ।

भाषा-द्रव्य गुण कर्म्म सामान्य विशेष इन पाँचोंका समानधर्म्म अनेकत्व तथा समवायित्व है, यद्यपि अनेकता अभावमें भी है उससें इसलक्षणकी अतिव्याप्ति होगी तथापि अनेकत्वविशिष्ट भावत्व पाचोंका समान धर्म्म है, इसकाभी अनेकभाव पदार्थोंमें वर्तनेवाली जो पदार्थकी विभाजक द्रव्यत्व गुणत्वादि उपाधि तादृश उपाधिमत्त्वं ऐसा अर्थ करना एवं प्रत्येक घटादिव्यक्तिमें वा आकाशादि लक्ष्योंमें लक्षणकी अव्याप्ति नहीं है, अन्यथा अनेकत्वविशिष्टभावत्व प्रत्येक घटमें तथा आकाशादिमें नहीं है, अव्याप्ति अवश्य होगी ।

समवायित्वं समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वम्, नतु समवायवत्त्वं सामान्यादावभावात् । तथाच समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः ।

भाषा-समवायिशब्दका अर्थ समवायसम्बन्धसे सम्बन्धवाला है, किन्तु अनुयोगितासम्बन्धसे समवायवाला इतनामात्र नहीं है, क्योंकि सामान्य तथा विशेषमें समवायसम्बन्धसे कोई पदार्थ नहीं रहता, इसकाभी समवेतपदार्थमें वर्तनेवाली जो पदार्थकी विभाजकद्रव्यत्वगुणत्वादि उपाधि तादृश 'उपाधिमत्त्वं' ऐसा अर्थ करना एवं ऐसा जातिघटित विवरण करनेसे भूतलादि चतुष्टयके परमाणु तथा आकाशादि पञ्च इन नित्य द्रव्योंमें अव्याप्ति नहीं है, यहां "समवेत वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं" द्रव्यादि चारोंका समान धर्मभी जानना चाहिये ।

सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः-

भाषा-आद्यके तीन पदार्थोंका सत्तावत्त्व समान धर्म्म है ।

गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥

भाषा-एवं गुणादि षट्का निर्गुणत्व निष्क्रियत्वरूप समान धर्म्म है ॥ १४ ॥

सत्तावन्त इति । द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः ।

भाषा-द्रव्य, गुण और कर्म्म, इन तीनोंका सत्तावत्त्व समान धर्म्म है ।

गुणादिरिति । यद्यपि गुणाक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तम्,

१ सह उत्पन्नोंका कार्य्यकारणभाव संसारमें अदृष्टचर है. एवं परस्परकार्य्यकारणभावके अनुरोधसे घटादि कार्य्यद्रव्योंसे क्षणमात्र पीछे गुणक्रियादिकी उत्पत्ति मानी है.

क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तम् । तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं तदर्थः । नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा । किन्तु गुणत्वादिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाजकोपाधिः ।

भाषा—यद्यपि गुणशून्यता तथा क्रियाशून्यता प्रथमक्षणमें घटादि कार्य्योंमेंभी है वहां गुणादि लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी. एवं क्रियाशून्यता गगनादिमेंभी है. वहांभी उक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी तथापि उक्त लक्षणका गुणवत् जो द्रव्य उसमें न वर्तनेवाले जो गुणत्वादि धर्म्म 'तादृशधर्म्मवत्त्व' ऐसा विवरण करना उचित है. किंवा ' क्रियावाला जो द्रव्य उसमें न वर्तनेवाली जो पदार्थकी विभाजकगुणत्वादि उपाधि तादृश उपाधिमत्त्व ' ऐसा विवरण करना उचित है. एवं घटादिमें दोष नहीं है. क्योंकि घटत्वादि धर्म किंवा द्रव्यत्वरूप धर्म्म गुणवालेमें वा क्रियावालेमें न वर्तनेवाला नहीं है, किन्तु वर्तनेवालाही है. गुणक्रियावालेमें न वर्तनेवाले धर्म्म गुणत्व कर्म्मत्वादि हैं तादृश धर्म्मवत्ता गुणकर्म्मादिमें सिद्ध है. आकाशत्वादि धर्म्म तो पदार्थविभाजक उपाधि नहीं हैं किन्तु द्रव्यविभाजक उपाधि है. एवं उनमेंभी दोष नहीं है.

यद्वा गुणवद्वृत्तित्वे सति कर्मवद्वृत्तित्वे सति वा सत्ताव्याप्यजातिशून्यभावत्वं विवक्षितम् । गुणकर्मणोरव्याप्तिवारणाय गुणवद्वृत्ति कर्मवद्वृत्तीति वा । पुनस्तत्रैवाव्याप्तिवारणाय सत्ताव्याप्येति व्याप्तिश्च भेदगर्भा निवेशितेत्यतो न दोषः । द्रव्यगुणान्यतरत्वमादाय तत्रैवाव्याप्तिवारणाय जातीति । अभावेऽतिव्याप्तिवारणाय भावत्वमिति । गुणवद्वृत्तिः सत्ताव्याप्यजातिर्द्रव्यत्वं तच्छून्यत्वं पञ्चानामस्त्येव ॥ १४ ॥

भाषा—अथवा गुणवालेमें वर्तनेवाली तथा कर्मवालेमें वर्तनेवाली जो सत्ताकी व्याप्य ' द्रव्यत्व 'रूपा जातिः तादृशजातिशून्यभावत्व' गुणादि पाँचोंका समान धर्म है. यहां गुणमें तथा कर्म्ममें अव्याप्तिवारणार्थ गुणवालेमें तथा कर्म्मवालेमें वर्तनेवाली ऐसा कहा, केवल सत्ताके ग्रहण करनेसे पुनः गुणकर्म्ममें होनेवाली अव्याप्तिके वारणार्थ 'सत्ताव्याप्यजाति' ऐसा कहा यहां व्याप्यव्यापकभावकी व्याप्ति भेदगर्भिता विवक्षणीय है. (अन्यथा) समानाधिकरणरूप व्याप्ति माने तो 'स्व' में स्वव्याप्यत्वकेभी होनेसे सत्ताकी व्याप्यजाति सत्ताभी होगी. उस सत्तासे

शून्यगुण कर्म्मादि नहीं हैं. उनमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होगी उस अव्याप्तिके वारणार्थ भेदगर्भित व्याप्तिका निवेश करना उचित है "स्वसमानाधिकरणत्वे सति स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगित्वम्" यह उसका स्वरूप है. यहां दोनों 'स्व' पदसे व्यापकसत्ताका ग्रहण है, ऐसे द्रव्यत्वरूप व्याप्य सत्तामें द्रव्यान्तर्भावेन व्यापक सत्ताके साथ समनाधिकरणत्वभी है. और गुणान्तर्भावेन सत्तासमानाधिकरणमें जो भेद, तादृश भेदप्रतियोगित्वभी है, ऐसी व्याप्ति माननेसे पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं. सत्ताका व्याप्य द्रव्यगुणादि अन्यतरत्वस्वरूप अखण्डोपाधिरूप धर्म्मभी है उससे शून्य गुणादि नहीं हैं. लक्षणकी अव्याप्ति होगी उसके वारणार्थ 'जाति' पद कहा. अभावमें अतिव्याप्तिवारणार्थ भावत्वका निवेश किया. गुणावालेमें वर्तनेवाली सत्ताकी व्याप्य जाति (द्रव्यत्व) रूपा है. उससे शून्यत्व गुणादि पांचोंको हैं ।

सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ॥

भाषा-सामान्यादि सर्व पदार्थोंका सामान्यशून्यत्व समानधर्म्म है ।

सामान्येति । सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीनामित्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् सामान्यादि चारों पदार्थ सामान्यके अधिकरण नहीं हैं ।

पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥ १५ ॥

भाषा-पारिमाण्डल्यसे भिन्न पदार्थोंका कारणतारूप समान धर्म है ॥ १५ ॥

पारिमाण्डल्येति । पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं[1] कारणत्वं तद्भिन्नानामित्यर्थः । अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम् । तद्धि[2] स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्।तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्, महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसंगात्[3] । एवं परम-

१ परमाणु तथा द्व्यणुकके परिमाणका नाम अणुपरिमाण है.

२ " तद्धि अणुपरिमाणं हीत्यर्थः । यदि कारणं स्यात्तदा स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्" अर्थात् परमाणुका परिमाण द्व्यणुकके परिमाणका वा द्व्यणुकका परिमाण त्र्यणुकके परिमाणका असमवायि कारणत्वेन आरम्भक मानना होगा

३ शंका-अणुपरिमाणसे जन्य परिमाणको अधिकअणु होनेसेभी दोष क्या है? समाधान-त्र्यणुकका चाक्षुष ज्ञान नहीं होगा. शंका-तौ फिर द्व्यणुक त्र्यणुकके परिमाणका जनक कौन मानना चाहिये? समाधान-उसका जनक परमाणुगत संख्या है. इसी वार्ताका यथावत् स्पष्टीकरण गुणनिरूपणावसरमें होगा.

महत्परिमाणमनीन्द्रियं सामान्यं विशेषाश्च बोध्याः । इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम् ।

भाषा—पारिमाण्डल्य नाम अणुपरिमाणका है. उससे भिन्नपदार्थोंका कारणतारूप समान धर्म्म है. अणुपरिमाणको तो किसी कार्य्यके प्रतिभी कारणता नहीं है. क्योंकि यदि उसमें कारणता मानेभी तो वह (स्व) अपने आश्रय जो परमाणु तथा द्व्यणुक उनसे उत्पन्न होनेवाले द्व्यणुकत्र्यणुकरूप द्रव्यके परिमाणकाही जनक मानना होगा, सो बनता नहीं; क्योंकि परिमाणका लोकमें यह स्वभाव देखनेमें आता है कि वह (स्व) अपने सजातिसे (उत्कृष्ट) अधिक परिमाणकाही जनक होता है जैसे कपालद्वयके महत्परिमाणसे घटका अधिक महत्परिमाण उत्पन्न होता है वैसेही परमाणु तथा द्व्यणुकमें रहनेवाले अणुपरिमाणकोभी द्व्यणुक तथा त्र्यणुकके परिमाणके प्रति कारणता माने तो पूर्वोक्त न्यायसे द्व्यणुक तथा त्र्यणुकका परिमाण औरभी अधिक अणु होगा. ऐसेही कालादिके परम महत्परिमाणको तथा परमाणु आदिके परमाणुत्वादि अतीन्द्रिय सामान्यको तथा विशेष पदार्थकोभी किसीके प्रति कारणता नहीं है.यहभी जानने योग्य है. परंतु यह "पारिमाण्डल्यभिन्नानां" इत्यादि ग्रंथ उन नवीन आचार्य्योंके अभिप्रायसे है कि जो आचार्य्य योगीके प्रत्यक्षमें विषयको कारणता नहीं मानते.

ज्ञायमानं[1] सामान्यं न प्रत्यासत्तिः । ज्ञायमानं लिंगं नानुमितिकरणमित्यभिप्रायेण । मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वान्महत्परिमाणं कालादेर्बोध्यम् । तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्य्याणामाशयः इत्यन्ये[2] । तन्न, ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवाकारणताया आचार्य्यैरुक्तत्वात् ॥ १५ ॥

---

१ वर्तमान कालिक जो ज्ञान तादृश ज्ञानविषयीभूत सामान्य 'ज्ञायमानसामान्य' है.

२ यहां नवीनोंका यह सिद्धान्त है कि पार्थिवादि परमाणुओंका भेदक विशेष पदार्थ नहीं, किंतु विशेषका ज्ञानभेदक है. ऐसे ज्ञायमानसामान्य सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति नहीं, किंतु सामान्यका ज्ञानमात्रसामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति है ऐसेही ज्ञायमान लिङ्गभी अनुमितिका कारण नहीं,किंतु लिंगका ज्ञानमात्र अनुमितिका कारण है और प्राचीनोंने तो परमाणु परिमाणकोभी योगीके प्रत्यक्षमें विषयत्वेन कारण माना है, तैसे "परमाणुः अणुपरिमाणवान्" इस ज्ञानके पश्चात् "सर्वे परमाणवः अणुपरिमाणवन्तः" इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिसे होता है.इसमें सम्बन्धरूपेण अणु परिमाणकोभी कारण माना है. तैसे 'परमाणुः द्रव्यं अणुपरिमाणात्' इस अनुमितिमें अणुपरिमाणको करणत्वेन कारण स्पष्टही माना है परंतु यहां मूल ग्रन्थ नवीनोंके सिद्धांतसे लिखा है.

भाषा-तथा ज्ञायमानसामान्यको प्रत्यासत्ति नहीं मानते, तैसे ज्ञायमान लिङ्गको अनुमितिकरण नहीं मानते हैं. "ज्ञानवानहम्, इच्छावानहम्" इत्याकारक आत्माके मानसप्रत्यक्षमें आत्माके परम महत् परिमाणकोभी कारणता है. इससे कारणता शून्य परममहत्परिमाण आकाशादिकोंका जानना चाहिये. कई एक नैयायिक उदयनाचार्य्यके आशयको लेकर आत्माके महत्परिमाणकोभी कारणता नहीं मानते सो सम्यक् नहीं; क्योंकि ज्ञानसे अतिरिक्त कार्य्यके प्रति आत्ममहत्परिमाणकी कारणताका निषेधही उदयनाचार्य्यका आशय है ॥ १९ ॥

ननु कारणत्वं किमत आह, अन्यथेति-

शंका-कारणता क्या पदार्थ है? समाधान--उसको मूलकार 'अन्यथा' इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं कहता है ॥

अन्यथा सिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ॥
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत्॥
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् १८

भाषा-अन्यथा सिद्धिसें शून्य नियमसे कार्य्यके प्रथम रहनेवाला कारण होताहै. वह तीन प्रकारका है ॥ १६ ॥ प्रथमका नाम 'समवायिकारण' है. द्वितीयका नाम 'असमवायिकारण' है. तृतीयका नाम न्यायवेत्ता पुरुषोंने 'निमित कारण' कहा है ॥ १७ ॥ जिसमें समवायसम्बन्धसे कार्य्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण है ॥ (तत्र) समवायिकारणमें समवेत होकर जो कार्य्यका जनक हो वह 'असमवायिकारण' है इन दोनों कारणोंसे भिन्न जो कारण है वह 'निमित्तकारण' है ॥ १८ ॥

तस्य कारणत्वस्य । तत्रसमवायिकारणे। आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः। अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयोगानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात्, एवं वेगादीनामप्यभिघा-

१ भाव यह है कि-तुरीतंन्तु संयोगभी अनुयोगित्वेन तंतुसमवेत है और पटरूप कार्य्यका जनकभी है. एवं उक्त लक्षणका लक्ष्य होनेसे तुरीतंतुसयोगभी पटका असमवायिकारण होना चाहिये.

ताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्, एवं ज्ञानादिकमिच्छाद्यसमवायिकारणं स्यात्, तथाऽपि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम् । तुरीतन्तुसंयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव। एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे तत्ताद्भिन्नत्वं देयम् ।

भाषा-(अत्र) यहां कारणलक्षणोंमेंसे असमवायिकारणके लक्षणानुसार यद्यपि तुरीतन्तुओंके संयोगोंकोभी पटका असमवायि कारण होना चाहिये, ऐसेही वेग तथा स्पर्शको भी यथाक्रम अभिघाताख्य संयोगका तथा 'नोदनाख्य' संयोगका असमवायिकारण होना चाहिये. (एवं) ज्ञान इच्छाकोभी यथाक्रम इच्छा तथा प्रवृत्तिका असमवायिकारण होना चाहिये तथापि पटके असमवायिकारणके लक्षणमें तुरीतन्तुसंयोगसे 'भिन्न' पदका निवेश करना उचित है अर्थात् तन्तुओंमें समवेत हो और तुरीतन्तुसंयोगसे अन्य होकर पटका कारण हो, वही पटका असमवायिकारण है और तुरीतन्तुसंयोगभी तुरीपटके संयोगके प्रति तो असमवायिकारण होसक्ता है. ऐसे वेगादिकभी वेगजन्य क्रियाके असमवायिकारण हो सक्ते हैं, इसलिये तिस २ विशेष कार्य्यके असमवायिकारणके लक्षणमें तिस २ से भिन्न पदका निवेश करना उचित है ।

आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति, तेन

---

१ शंका-तुरीतन्तुसंयोगकोभी पटके असमवायिकारणके लक्षणका लक्ष्यही माने तो क्या दोष है ? समाधान-नैयायिकोंने असमवायिकारणके नाशसे कार्य्यनाश माना है यदि तुरीतन्तुसंयोगभी पटका असमवायिकारण होगा तो उसके नाशसभी पटका नाश होना चाहिये और यह वार्ता देखनेमें तो नहीं आती याते उससे भिन्नत्वका निवेश करना उचित है.

२ अर्थात् पटके असमवायिकारणके लक्षणमें 'तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वे सति' का निवेश करना चाहिये. ऐसे घटके असमवायिकारणके लक्षणमें 'चक्रकपालसंयोगभिन्नत्वे सति' का निवेश करना चाहिये. तात्पर्य यह है कि-प्रत्येक कार्य्यके असमवायिकारणमें निमित्तकारण तथा समवायिकारणका जो परस्पर संयोग उससे भिन्नत्वका निवेश करना उचित है.

३ यहां यह भाव है कि आत्माके ज्ञानरूप विशेषगुणके प्रति आत्ममनःसंयोगको असमवायिकारणता तो अवश्य माननीय है, एवं वही आत्ममनःसंयोग यदि अन्यविशेष गुणोंकाभी असमवायिकारण वनसके तो आत्मविशेषगुणोंको परस्पर एक दूसरेके प्रति या किसी गुणान्तरके प्रति असमवायिकारणता माननी व्यर्थ है.

तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव। अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधम्। आद्यं यथा। घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकम्। तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। द्वितीयं यथा। घटरूपं प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम्। तत्र घटरूपं प्रति कारणं घटस्तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। तथाच क्वचित् समवायसम्बन्धेन, क्वचित्स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः।

भाषा–आत्माके ज्ञानादि विशेषगुणोंको तो किसी कार्य्यके प्रति भी असमवायिकारणता नहीं है; इसलिये 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति' का निवेश तो यावत् कार्य्यके असमवायिकारणके लक्षणमें करना उचित है. (अत्र) इस प्रकरणमें समवायिकारणरूप अधिकरणमें कार्य्यके साथ असमावयिकारणका समानाधिकरणरूप सम्बन्ध दो प्रकारका है. प्रथम कार्य्यके साथ एकाधिकरणमें सम्बन्ध रूप है. दूसरा कारणके साथ एकाधिकरणमें सम्बन्धरूप है प्रथम. जैसे घटादिकार्य्यके प्रति कपालद्वय संयोगादि असमवायिकारण है, तहां घटरूप कार्य्यके साथ कपालसंयोगरूप कारणका कपालस्वरूप एकाधिकरणमें एकार्थसमवेतत्वरूप सम्बन्ध है, दूसरा जैसे घटके रूपक प्रति कपालका रूप असमवायिकारण है. वहां घटके रूपके प्रति कारण घटही है उस घटके साथ कपालस्वरूप एकाधिकरणमें कपालके रूपका 'एकार्थ समवेतत्व' रूप सम्बन्ध है. इसरीतिसे कारणताके नियामक दो सम्बन्ध हैं, कहीं समवायसम्बन्ध है, जैसे घटके प्रति कपालसंयोग समवायसम्बन्धसे असमवायिकारण है और कहीं स्वसमवायि समवेतत्वसम्बन्ध है. जैसे घटके रूपके प्रति कपालका रूप स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्धसे कारण है. यहां 'स्व' पदसे कपालके रूपका ग्रहण है, उसका समवायी कपाल है; उस कपालमें समवेत घट है. एतादृश सम्बन्धसे कपालके रूपको घटपर मान कर घटके रूपके प्रति असमवायिकारणता भी बन सकती है. यह पूर्व कथनका फलितार्थ है.

इत्थंच कार्य्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिका-

रणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्य्यवसन्नम् । आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

भाषा-इस रीतिसे कार्य्यके साथ अथवा कारणके साथ समवायिकारणरूप एकाधिकरणमें सम्बद्ध होकर जो ज्ञानादिकोंसे भिन्न कारण वही असवायिकारण है, यह सामान्यरूपसे असमवायिकारणका लक्षण नियत हुआ । समवायिकारण असमवायिकारण दोनोंसे भिन्न जो कारण वह तीसरा निमित्तकारण है।१६।१७।१८

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थानां तदाह, येनेत्यादिना-

भाषा-'येन' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कार्य्यके प्रति अन्यथासिद्ध पदार्थोंको कहता है-

येन सह पूर्वभावः-

भाषा-जिस रूपसे कारणकी कार्य्यसे प्रथम विद्यमानता है.

यत्कार्य्यं प्रति कारणस्य पूर्ववर्तिता येन रूपेण गृह्यते तत्कार्य्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमितिभावः । यथा घटं प्रति दण्डत्वमिति ।

भाषा-अर्थात् जिस कार्य्यके प्रति कारणको पूर्व विद्यमानता जिसरूपसे ग्रहण होती है उस कार्य्यके प्रति कारणका वह रूप अन्यथा सिद्ध है, जैसे घट कार्य्यके प्रति दंडको कारणता दंडत्वेन रूपेण है याते, दंडत्व अन्यथा सिद्ध है.

द्वितीयमन्यथासिद्धमाह, कारणमिति-

भाषा-'कारणं' इत्यादि ग्रंथसे मूलकार दूसरी अन्यथासिद्धि दिखलाता है.

कारणमादाय वा यस्य ।

भाषा-अथवा कारणके ग्रहणपूर्वक जिसका ग्रहण हो वह अन्यथा सिद्ध है.

यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्तः किन्तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धम् । यथा दण्डरूपम् ।

भाषा-अर्थात् जिसकी स्वतंत्ररूपसे कार्य्यके साथ नियतपूर्ववृत्तिरूपा व्याप्ति न हो किन्तु मुख्यकारणके ग्रहणपूर्वक जिसका कार्य्यके साथ अन्वय व्यतिरेकग्रहण हो वह उस कार्य्यके प्रति अन्यथा सिद्ध है जैसा घटकार्य्यके प्रति दण्डका रूप है.

तृतीयमाह, अन्यं प्रतीति-

भाषा-'अन्यं प्रति' इत्यादिग्रन्थसे मूलकार तीसरी अन्यथासिद्धि दिखलाताहै।

अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥

भाषा-दूसरेके प्रति पूर्वविद्यमानता जानकर जिसकी प्रकृत कार्यके प्रति पूर्वविद्यमानता प्रतीत हो ॥ १९ ॥

अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्य्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य ।

भाषा-अर्थात् कार्यान्तरके प्रति पूर्वविद्यमानताग्रहणपूर्वक जिसकी जिस कार्यके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहण हो वह उस कार्यके प्रति अन्यथासिद्ध है जैसा घटादि कार्यके प्रति आकाश है।

आकाशस्य हि घटादिकं प्रत्याकाशत्वेनैव कारणत्वं स्यात्, आकाशत्वं च शब्दसमवायिकारणत्वम् । अतः शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम् । शब्दाश्रयत्वेन कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्, पञ्चमीति गृहाण । अथाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्, कवत्त्वादिकं विशेषपदार्थो वेति ॥ १९ ॥

भाषा-घटादिकार्यके प्रति आकाशको आकाशत्वेन रूपेण कारणता है, वह आकाश शब्दका समवायिकारणस्वरूप है, इस रीतिसे आकाशमें शब्दके प्रति कारणता ग्रहणपूर्वक घटादिकार्यके प्रति कारणता ग्रहण होती है, इससे आकाश अन्यथा सिद्ध है, शंका-आकाशको शब्दका समवायिकारण न कहें, किन्तु शब्दका आश्रयमात्र मानके घटादिकार्यके प्रति कारण मानें तो कौन अन्यथासिद्धि होगी? समाधान-इसरीतिसे पञ्चमी मानने योग्य है. शंका-आकाशमें शब्दकी जनकताका अवच्छेदक कौन है? समाधान-ककार वकारादि वर्ण हैं. शंका-ककारादिवर्ण तो नाना तथा अनित्य हैं. उनको अवच्छेदक माननेमें गौरव होगा. समाधान-अथवा विशेष पदार्थको आकाशमें शब्दकी जनकताका अवच्छेदक मानना चाहिये ॥ १९ ॥

चतुर्थमन्यथासिद्धमाह, जनकं प्रतीति—

भाषा-'जनकं प्रति' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार चौथी अन्यथासिद्धि दिखलाता है

जनकं प्रतिपूर्ववर्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ॥

भाषा–जिसकी कार्यसे पूर्वविद्यमानता कार्यके जनकको न जानकर न ग्रहण हो किंतु जानकर हो वह उस कार्यके प्रति अन्यथासिद्ध है.

यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्, यथा कुलालपितुर्घटं प्रति। तस्य च कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्व एवान्यथासिद्धिः। कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्।

भाषा–अर्थात् घटरूपकार्यका जनक जो कुलाल उसके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहणपूर्वक कुलालके पिताकी घटकार्य्यके प्रति पूर्वविद्यमानता ग्रहण होती है. इससे घटकार्यके प्रति कुलालका पिता अन्यथासिद्ध है. कुलालका पिता भी यदि 'कुलालपितृत्वेन' कारण माने तो अन्यथासिद्ध है और यदि कुलालत्वेन रूपेण कुलालका पिता भी घटका जनक है तो वह कारणही है; क्योंकि कुलालमात्र घटका जनक होता है.

पञ्चममन्यथासिद्धमाह, अतिरिक्तमिति–

भाषा–'अतिरिक्तं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पञ्चमी अन्यथासिद्धि दिखलाता है–

अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः॥२०॥

भाषा–नियमसे कार्यके अवश्य पूर्व विद्यमान पदार्थोंसे अतिरिक्त यावत् पदार्थ अन्यथासिद्ध हैं ॥ २० ॥

नियतावश्यकपूर्वभाविनोऽवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्य्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः। अत एव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारणमनेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यं क्लृप्तं तेनानेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम्। नच वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात्॥२०॥

भाषा–कार्यके नियमसे प्रथम रहनेवाले कारणसमुदायसे कार्यका सम्भव हो तो उससे भिन्न यावत् पदार्थ अन्यथासिद्ध हैं. (अत एव) अवश्यक्लृप्त नियमसे प्रथम

विद्यमानमें कारणता माननेहीसे प्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाणको कारण और अनेक द्रव्यत्वको अन्यथासिद्ध माना है। यहां अणुपरिमाणवालेसे भिन्न द्रव्यका नाम अनेक द्रव्यत्व है। प्रत्यक्षमें महत्त्व अवश्यक्लृप्त है उससे अनेक द्रव्यत्व अन्यथासिद्ध है. शंका—यदि कोई अनेक द्रव्यत्वको प्रत्यक्षमें कारण तथा महत्त्वको अन्यथासिद्ध माने तो तुम्हारे पास एक पक्षके कहनेवाली युक्ति कौन है? समाधान—महत्त्वजातिको कारणतावच्छेदक माननेमें शरीरकृत लाघव है ॥ २० ॥

एते पञ्चान्यथासिद्धाः—

भाषा—ये पञ्च अन्यथासिद्ध हैं.

दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादिर्द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः ।
पञ्चमो रासभादिः स्यात्—

भाषा—घटादि कार्यके प्रति प्रथम अन्यथासिद्ध दण्डत्वादिक धर्म्म हैं. द्वितीय दण्डके रूपादि हैं ॥ २१ ॥ तृतीय आकाश है, चतुर्थ कुलालपिता है; पञ्चम रासभादि हैं ॥

रासभादिरिति। यद्यपि यत्किंचिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः।

भाषा—यद्यपि किसी एक घटव्यक्तिसे पूर्वविद्यमानता गर्दभको भी हो सक्ती है तथापि यावत् घटव्यक्तिके प्रति प्रसिद्ध कारणरूप दण्डादिकोंसेही उस व्यक्तिका भी निर्वाह हो सक्ता है इसलिये रासभ सर्वथा अन्यथासिद्ध है ॥

एतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥

भाषा—इन सबमें यह पञ्चम अन्यथासिद्ध तो आवश्यक है ॥ २२ ॥

एतेष्विति। एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः तेनैव परेषां चरितार्थत्वात् । तथाहि । दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्य्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्।

इन पूर्वोक्त अन्यथासिद्ध पदार्थोंमें पञ्चम अन्यथा सिद्ध अवश्य माननीय है। और पूर्वले चारोंकी पञ्चममें चरितार्थताभी होसक्ती है. उसकी रीति यह है कि-कारणरूपसे अवश्य सम्बद्ध और घटादि कार्यके नियमसे प्रथम रहनेवाले दण्डादिकोंसे ही यदि कार्यका सम्भव हो तो दण्डत्वादि सभी सर्वथा अन्यथासिद्ध हैं.

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्। दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरंपरायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति ॥ २२ ॥

शंका-घटकार्य्यके प्रति 'दण्डत्व' को कारण तथा, 'दण्ड' को अन्यथासिद्ध मानें तो दण्डमें कारणताका नियामक कौन है? समाधान-दण्डत्वको कारण माननेसे 'स्वाश्रयजन्य भ्रमीवत्ता' सम्बन्धसे कारणता माननी होगी और दण्डको केवल 'स्वजन्य भ्रमीवत्ता' सम्बन्धसें कारणता है; इससे प्रथम सम्बन्धमें दण्डघटित परम्परारूप सम्बन्ध कल्पनामें गौरव है. ऐसेही दण्डरूप, आकाश, कुलालके पिताका भी पञ्चम अन्यथासिद्धमेंही संग्रह हो सकता है ॥ २२ ॥

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ॥
गुणकर्ममात्रवृत्तिज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥२३॥

भाषा-समवायिकारण होना केवल द्रव्यकाही समान धर्म्म है. एवं असमवायिकारण होना केवल गुण कर्म्मकाही समान धर्म्म है ॥ २३ ॥

गुणकर्म्मेति। असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। अथवाऽसमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः। तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः ॥ २३ ॥

भाषा-यहां गुणकर्म्मके समान धर्मके कथनका तात्पर्य नहीं किन्तु असमवायिकारणता गुण कर्मसे भिन्न पदार्थोंका विपरीत धर्म है. इस कथनमें तात्पर्य है. अन्यथा आत्मविशेषगुणोंमें इस लक्षणकी अव्याप्ति होगी; अथवा असमवायिकारणतावालेमें वर्तनेवाली जो सत्ताभिन्न, 'गुणत्व कर्मत्व' रूपा जाति तादृश जातिमत्त्वही गुणकर्मका समान धर्म्म है, ऐसा जातिघटित लक्षण करनेसे आत्मविशेष गुण ज्ञानादिकोंमें असमवायिकारणताके न होनेसे भी अव्याप्ति नहीं है॥२३॥

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ॥

भाषा-नित्य द्रव्योंसे अन्यपदार्थोंका आश्रितत्वरूप समान धर्म्म है.

अन्यत्रेति । नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः । आश्रितत्वं तु समवायादि सम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम् । विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः । कालिकसम्बन्धान्यसम्बंधेनाऽवृत्तित्वमिति परमार्थः, तेन समवायेनावृत्तावपि न क्षतिः ।

भाषा-पृथिवी आदि चारके परमाणु तथा आकाशादि पञ्च नित्यद्रव्य हैं उनसे भिन्न यावत् पदार्थोंका आश्रितत्वरूप समान धर्म है. यहां'आश्रितत्व'शब्दका अर्थ कालिकसम्बन्धसे भिन्न वृत्तिनियामक संयोगसमवायादि सम्बन्धसे वर्तना है, कालिक विशेषणतारूप सम्बन्धसे तो नित्य पदार्थभी कालादिकोंमें रहते हैं, कालिक सम्बन्धसे अन्यसम्बन्धसे आसमन्तात् वर्तनेवालेका 'आश्रितत्व' रूप समान धर्म कहना वास्तव अर्थ है, ऐसे कथनसे समवायसे भिन्न सम्बन्धसे वर्तनेवाले पदार्थोंमें पूर्व लक्षणकी अव्याप्ति नहीं है.

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्यसाधर्म्यं वक्तुमारभते, क्षित्यादीनामिति-

भाषा-'क्षित्यादीनां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार विशेषरूपसे द्रव्यकाही समान धर्म कहता है-

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥२४॥
क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ॥
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

भाषा--पृथिवीसे आदि लेके नव द्रव्योंका द्रव्यत्वरूप किंवा गुणवत्त्वरूप समान धर्म्म है ॥ २४ ॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा मन इन पाचोंका परापरत्वरूप मूर्तत्वरूप तथा कियावेगाश्रयत्वरूप समान धर्म है ॥ २५ ॥

क्षितिर्जलमिति । पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । न च यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम् । परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम्, तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत्कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वेगवत्त्वं, वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ॥ २४ ॥ २५ ॥

भाषा–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, मन इन पाँचोंका परत्वापरत्ववाले होना, मूर्त होना, क्रियावाले होना तथा वेगवाले होना समान धर्म है. शंका–जहां जिन उत्पन्न विनष्टादिकार्य्योंमें परत्वापरत्व बुद्धि नहीं उत्पन्न हुई; वहां घटादि कार्योंमें परत्वापरत्वके भी न उत्पन्न होनेसे अव्याप्ति होगी. समाधान–वहां भी परत्वादि समानाधिकरणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य पृथिवीत्व जलत्व तेजस्त्व वायुत्व मनस्त्व रूपा जाति तादृश जातिमत्त्वकी विवक्षासे दोष नहीं है; मूर्तत्व नाम परिच्छिन्न अर्थात् छोटे परिमाणवालेका है. वह परिच्छिन्न परिमाण पूर्वोक्त पाँचोंकाही है । आकाशादिके परिमाणमें किसीकी अपेक्षासेभी छोटापना नहीं है । शेष लक्षणभी पूर्ववत् जातिघटित करनेसे दोष नहीं है. अर्थात् (कर्मवत्त्व) कर्मके समानाधिकरणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' आदि जाति, तादृश जातिमत्त्व पृथिवी आदि पाचोंमें सिद्ध है. ऐसेही वेगवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' आदि जाति, तादृश जातिमत्ता पृथिवी आदि पाँचोंमें सिद्ध है ॥ २४ ॥ २५ ॥

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ॥

भाषा–काल आकाश आत्मा दिशा इन चारोंका सर्व व्यापकता तथा परममहत् परिमाणवत्ता समान धर्म है.

कालेति । कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं सर्वमूर्तसंयोगित्वं परममहत्त्वं च, परममहत्त्वत्वं जातिविशेषः अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा ।

भाषा–जिसका यावत् मूर्तपदार्थके साथ संयोग हो वह व्यापक होता है ऐसेही 'परममहत्तत्त्व' जातिविशेषयुक्त परममहत् परिमाण होता है. अथवा मूर्तोंमें न, वर्तनेवाला जो परिमाण तादृश परिमाणवत्ता पूर्वोक्त चारोंका समान धर्म है.

क्षित्यादिपञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥

भाषा–पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश, इन पाँचोंका भूतत्वरूप समान धर्म है पृथिवी आदि चारोंका समवायेन स्पर्शवत्ता समान धर्म है ॥ २६ ॥

क्षित्यादीति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वम् । तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम् । तेन ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्, तद्वत्यात्मनि नातिप्रसङ्गः । न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाणवादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात् । महत्त्वलक्षणकारणान्तराऽसन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम् । अथवाऽऽत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम् । चत्वारीति । पृथिव्यप्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम् ॥ २६ ॥

भाषा-- भूत नाम नेत्रादि बाह्य इंद्रियग्राह्य रूपादि विशेषगुणवालोंका है, इस प्रसंगमें ग्राह्य पदसे लौकिक प्रत्यक्ष स्वरूप योग्यताका ग्रहण है. अन्यथा 'ज्ञातो घटः' इस ज्ञानमें प्रकारीभूत जो ज्ञान उस ज्ञानकाभी 'चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्व' सम्बन्धसे घटअंशमें प्रत्यक्ष हो सकता है. एवं उस ज्ञानवाले आत्मामें अतिव्याप्ति होगी; परंतु पूर्वोक्त सम्बन्धसे ज्ञानका लौकिक प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अलौकिक है; याते आत्मामें अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं. स्वरूप योग्यताके निवेश करनेसे प्रत्यक्षके अविषय तथा रूपादियुक्त परमाणु आदिमेंभी अव्याप्ति नहीं है. परमाणुमें तथा द्व्यणुकमें प्रत्यक्षकी योग्यता तो है परंतु महत्त्वरूप कारणान्तरके न होनेसे परमाणुका तथा द्व्यणुकका प्रत्यक्ष नहीं होता अथवा आत्मामें न वर्तनेवाले जो विशेषगुण,तादृश विशेषगुणवालेकी 'भूत' संज्ञा है पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चारोंका स्पर्शवाले होना समान धर्म है ॥ २६ ॥

द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात्-

भाषा--द्रव्यांतरके आरम्भक होनाभी पृथिवी आदि चारोंका समान धर्म है,

द्रव्यारम्भेति । पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वम् ।

(१) वक्ष्यमाणसंयोगादि षड्विधसन्निकर्षसे लौकिक प्रत्यक्ष होता है उनसे भिन्न यावत् सम्बन्धोंसे प्रत्यक्ष योग्य पदार्थोंका लौकिक प्रत्यक्ष होता है। एवं 'ज्ञातो घटः' यह ज्ञान अनुव्यवसायरूप मानसिक है।विशेष्यरूपसे घट तथा विशेषणरूपसे घटका व्यवसायात्मक ज्ञान इसके विषय है। परन्तु अलौकिक सम्बन्धसे है याते ज्ञानवाले आत्मामें दोष नहीं ॥

(२)नेत्र इन्द्रियादिगत रूपादि विशेषगुणोंको अनुद्भूतहोनेसे बाह्य इन्द्रियसे ग्रहणकी अयोग्यता है याते भूतत्वलक्षणकी अव्याप्तिकी शंकासे कहा है-अथवेति ।

नच द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः । द्रव्यसमवायिकारणवृत्ति-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

भाषा—पृथिवी जल अग्नि वायु ये चारों समवायिकारण होकर द्रव्यांतरके आरम्भक हैं. शंका—घटरूप पृथिवीमें द्रव्यांतरारम्भकता नहीं है; अव्याप्ति होगी. समा० द्रव्यके समवायिकारणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' आदि जाति, तादृश जातिमत्ता यावत् घटादिकार्योंमें सिद्ध है, एवं अव्याप्तिरूप दोष नहीं है ।

—अथाकाशशरीरिणाम् ।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥२७॥

भाषा—आकाश तथा जीवात्माका अव्याप्य वृत्ति क्षणिक विशेष गुणवत्ता समान धर्म है ॥ २७ ॥

आकाशशरीरिणामिति । आकाशात्मनामव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्वम् । आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते, तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात् । क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्[1] । योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात् प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः । एवं ज्ञानादीनामपि ज्ञानादिकं ह्यात्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव । एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि । इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं चार्थः । पृथिव्यादौ रूपादिर्विशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तिरित्युक्तम् । पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुण इत्युक्तम् ॥ नच रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात् क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम् ।

भाषा—आकाशका तथा जीवात्माओंका अव्याप्यवृत्ति जो क्षणिक विशेषगुण, तादृश विशेषगुणवत्ता समान धर्म्म है, आकाशका विशेषगुण शब्द है, वह अव्याप्य

---

(१) जिस वस्तुका ध्वंस होय वही वस्तु ध्वंसकी प्रतियोगी कही जाती है.

वृत्ती इस रीतिसे है कि-जिस कालमें भेर्याद्यवच्छेदेन शब्द उत्पन्न होता है, उसी कालमें घटाद्यवच्छेदेन शब्दके अभावकी भी प्रतीति होती है, क्षणिक नाम तीसरे क्षणमें नाश होनेवालेका है, प्रत्यक्षके योग्य जो आकाशादि विभुद्रव्योंके शब्दादि विशेष गुण, उनका अपनेसे पीछे उत्पन्न होनेवाले विशेष गुणोंसे नाश होता है, इस रीतिसे प्रथमशब्दका द्वितीयशब्द नाशक है, ऐसेही प्रथमज्ञान इच्छादिकोंके भी द्वितीयज्ञान इच्छादिक विनाशक हैं, व्यापक आत्मामें ज्ञान इच्छादिक शरीरावच्छेदेन उत्पन्न होते हैं और घटाद्यवच्छेदेन ज्ञानादिकोंका अभावभी सिद्ध है. इस रीतिसे ज्ञानादिक भी दो क्षण स्थित रहते हैं, इस पूर्व कथनसे 'अव्याप्य-वृत्ति विशेषगुणवत्ता' अथवा 'क्षणिक विशेषगुणवत्ता' आकाशका तथा जीवात्मा-ओंका समान धर्म्म सिद्ध हुआ. रूपादि विशेष गुण पृथिवी आदिकोंमें भी हैं, उनसे प्रथम लक्षणकी अतिव्याप्तिके वारणार्थ 'अव्याप्यवृत्ति' विशेष गुणका विशेषण दिया. अव्याप्यवृत्ति संयोगादिक भी पृथिवी आदिकोंमें रहते हैं, उनसे प्रथम लक्षणकी अतिव्याप्ति वारणार्थ विशेषगुणरूप विशेष्यका निवेश किया। रूपादि अव्याप्यवृत्ति नहीं हैं तथा संयोगादि विशेष गुण नहीं हैं, एवं उभयथा पृथिवीमें अतिव्याप्ति नहीं है, शंका-किसी एक कालमें रूपादिकोंका भी तीसरे क्षणमें नाश हो सकता है, ऐसे 'क्षणिक विशेष गुणवत्त्व' इस द्वितीय लक्षणकी पृथिवी आदिकोंमें अतिव्याप्ति होगी.

चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु किमपि जन्यज्ञानादिकं न तिष्ठति, रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायि-न्यपि रूपादौ वर्तत इति व्युदासः। ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्ति-त्वाज्जन्येत्युक्तम्। यद्याकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्, द्वेषत्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात्, परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमात्

---

(१) चतुःक्षणशब्द अधिक कालका उपलक्षक है.

(२) यदि जन्य पदका न निवेश किया जाय तौ 'परममहत्त्वत्व' रूप जातिको चार क्षणमें रहनेवाले परम महत्त्व परिमाणमें वृत्तित्व होनेसे परममहत्त्वपरिमाणको लेकर तिस-वाले कालादिकोंमें तो अतिव्याप्ति नहीं है याते विशेष पदकी सफलतार्थ ग्रन्थकार कहता है चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामिति।

द्वित्वादीनामपि तथात्वात् तद्वारणाय विशेषेति। त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वाच्यम्। द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः ॥२७॥

समाधान--चार क्षणमें वर्तनेवाले जो घट पटादि तथा रूप रसादिजन्य उनमें न वर्तनेवाली जो 'शब्दत्व ज्ञानत्व' रूपा जाति तादृश जातिमद्विशेषगुणवत्ता शब्दमें तथा ज्ञानमें विवक्षित है, याते पूर्वोक्त दोष नहीं। अपेक्षा बुद्धिरूप ज्ञानभी तीन क्षणमात्र स्थिर रहता है। चतुर्थ क्षणमें अपेक्षा बुद्धिका नाश होता है, चार क्षणतक स्थिर तो जन्यज्ञानादिक कोई भी नहीं रहते। और रूपत्वादिक जाति तो चार क्षण उपलक्षित बहुत कालतक रहनेवाले रूपादिकोंमें रहती है इसलिये उस रूपत्वादि जातिका व्युदास हुआ अर्थात् वारण हुआ, ईश्वरज्ञानभी चार क्षण उपलक्षित नित्य विद्यमान है, उसके संग्रहार्थ ' जन्य' पदका निवेश किया, यदि आकाश तथा जीवात्माकाही समान धर्म कहनेका तात्पर्य होय तो जन्य पदके निवेशका कुछ प्रयोजन नहीं अर्थात् न निवेश करना चाहिये. ज्ञानत्वजातिके स्थानपर केवल जीवात्माके गुणोंमें रहनेवाली (द्वेषत्वादि) जातिका निवेश करनेसे जातिघटित लक्षण संगत होगा। आकाश कालादिकोंका परम महत्त्व परिमाणभी चार क्षणमें वर्तनेवाले जन्य पदार्थोंमें वर्तनेवाली जो " परम् महत्त्वत्व " रूपा जाति तादृश जातिमत् है। उससे अतिप्रसक्तिवारणार्थ तैसे चतुर्थक्षणमें द्वित्वादिकोंका नाश आचार्य्योंने माना है, द्वित्वादिकोंकोभी तादृश जातिमद्गुण होनेसे उनसे अतिप्रसक्तिवारणार्थ 'विशेष' पदार्थ गुणका विशेषण कहा। परममहत्त्व परिमाण तथा द्वित्वादि विशेष गुण नहीं हैं। किन्तु सामान्यगुण हैं इस लिये तादृश गुणवाले काल घटादिकोंमें आत्माकाश लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है, अथवा चतुःक्षणके स्थानपर 'त्रिक्षणवृत्ति' कहनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं, ज्ञानत्वजातिके स्थानपर द्वेषत्वादिक जातिका निवेश करनेसे आत्मामें लक्षण समन्वय होगा॥ २७॥

रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः॥

भाषा--रूपवत्ता द्रव्यत्ववत्ता प्रत्यक्षविषयता प्रथम तीनका समान धर्म हैं.

रूपेति। पृथिव्यतेजसां रूपवत्त्वं, द्रवत्ववत्त्वं, प्रत्यक्षविषयत्वं चेत्यर्थः। नच चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्। तत्रापि तेजस्त्वेन रूपानुमानात्।

एवं वायवानीतपृथिवीजलतेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम् । नच घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम् । द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्य- जातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् घृतजतुप्रभृतिषु पृथिवीषु जलेषु द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्, तत्रच पृथिवीत्वादिस- त्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः । नच प्रत्यक्षविषयत्वं पर- माण्वादावव्याप्तम्, अतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम् । चाक्षु- षप्रत्यक्षविषयवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति ।

भाषा-पृथिवी जल अग्नि इन तीनोंका रूपवत्ता द्रव्यत्ववत्ता प्रत्यक्ष विषयता समान धर्म है, शंका-नेत्र घ्राणादि इन्द्रियोंके तथा भर्जन कपालस्थ रेतेमें होने- वाले अग्निके तथा तैजस भाफके रूपवाले होनेमें क्या प्रमाण है ? समाधान- इन सबको पक्ष बनाकर तेजस्त्वादिरूप हेतुओंसे रूपवत्त्वका अनुमान होसकता है यथा "नेत्रेन्द्रियं रूपवत् तेजस्त्वात्" इत्यादि. ऐसे वायुवेगसे देशान्तरसे आये- हुए पृथिवी जल तथा अग्निके भागोंमेंभी "पृथिवीत्वात्" इत्यादि हेतुओंसे रूपका अनुमान होसकता है, शंका-घटादिरूप पृथिवीमें तथा द्रुत सुवर्णादिसे भिन्न तेजमें द्रव्यत्ववत्त्वके न होनेसे अव्याप्ति होगी । समा०-वहांभी द्रवत्ववद्वृत्ति जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्वादि' जाति तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित होनेसे दोष नहीं है, घृतलाक्षादि रूप पृथिवीमें जलमें तथा द्रुत सुवर्णादिरूप तेजमें द्रव- त्वके विद्यमान होनेसे तथा इनमें पृथिवीत्वादि रूपजातिके होनेसे सर्वत्र पूर्वोक्त जाति- घटित लक्षण समन्वय हासकता है. शंका-पूर्वोक्त प्रत्यक्ष विषयतारूप समानधर्म्म पृथिवी आदिके परमाणुओंमें अव्याप्त है तथा रूपादिकोंमें अतिव्याप्त है. समा- धान-चाक्षुष प्रत्यक्षके विषयमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्वादि' जाति तादृशजातिमत्त्वके वहांभी अपेक्षित होनेसे दोष नहीं है, आत्मामें अतिव्या- प्तिके वारणार्थ 'चाक्षुष' पदका निवेश है ।

गुरुणी द्वे रसवती-

भाषा-बोझेवाले अर्थात् भारी तथा रसवाले दो पदार्थ हैं-

गुरुणी इति।गुरुत्ववत्त्वं च पृथिवीजलयोरित्यर्थः । नच घ्राणेन्द्रि-

यादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां च रसादिमत्त्वे किंमानमितिवाच्यम् । तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात् ।

भाषा–गुरुत्ववत्ता तथा रसवत्ता पृथिवीजलका समान धर्म्म है, शंका–घ्राणादि इन्द्रियोंके तथा वायु आनीत पार्थिवादि भागोंके रसवाले होनेमें क्या प्रमाण है ? समाधान–वहांभी "पृथिवीत्वात्" इत्यादि हेतुओंसे रसका अनुमान हो सकता है।

–द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥ २८ ॥

द्वयोरिति पृथिवीतेजसोरित्यर्थः ।

भाषा–पृथिवी, तेज, इन दोनोंका नैमित्तिक द्रवणरूप समान धर्म है ॥२८॥

नच नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमितिवाच्यम् । नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ २८ ॥

शंका–नैमित्तिक द्रवत्ववत्ता घटादि पृथिवीमें तथा वह्निरूप तेजमें अव्याप्त है. समा०–वहांभी नैमित्तिक द्रवत्वके समानाधिकरणमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य (पृथिवीत्वादि) जाति तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित होनेसे दोष नहीं है ॥२८॥

आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः ॥
यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत् ॥२९॥

भाषा–जीवात्मा तथा पञ्चभूत विशेष गुणोंवाले हैं, हमने जो जिसका समान धर्म कहा वह इतरका विरुद्ध धर्म जानना चाहिये ॥ २९ ॥

आत्मान इति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुणवत्त्वमित्यर्थः ॥ यदुक्तमिति । ज्ञेयत्वादिकं विहायेति बोध्यम् । तत्तु न कस्यापि वैधर्म्यं केवलान्वयित्वात् ॥ २९ ॥

भाषा–ज्ञेयत्व प्रमेयत्व वाच्यत्व अभिधेयत्व इन चारों धर्मोंको छोडकर जो जिसका समान धर्म कहा वह दूसरेका विपरीत धर्म है और ज्ञेयत्वादि धर्म तो केवलान्वयी है, यातें किसी पदार्थके भी विरुद्ध धर्म नहीं है ॥ २९ ॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यसंस्कारो मरुतो गुणाः ॥
अष्टौ स्पर्शादयो रूपं द्रवो वेगश्च तेजसि ॥ ३० ॥

भाषा–स्पर्शादि आठ तथा वेगाख्य संस्कार ये नव वायुके गुण हैं, स्पर्शादि आठ रूप द्रव और वेग ये एकादश तेजके गुण हैं ॥ ३० ॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ॥
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥ ३१ ॥

भाषा-स्पर्शादि आठ वेग गुरुत्व द्रवत्व रूप रस तथा स्नेह ये चतुर्दश जलके गुण हैं ॥ ३१ ॥

स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ॥
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादि पञ्चकं भावना तथा॥३२॥
धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्दश ॥
संख्यादि पञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ३३

तेच संख्यादयः पञ्च खे आकाशे ।

भाषा-जलके गुणोंमेंसे 'स्नेह' को निकाल गन्धको डालकर गिने तो वेही १४ पृथिवीके गुण हैं, बुद्ध्यादि छः, तथा संख्यादि पञ्च, भावनाख्य संस्कार, तथा धर्म्माधर्म्म ये १४ गुण जीवात्माके हैं, संख्यादि पञ्च कालके तथा दिशाके गुण हैं। संख्यादि पञ्च तथा शब्द ये छः आकाशके गुण हैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे ॥
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥ ३४ ॥

भाषा-संख्यादि पञ्च बुद्धि इच्छा यत्न ये आठ ईश्वरके गुण हैं; परत्व अपरत्व संख्यादि पञ्च तथा वेग ये आठ मनके गुण हैं ॥ ३४ ॥

साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य संप्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति तत्र क्षितिरित्यादिना-

भाषा-समान धर्म्म विपरीत धर्मोंके निरूपणानन्तर 'तत्र क्षिति' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार पृथिवी आदिका निरूपण करता है-

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुः-

गन्धहेतुरिति । गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः ।

भाषा-उन नवद्रव्योंके मध्यमें गन्धसमवायिकारणका नाम पृथिवी है.

यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितं तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम् । तथाहि । पृथिवीत्वं हि

गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धयति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः । नच पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम् । तत्रापि गन्धसत्त्वात् । अनुपलब्धिस्तत्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते, कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते । भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात् पाषाणोपादानोपादेयत्वं सिद्धयति । यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेः दृष्टं चैतत् खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये ।

भाषा-यद्यपि पृथिवीका लक्षण गन्धवत्त्वमात्र कहना उचित है तथापि लक्षणमें समवायिकारणताका निवेश 'पृथिवीत्व' जातिमें प्रमाण उपन्यासके लिये जानना चाहिये (तथाहि) उसकी रीति यह है कि– गन्धकी जो समवायिकारणता तादृश कारणताका जो अवच्छेदक तादृश अवच्छेदकत्वेन रूपेण पृथिवीत्व जातिकी सिद्धि होती है, (अन्यथा) यदि गन्धत्वावच्छिन्नके प्रति पृथिवीको हेतुता न माने तो गन्धके प्रति नियत कारणताका नियम नहीं रहेगा. शंका–पाषाणरूपा पृथिवीमें गन्धका अभाव होनेसे 'गन्धवत्त्व' रूप लक्षण अव्याप्तिग्रस्त है. समा०--पाषाणरूपा पृथिवीमें गन्ध विद्यमान तो है परन्तु अनुद्भूत गन्ध है. इसलिये उसका उपलाभ नहीं होता (अन्यथा) यदि पाषाणमें गन्ध न होय तो उसकी भस्म (चूना) में गन्धका उपलाभ कैसे होय ? पाषाणकी भस्म पाषाणके ध्वंससे उत्पन्न होती है. याते स्वभस्मका उपादान कारण पाषाण है और पाषाणरूप उपादान निरूपिता तद्भस्ममें उपादेयता सिद्ध होती है । जो (भस्मादि) द्रव्य जिस (पाषाणादि) द्रव्यके ध्वंससे उत्पन्न होता है । वह(भस्मादि) द्रव्य उस(पाषाणादि) द्रव्यरूप उपादानका उपादेय होता है यह लोकमें नियम है,उपादान नाम समवायिकारणका है । उपादेय नाम कार्यका है, यह व्याप्तिनियम हमने महापटके ध्वंससे उत्पन्न होनेवाले खण्डपट (वस्त्रके टुकडे) में देखा है ।

इत्थं च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम् । तथाच तस्यापि गन्धवत्वे बाधकाभावः ।

---

१ समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठकार्य्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नपृथिवीनिष्ठा या समवायिकारणत सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्य्यतानिरूपितकपालगतकारणतावत्' यह अनुमान पृथवीत्वजातिका साधक है.

भाषा-ऐसेही पाषाणके परमाणुओंको पृथिवी होनेसे उनसे उत्पन्न होनेवाला पाषणभी पृथिवीस्वरूपही है । एवं पाषाणको गन्धवाला होनेमें भी कोई बाधक नहीं है ॥

नानारूपवती मता ।

भाषा-तथा वह पृथिवी नानाविध रूपवाली है.

नानारूपेति । शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते, नतु जलादौ।तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात् पृथिव्यां त्वेकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात् । नच यत्र[1] नानारूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिः । रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात् । वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात् । न्यायनये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः ।

भाषा-शुक्ल नीलादि भेदसे सात प्रकारका रूप पृथिवीमेंही रहता है, जलादिमें नहीं रहता,जलादिमें तो केवल शुक्लरूपही रहता है और पृथिवीमें तो एक व्यक्ति (घटादि)मेंभी अग्निसंयोगसे नानारूपका सम्भव होता है, शंका-जिस पृथिवीमें नानारूप उत्पन्न नहीं हुआ उसमें अव्याप्ति होगी. समाधान-वहां भी रूपद्वयावाले में वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य (पृथिवीत्व) रूप जाति तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित है, अथवा रूप नाशवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' रूपजाति तादृश जातिमत्त्व अपेक्षित होनेसे उक्त दोष नहीं है,वैशेषिकमतमें पृथिवी-परमाणुओंमें रूपका नाश तथा रूपान्तरकी उत्पत्ति मानी है और न्यायमतमें तो घटादिकोंमेंही रूपको नाश तथा रूपान्तरकी उत्पत्ति मानी है याते उभयमतमें पूर्वोक्त लक्षणमें दोष नहीं है.

षड्विधस्तु रसस्तत्र-

भाषा-षट् प्रकारका उस पृथिवीमें रस है.

षड्विध इति।मधुरकटुकषायादिभेदेन यः षड्विधो रसः स पृथिव्यामेव, जले च मधुर एव रसः । अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वं लक्षणार्थोऽवसेयः ।

---

[1] प्रथम लक्षण अपेक्षा बुद्धिविशेष विषयत्वरूपद्वित्वघटित होनेसे गौरवयुक्त है या 'रूपनाश' इत्यादिसे द्वितीय कहा है.

भाषा-- मधुर कटु कषायादि भेदसे षट् प्रकारका रस पृथिवीमेंही रहता है जलमें तो केवल एक मधुर रस है. यहांभी जिस पृथिवीमें नानाविध रस उत्पन्न नहीं हुआ, उसमें अव्याप्ति वारणार्थ रसद्वयवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' रूपा जाति तादृश जातिमत्त्वरूप लक्षणार्थ जानना उचित है.

--गन्धस्तु द्विविधो मतः॥३५॥

भाषा--दोप्रकारका उस पृथ्वीमें गंध है ॥ ३५ ॥

गन्धस्त्विति । द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रं नतु द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात् । द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥ ३५ ॥

भाषा--पृथिवीमें गंधका द्विविध कहना केवल वस्तुकी स्थितिमात्रका बोधक है, द्विविध गंधवत्त्वमात्र लक्षण नहीं है. किन्तु केवल 'गंधवत्त्व' मात्रही लक्षण सम्यक् है. 'द्विविध' पद निष्फल है. सुरभि असुरभि भेदसे वह गंध दोप्रकारका जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

स्पर्श इति । तस्याः पृथिव्याः ।

भाषा--अनुष्णाशीतपाकज स्पर्श भी पृथिवीका ही जानना योग्य है.

अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायावपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति । इत्थञ्च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम् । लक्षणं तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रम् । अधिकस्य वैयर्थ्यात् । यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति, तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः ।

भाषा--अनुष्णाशीत स्पर्शवत्ता वायुमेंभी है उसके वारणार्थ 'पाकज' पदका निवेश किया, वह स्पर्श वायुमें पाकज नहीं है. एवं यह पूर्व ग्रंथ पृथिवीके लक्षणके अभिप्रायसे नहीं कहा किन्तु पृथिवीका स्पर्श अनुष्णाशीत है यह बोधनार्थ कहा है. पृथिवीका लक्षण तो 'पाकजस्पर्शवत्त्वमात्र'ही साधु है; अधिक कथन निष्फल है. यद्यपि पाकज स्पर्शवत्ता पटादिरूप पृथिवीमें नहीं है याते उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होगी तथापि पाकज स्पर्शवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य 'पृथिवीत्व' रूपा जाति तादृश 'जातिमत्त्व' पटादि रूप पृथिवीमेंभी प्रसिद्ध है. एवं जातिघटित लक्षण करनेसे कहीं दोष नहीं.

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ३६॥
अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।

भाषा-नित्या तथा अनित्या भेदसे वह पृथिवी दोप्रकारकी है. उसमें परमाणुरूप पृथिवी नित्या है ॥३६॥ उसमें भिन्न कार्य्यरूपा सावयव पृथिवी अनित्या है ।

नित्येति । सा पृथिवी द्विविधा नित्याऽनित्या चेत्यर्थः । अणुलक्षणापरमाणुरूपा पृथिवी नित्या ॥ ३६ ॥ तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येर्थः । सैवानित्या पृथिव्येवावयववतीर्त्थः ।

भाषा-वह पृथिवी दोप्रकारकी है, एक नित्याहै और दूसरी अनित्याहै इन दोनोंमें अणुलक्षणा अर्थात् परमाणुरूपा पृथिवी नित्या है ॥ ३६ ॥ और परमाणुओंसे भिन्न द्व्यणुकादि रूपा यावत् पृथिवी अनित्या है. वह अनित्या पृथ्वी ही अवयवयोगिनी अर्थात् सावयवा कही जाती है.

नन्ववयाविनि किं मानम् ,परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः॥न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वसम्भवात् । यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्याक्षत्वेऽहि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम् । न चैकः स्थूलो महान् घट इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम् ।

बौद्ध-शंका-सावयवा पृथ्वीमें क्या प्रमाण है ? 'अयंघटः' इत्यादि प्रतीतिका निर्वाह तो विलक्षण संस्थान विशिष्ट परमाणुपुंजसेही होसकताहै; सिद्धांती--परमाणु तो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं. यदि घटापि पदार्थोंको परमाणु पुञ्जस्वरूप माने तो परमाणुओंकी तरह घटादिकाभी प्रत्यक्ष नहीं होगा. बौद्ध-यद्यपि पृथक्२ यावत् परमाणु अतीन्द्रिय हैं तथापि उनके समुदायका साक्षात्कार होसक्ता है.जैसें एक(केश) बाल दूरसे नहींभी दीखता तौभी उसके समुदायका प्रत्यक्ष होसकताहै. सिद्धांती यह एक महत्त्व परिमाणवाला स्थूल घट है ऐसी बुद्धि परमाणुपुंजमें नहीं होसकती.

एको महान् धान्यराशिरितिवदुपपत्तेः। मैवम् । परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षत्वायोगात् । दूरस्थकेशस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात् । नच तदानीमदृश्यंपर-

माणुपुञ्जाद्दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम् । अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात् । अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचिद्दृश्यत्वं स्यात् ।

बौद्ध–यह एक महान् धान्यराशि है, इस बुद्धिकी तरह घटमेंभी बुद्धि होसकती है, समाधान–परमाणु अतीन्द्रिय हैं उनका समूहभी प्रत्यक्षके योग्य नहीं है; दूरस्थ केश तो अतीन्द्रिय नहीं है नेत्रादिकोंके समीप होनेसे उसी केशका प्रत्यक्षभी होसक्ता है, शंका–कार्य्यउत्पत्तिकालमें दर्शनायोग्यपरमाणुपुंजसे दर्शनयोग्य परमाणुपुंजकी उत्पत्ति होतीहै, याने घटादिके साक्षात् होजानेमें कोई विरोध नहीं. समाधान–अदृश्यपदार्थ दृश्यपदार्थका उपादान नहीं होसकता है, (अन्यथा) यदि अदृश्यपदार्थसेभी दृश्यपदार्थकी उत्पत्ति होवे तो कदाचित् नेत्र इन्द्रियका तथा (ऊष्मा) भाफादि अदृश्य तेजःपदार्थोंकाभी साक्षात्कार होना चाहिये ।

न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पतिरिति वाच्यम् । तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरभ्युपगमात् । न चादृश्यद्व्यणुकेन कथं त्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यम् । यतो न वयं दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित् स्वभावादाचक्ष्महे किंतु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद्दृश्यत्वम् । तदभावे चादृश्यत्वम् । तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षं न तु द्व्यणुकादेस्तदभावात् । न हि त्वन्मतेऽपीदं सम्भवति, परमाणौ महत्त्वाभावात् ।

शंका–अतितप्त तैलादिकों विषे कैसे अदृश्य अग्निके भागोंसे दृश्य अग्निभागोंकी उत्पत्ति होतीहै अर्थात् अतितप्त तैलादि पदार्थ पात्रव्यवहित अग्निसंयोगसे भी शीघ्र जल उठतेहैं;वहां प्रथम उनमें दहनसंतति अ दृश्य होतीहै, पश्चात् दृश्य होजाती है. समाधान–वहांभी हम ऐसा मानते हैं कि, दर्शनयोग्य अग्निके भागोंने तैलादि पदार्थमें प्रविष्ट होकर स्थूलदाहकी उत्पत्ति करी है; याते अदृश्यसे दृश्यकी उत्पत्ति नहीं है. शंका–अदृश्य द्व्यणुकसे दृश्य त्रसरेणुकी उत्पत्ति आपने कैसे मानी है ? समा०–इसी कारणसे हम दर्शनयोग्यता अथवा अदर्शनयोग्यता किसी पदार्थको स्वरूपसे नहीं कहते किन्तु महत्त्व परिमाण उद्भूतरूपादि कारणसमुदायसे पदार्थोंमें दर्शनयोग्यता होतीहै इनके अभावसे पदार्थ अदृश्य रहताहै,इसरीतिसे त्रसरेणुका महत्त्वपरिमाण होनेसे प्रत्यक्ष होसकता है द्व्यणुकका महत्त्वपरिमाणके अभावसे

प्रत्यक्ष नहीं होसकता इसी नियमसे तुम्हारे मतमें तो निर्वाह नहीं होसकता. क्योंकि आपने परमाणुपुंजकाकोही प्रत्यक्ष माना है और परमाणुमें महत्त्वरूप कारणके अभावसे प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है.

इत्थं चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षत्वादनित्यत्वम् । तेषां चावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसंगः । अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः । यत्र च विश्रामस्तस्याऽनित्यत्वे त्वसमवेतभावकार्य्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम् । महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः ।

भाषा-इस पूर्वोक्तविचारसे (अवयवी) कार्यद्रव्यकी सिद्धि हुई तो उन कार्यद्रव्योंको उत्पन्न विनष्ट होनेसे अनित्यत्व स्पष्ट है; उन कार्य्यद्रव्योंकी अवयवपरंपरा यदि असंख्यात मानी जाय तो मेरुपर्वत तथा (सर्षप) सर्सोंके दानेकी तुल्यता होनी चाहिये; याते किसी एक स्थलमें अवयवपरंपराका विश्राम कहना उचितहै,जहां अवयव परंपराका पर्यवसान है यदि उसको अनित्य मानाजाय तो समवायिकारणसे विनाही भाव कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये;सो तो संभवनहीं,याते अवयवपरंपराकी विश्राम अवधिको नित्य मानना उचित है. जैसे महत्परिमाणकी न्यूनाधिकता त्रसरेणुसे लेकर आकाशादिकोंमें विश्रामको प्राप्त होतीहै वैसेही अणुपरिमाणकी न्यूनाधिकताकी विश्रान्तिकी अवधिभी कहीं कहनी उचित है, अणुपरिमाणकी न्यूनाधिकताकी विश्रान्तिकी अवधि जहां है वही परमाणु है इसरीतिसे परमाणुकी सिद्धि होसकती है.

न च त्रसरेणावेव विश्रमोऽस्त्विति वाच्यम् । त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वाद्घटवादित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवा महदवयवत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः ।

शंका-अणुपरिमाणकी विश्रामावधि त्रसरेणुमेंही मानलें तो दोष क्या है ?
समा०-त्रसरेणु घटकी तरह नेत्रग्राह्य होनेसे सावयव हैं, इस अनुमानसे त्रसरेणुके अवयव सिद्ध होनेसे पश्चात् त्रसरेणुके अवयवभी त्रसरेणुरूप महान्कार्यके आरम्भक होनेसे सावयव हैं जैसे कपाल घटरूप महान् कार्य्यके आरम्भक होनेसे सावयव हैं, इस अनुमानसे त्रसरेणुके अवयवोंकेभी अवयव सिद्ध होसकते हैं ।

न चेदमप्रयोजकम् । अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यत्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैवं क्रमेण तदवयवधारापि सिद्धयोदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेः ।

शंका–इस पूर्वोक्त अनुमानमें अनुकूल तर्कका अभाव है. समाधान–अपकृष्ट महत्त्वके प्रति अनेकद्रव्यको कारणतारूपही अनुकूलतर्क प्रसिद्ध है । शंका–इसी क्रमसे उन अवयवोंकी धाराभी सिद्ध हो तो क्या हानि है?समाधान–अनवस्थारूप दोषके भयसे तथा मेरु सर्सोंके साम्यप्रसंगके भयसे अवयवोंकी धारा माननी अनुचित है इससे अणुपरिमाणकी विश्रांतिकी अवधि परमाणुनामक पदार्थ सिद्ध हुआ.

सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

सा च त्रिधेति । सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिविधा शरीरेंद्रियविषयभेदादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

भाषा–वह कार्यरूपा पृथ्वी शंरीरभेदसे तथा इंद्रियभेदसे तथा विषयभेदसे तीन प्रकारकी है ॥ ३७ ॥

तत्र देहमुदाहरति, योनिजादीति–

भाषा–उनमें 'योनिजादि' इत्यादि ग्रंथसे मूलकार देहके भेदको दिखलाता है–

योनिजादि भवेद्देहं–

योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः ।

भाषा–योनिज तथा अयोनिजभेदसे वह देह दो प्रकारका है.

योनिजमपि जरायुजमण्डजं च । जरायुजं मानुषादीनाम्, अण्डजं सर्पादीनाम् । अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः, उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः । नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम् ।

भाषा–योनिजशरीरभी जरायुज तथा अण्डजभेदसे दो प्रकारके हैं. उनमें पुरुषादिकोंके शरीर जरायुज कहे जाते हैं; तथा सर्पादिकोंके शरीर अण्डज कहे जाते हैं तैसे अयोनिज शरीरभी स्वेदज तथा उद्भिज्ज भेदसे दो प्रकारके हैं. पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले कीटदंशादिक जीव स्वेदज कहेजातेहैं; तथा भूमिके भेदनसे उत्पन्न होनेवाले

वृक्षलतादिके शरीर उद्भिज्ज कहे जाते हैं. नरकमें होनेवाले जीवोंके शरीरभी अयोनिजहीं हैं; याते पृथक् परिगणन नहा किये.

न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यम्, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात् । न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यम्, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात् । न च तर्हि जलत्वादिकमेवास्तु, न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यम् । क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः । तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् ।

शंका-पूर्वोक्त पुरुषादिकोंके शरीर पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले हैं इसमें क्या प्रमाण है?समाधान-पुरुषादिकोंके शरीर पार्थिव हैं; गन्धवाले होनेसे किंवा शुक्लेतररूपवाले होनेसे 'घटादिवत्' इत्याकारक अनुमानही प्रमाण है. शंका-पुरुषादि शरीरोंमेंही कदाचित् स्वेदादिसे गीलापना और कदाचित् ज्वरादिकोंसे उष्णता प्रतीत होतीहै, इससे पुरुषादि शरीरोंको जलसे उत्पन्न होनेवाले किंवा तेजसे उत्पन्न होनेवालेभी कहना चाहिये. समाधान-ऐसा माननेसे जलत्व जातिका तथा पृथ्वीत्व जातिका परस्पर संकर होगा. शंका-यदि ऐसाही है तो इन शरीरोंको जलसे वा तेजसे उत्पन्न होनेवाला माननाही उचित है और पार्थिव मानना व्यर्थ है.समाधान शरीरसे गीलेपनेके विनाशके पश्चात् किंवा उष्णताके विनाशके पश्चात्भी पुरुषादि शरीरोंमें 'यह वही देवदत्तका शरीर है.' इत्याकारक शरीरत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान होताहै और गन्धके तथा श्वेतेतररूपादिकोंके उपलाभ होनेसे पुरुषादिशरीरोंमें पार्थिवत्व निश्चय होताहै, पुरुषादिशरीरोंको पार्थिव सिद्ध होनेसे इनमें जलादिभूतोंको निमित्तकारणमात्र जानना चाहिये. पुरुषादिशरीरोंमें पाञ्चभौतिकत्वव्यवहारभी पञ्चभूतजन्यत्वमात्रको लेकर है किन्तु उपादान तात्पर्यस नहीं है ।

शरीरत्वं न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात्, किंतु चेष्टाश्रयत्वम् । वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्तिः । नच वृक्षादीनां शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम् । आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य

---

१ यहां संकरका प्रकार ऐसा है कि पृथ्वीत्वधर्मको छोडकर शरीरत्वधर्म जलादिशरीरोंमें है ऐसे शरीरत्वधर्मको छोडकर पृथ्वीत्व घटादिकोंमें है एवं दोनों धर्मोंका समावेश मानुषादिशरीरोंमें है याते पूर्वोक्तसंकरका लक्षणसमन्वय हो सकता है ।

प्रमाणत्वात् । तत्रैव किं मानमिति चेत्, भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात् ।

भाषा-पृथ्वीत्वादिजातियोंके साथ संकर होनेसे शरीरत्व जाति नहीं है,किंतु उपाधि है, चेष्टाके आश्रयका नाम शरीर है यह उसका निर्वचन है.(चेष्टा)क्रियाका व्याप्य जातिविशेष है, सो "चेष्टते२" इत्यादि व्यवहारसे प्रत्यक्ष सिद्ध है वह चेष्टा वृक्षादि शरीरोंमेंभी है याते उनमें अव्याप्ति नहीं है. शंका-वृक्षादिकोंके शरीर होनेमें क्या प्रमाण है?समाधान-वृक्षादिकोंमें प्राणवायुका सम्बन्ध ही उनके शरीर होनेमें प्रमाण है. शंका-वृक्षादिकोंमें प्राणवायुका सम्बन्ध है, इसीमें क्या प्रमाण है?समाधान-१ वृक्षादिके स्वयं फूटनेसे. २तथा वृक्षादि शरीरोंमें स्वयं (विस्फोट) गूमडा होजानेसे, ३ एवं वृक्षदिके परस्पर एक दूसरेपर संरोहण होजानेसे, ४ तथा वृक्षादिके वर्द्धनसे वृक्षादिकोंमें प्राणवायुका अनुमान होता है.

यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति, तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् । न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशे प्रमाणाभावात् । अथवा चेष्टावदन्त्यावयविमात्रवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं तत्, मानुषत्वचैत्रत्वजातिमादाय लक्षणसमन्वयः । न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावात् । जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यम् । कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात् ॥

शंका-पूर्वोक्त क्रियाविशेषरूप चेष्टा हस्त पादादिकोंमेंभी रह सकती है परन्तु वहां शरीरव्यवहार कोई नहीं करता. समाधान-यदि ऐसा है तो "अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वम्" ऐसा लक्षण करनेसे दोष नहीं, द्रव्यान्तरके अनारम्भकका नाम 'अन्त्यावयवी' है ऐसा शरीर है, हस्तपादादि नहीं हैं. शंका-जिस शरीरमें चेष्टा नहीं

---

१ देवत्वधर्मभी संकरदोषसे दूषित होनेसे जातिरूप नहीं है. उसका प्रकार यह है कि, देवत्व धर्मको छोडकर तैजसत्व धर्म स्वर्णादि तैजस पदार्थोंमें रहता है. एवं तैजसत्वधर्मको छोडकर देवत्व जलीय देवोंमें है. उभयका समावेष तैजसदेवोंके शरीरमें है. इसीलिये देवत्वधर्म जातिरूप नहीं है ।

उत्पन्न हुई उसमें पूर्वोक्तलक्षणकी अव्याप्ति होगी. समाधान–ऐसे शरीरमें प्रमाण नहीं है, शंका–मृतशरीरमें चेष्टा नहीं है परन्तु शरीर व्यवहार होता है, समाधान–यदि ऐसा है तो चेष्टावाला जो अन्त्यावयवी उसमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी व्याप्य (मानुषत्व आदिजाति)तादृश जातिमत्त्वपूर्वोक्तलक्षणका विवरण करना उचित है,ऐसा जातिघटित लक्षण करनेसे दोष नहीं. मानुषत्व चैत्रत्वादि जातिको लेकर लक्षणसमन्वय हो सकता है, शंका–नृसिंहके शरीरमें कैसे लक्षणसमन्वय होगा?वहां 'नृसिंहत्व' धर्मको एकव्यक्तिमें रहनेवाला होनेसे जातिरूपता नहीं है, समाधान–नृसिंहशरीरमें देवत्वजातिको लेकर लक्षणसमन्वय हो सकता है. शंका–जलीयशरीरोंमें तथा तैजसशरीरोंमें वर्तनेवाला होनेसे देवत्वधर्मभी जातिरूप नहीं है, समाधान–कल्पकल्पन्तरोंके भेदसे नृसिंहके शरीरोंकोभी अनन्त होनेसे लक्षणसमन्वय हो सकता है।

–इन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।

इन्द्रियमिति । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः ।

भाषा–इन्द्रियोंमेंसे घ्राण नामक इन्द्रिय पृथ्वीसे उत्पन्न होता है.

पार्थिवत्वं कथमिति चेत् । इत्थम् । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत् । नच दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यम् । परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् ।

शंका–'घ्राणइन्द्रिय पार्थिव है' इसमें क्या प्रमाण है ? समाधान–जैसे कुंकुम (केसर)के गन्धका अभिव्यंजक गोघृत कुंकुमके रूपादिकोंका अभिव्यंजक न होकर केवल कुंकुमके गन्धकाही व्यंजक है और पार्थिवभी है, वैसेही घ्राणइन्द्रियभी रूपादिकोंके मध्यमें केवल गन्धकाही व्यंजक होनेसे पार्थिव सिद्ध होता है शंका–घृतरूप दृष्टान्त कुंकुमयोगसे उसके गन्धका व्यंजक होकर अपने रूपकाभी व्यंजक है, इसलिये पूर्वोक्त हेतु दृष्टान्तमें स्वरूपासिद्ध है, समाधान–परकीयरूपादिकोंके अव्यंजक होकर केवल गन्धकेही व्यंजक होना पूर्वोक्त हेतुका अर्थ है, ऐसा हेतु घृतरूप दृष्टान्तमें सिद्ध है,क्योंकि घृत अपनेसे पर कुंकुमके रूपादिकोंका व्यंजक न होकर केवल गन्धकाही व्यंजक है.

न च नवशरावगन्धव्यञ्जकजलेनैकान्तिकत्वमिति वाच्यम्, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात् । यद्वा परकीयेति न देयं वायूपनी-

तसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात् । न च घ्राणेन्द्रियसान्निकर्षस्य गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात्तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् ॥

शंका–पूर्वोक्त हेतु जलमें व्यभिचारी है; क्योंकि जलभी नवीन शराव (प्याले) के गन्धकाही व्यंजक है. समाधान–नवीन शरावके गन्धका व्यंजक जल केवल गन्धकाही व्यंजक नहीं है, किन्तु संक्तु (सत्तू) के रसकाभी व्यंजक है; याते पूर्वोक्त हेतु जलमें व्यभिचारी नहीं अथवा लाघवानुरोधसे पूर्वोक्त हेतुमें 'परकीय' यह पद न देना और घृतको दृष्टान्त भी न रखना चाहिये. वायुवेगसे देशान्तरमें प्राप्त जो पुष्पादिकोंके सुगन्धित भाग वे दृष्टान्त बन सकते हैं; क्योंकि वे रूपादिकोंके मध्यमें केवल गन्धकेही व्यंजक हैं और पार्थिव भी हैं. शंका–घ्राणइन्द्रियका जो अपने गन्धरूप विषयके साथ 'स्वसंयुक्तसमवाय' संबन्ध है उसको केवल गन्धकाही व्यंजक होनेसे उसी संबन्धमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा. समाधान–पूर्वोक्त हेतुमें 'द्रव्यत्वे सति' यह विशेषण देना उचित है अर्थात् द्रव्य होकर रूपादिकोंके मध्यमें गन्धकाही व्यंजक होना चाहिये. एवं पूर्वोक्त संबन्ध द्रव्य नहीं. याते दोष नहीं.

विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥३८॥

भाषा–द्व्यणुकादिसे लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त विषयरूपा पृथ्वी है ॥ ३८ ॥

विषय इति । उपभोगसाधनं विषयः । सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टाधीनम् । यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात् परम्परया वा जनयत्येव । न हि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्य चिदुत्पत्तिरस्ति, तेन द्व्यणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति । शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः ॥ ३८ ॥

भाषा–सुखदुःखसाक्षात्कारके प्रयोजनका नाम विषय है, साक्षात् अथवा परंपरासंबन्धसे कार्यसंपादकका नाम प्रयोजक है, सम्पूर्ण कार्यसमुदाय जीवोंके अदृष्टोंके अधीन है, जो कार्य जिस जीवके जिस अदृष्टके अधीन है वह कार्य उसी जीवको उसी अदृष्टके अनुसार साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्धसे सुखदुःख साक्षात्कारका प्रयोजक होता है, इस संसारमें कारण अथवा प्रयोजनसे विना किसी वस्तुकी भी उत्पत्ति नहीं है; याते द्व्यणुकादिसे लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सम्पूर्ण विषय हो सकता है, विषयके पूर्वोक्त लक्षणानुसार यद्यपि शरीर तथा इन्द्रियकी

गणना भी विषयकेही अन्तर्भूत करनी उचित है तथापि जुदा परिगणन केवल शिष्यलोगोंकी बुद्धिविशदार्थ है ॥ ३८ ॥

जलं निरूपयति, वर्णः शुक्ल इति—

भाषा—'वर्णः शुक्ल' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार जलका निरूपण करता है—

वर्णः शुक्लः—

भाषा—जलका शुक्ल अर्थात् सफेद वर्ण है.

स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्व जातिः सिद्ध्यति। यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकम्, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम्। अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्, तत्र जन्यस्नेहाभावात्। नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत्, न। जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः। शुक्लरूपवत्त्वमेव दर्शयितुमुक्तं 'वर्णः शुक्ल' इति। न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम्।

भाषा—स्नेहरूप कार्य्यकी समवायिकारणताकी अवच्छेदक होनेसे जलत्वरूपा जाति सिद्ध है, यद्यपि स्नेहत्वरूप धर्म नित्य जल तथा अनित्य जल उभयमें वृत्ती होनेसे कार्यताका अवच्छेदक नहीं हो सकता तथापि जन्यस्नेहत्वरूप धर्मकार्यताका अवच्छेदक जानना चाहिये. शंका—परमाणुओंमें जलत्वजातिकी सिद्धि न होगी; क्योंकि वहां जन्य स्नेह नहीं है, यदि स्नेहरूप कार्य्यके प्रति जलीयपरमाणुओंमें स्वरूपयोग्यतारूप कारणता माने तो उस स्वरूपयोग्यतारूप कारणतासे कदाचित् फलभी

---

१ 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नस्नेहत्वावच्छिन्नस्नेहनिष्ठकार्य्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जलनिष्ठा समवायिकारणता सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इत्यादि।

२ 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यस्नेहत्वावच्छिन्नजन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपिता। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जन्यजलनिष्ठा समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इत्यादि।

३ 'एवं समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यजलत्वावच्छिन्नजन्यजलनिष्ठाजन्यतानिरूपिता तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्ना या शुद्धजलनिष्ठा समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इत्यादि [इन प्रयोगोंसे शुद्धजलत्वजातिकी सिद्धि होती है]

अवश्य होना चाहिये, सो तो नहीं होता; याते स्नेहरूप कार्यकी समवायिकारणताकी अवच्छेदक एक अनुगत जलत्व जातिकी सिद्धि नहीं हो सकती. समाधान-जन्य स्नेहनिष्ठ जन्यता निरूपित जो जन्यजलनिष्ठा जनकता तादृश जनकताकी अवच्छेदक होनेसे जन्यजलमें जलत्वजाति सिद्ध हुए पश्चात् जन्यजलानिष्ठ जन्यतानिरूपित जो शुद्ध जलनिष्ठा जनकता तादृश जनकताकी अवच्छेदक होनेसे शुद्ध जलत्वजातिकी सिद्धि होती है, जलका रूप श्वेत है, केवल यह दिखलानेके लिये मूलमें " वर्णः शुक्लः " यह पाठ लिखा है; किन्तु श्वेतरूपवत्त्व जलका लक्षण नहीं है.

अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः । तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः ।

भाषा-अथवा नैमित्तिक द्रवणवाले जो 'पृथिवी तेज' उनमें न वर्तनेवाली तथा रूपवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य 'जलत्व' जाति तादृश जातिवाले होना जलका लक्षण है;किंवा अप्रकाशक श्वेतरूपसे इतर जो'नीलपीतादि तथा प्रकाशक श्वेतरूप' उनका असमानाधिकरण होकर रूपवद् जो जल उसमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जलत्वजाति तादृश जातिमत्ताही पूर्वोक्त " वर्णः शुक्लः " इस ग्रन्थका अर्थ है, एवं लक्षण करनेसे स्फटिकमणिआदिमें अतिव्याप्ति नहीं है,अन्यथा शुक्ल वर्णवत्त्वेन स्फटिकमणिरूप पृथिवीमें अतिव्याप्ति स्पष्टही थी.

-रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।

भाषा-जलमें रस तथा स्पर्श यथाक्रम मधुर तथा शीतल है.

रसस्पर्शाविति । जलस्य मधुर एव रसः । शीत एव स्पर्शः । तिक्तरसवद्वृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः, तेन शर्करादौ नातिव्याप्तिः । ननु शुक्लरूपवत्त्वमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलोपलब्धेरिति चेत्, न । नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नीलरूपासम्भवात् । कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी । अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः ।

भाषा-अर्थात् जलमें रस मधुरही है, तथा स्पर्श शीतही है, इसका भी तिक्तादि रसवालेमें न वर्तनेवाली तथा मधुररसवालेमें वर्तनेवाली जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जलत्वजाति तादृश जातिमत्ता जलका लक्षण है, ऐसा जातिघटित लक्षण करना उचित है, ऐसा कहनेसे चीनी शक्कर आदिमें अतिव्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि ये पार्थिव हैं, इनमें रहनेवाली पृथ्वीत्व जाति तिक्तादिरसवालेमें न वर्तनेवाली नहीं है, किन्तु वर्तनेवालीही है; याते जातिघटित लक्षणकी वहां प्रसक्ति नहीं है, शंका - 'जलका शुक्लही रूप है,' यह कैसे निश्चय किया जावे ? क्योंकि यमुनाके जलमें नीलरूप भी दिखाई देता है, समाधान-नीलरूपनिष्ठ जन्यता निरूपिता जो जनकता तादृश जनकताकी अवच्छेदक जो पृथिवीत्वजाति उसका जलमें अभाव होनेसे जलमें नील रूपका सम्भव नहीं हो सकता, यमुनाके जलमें नीलरूपकी प्रतीति तो पृथ्वीसम्बधसे औपाधिकी है अर्थात् नीचेकी पृथ्वी नीली है उसीकी नीलता जलमें दीख पड़ती है, इसीसे यमुनाके जलको यदि ऊपरको फैंके तो श्वेत प्रतीत होता है.

अथ जले माधुर्यें किं मानं, नहि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रानुभूयते, नच नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् । तस्याश्रयोपाधिकत्वात् । अन्यथा जम्बीरजलादावम्लादिरसोपलब्धेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत्, न । हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात् । नच हरीतक्यामेव जलोष्णसंयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यम् । कल्पनागौरवात् ।

शंका-जलक मीठेपनेमें क्या प्रमाण है ? रासनज प्रत्यक्षसे तो जलमें किसी रसकी भी प्रतीति नहीं होती यदि कहो कि नारियल तथा इक्षु आदिका जल मधुर ही होता है, तो युक्त नहीं; क्योंकि वह मधुरता पृथ्वी सम्बन्धसे पृथ्वीकीही है जलकी नहीं. (अन्यथा) निम्बु गरगलादिके रसमें अम्ल (खट्टा) रसभी प्रतीत होता है वहभी जलमें मानना चाहिये. समाधान--जलमें अनुद्बुद्ध मधुर रस है,हरीतकी(हरड) या आमला खानेके पश्चात् जल पीनेसे उसमें मधुरता उद्बुद्ध होती है. शंका-जल तथा ऊष्मा (मुखकी भाफ) के सम्बन्धसे हरीतकीमेंही रसान्तरकी उत्पत्ति मान लीजाय तो क्या दोष है? समाधान-कल्पनागौरव है, अर्थात् फलादिरूप पृथ्वीमें रसकी उत्पत्ति तेजःसंयोगसे देखी जाती है और यदि पूर्वोक्त हरीतकीके उदाहरणके अनुरोधसे जलके संयोगकोभी पृथिवीरसका उत्पादक माना जाय तो यह एक जुदा कार्य्यकारणभाव माननेमें कल्पनागौरव है.

पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जलेनाम्लादिकम्। जम्बीररसादौ त्वाश्रयोपाधिकी तथा प्रतीतिः। एवं जन्यशातिस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वम्, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वमिति बोध्यम्। घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततरसलिलस्यैव। तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासम्भवात्।

भाषा--अम्लादिनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्व पृथ्वीत्वको है; याते अम्लादिक जलके धर्म नहीं हैं, निम्बु गरगलादिके रसमें अम्लप्रतीति तो स्वसमवायिसंयोग सम्बन्धसे है याते औपाधिकी है. ऐसे जन्यशीतस्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदक जन्य जलमें जलत्वजाति है और जन्यजलनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदक शुद्ध जलत्व जाति है. शंका--घिसेहुये चन्दनकाभी तो शीत स्पर्श होताहै याते जलका लक्षण चन्दनमें अतिप्रसक्त होगा. समाधान--चन्दनमें शीतलता प्रतीति चन्दनान्तर्गत जलकीही है, चन्दन शीतल नहीं है, अग्नि आदिके संयोगसे जलमें उष्णताकी प्रतीति तो औपाधिकी स्पष्टही है, जलमें पाक तो होही नहीं सकता.

स्नेहस्तत्र--

भाषा--स्नेह अर्थात् चिकनापना जलमेंही रहता है.

स्नेहस्तत्रेति। घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहो जलस्य स्नेहसमवायिकारणत्वात्। तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम्।

भाषा--घृतादिकोंमेंभी स्नेह घृतान्तर्वर्ती जलकाही है, क्योंकि स्नेहकी समवायिकारणता जलमेंही सिद्ध है इससे जलमेंही स्नेहका मानना उचित है.

द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्॥ ३९॥

भाषा--द्रवणगुण जलमें स्वाभाविक स्वीकार किया है॥ ३९॥

द्रवत्वमिति सांसिद्धकद्रवत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धस्तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः। तैलादावपि जलस्येव द्रवत्वम्, स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति३९॥

भाषा--स्वाभाविक द्रवणमें स्वाभाविक द्रवत्वरूपा जातिविशेष तो प्रत्यक्षही सिद्ध है. स्वाभाविक द्रवत्वावच्छिन्न जन्यतानिरूपित जनकताकी अवच्छेदकभी

वही स्वाभाविक द्रवत्वरूपा जाति है. तैलादिकोंमेंभी द्रवणगुण जलकाहीहै स्नेहगुण-की अधिकतासे दहनानुकूलता तैलमें है, इस वार्ताको ग्रंथकार आगे कहेगा॥३९॥

नित्यतादि प्रथमवत्-

भाषा-जलमें नित्य अनित्यादि यावत् व्यवहार प्रथमवत् करने चाहिये.

प्रथमवदिति । पृथिव्या इवेत्यर्थः । तथाहि । जलं द्विविधं नित्य-मनित्यं च । परमाणुरूपं नित्यम्, द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयव-समवेतं च । अनित्यमपि त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ।

भाषा-अर्थात् पृथ्वीवत् जलभी नित्य अनित्य भेदसे दो प्रकारका है, जो नित्य है वह परमाणुरूप है, शेष द्व्यणुकादिरूप संपूर्ण अनित्य है तथा अवयवोंमें समवायसंबन्धसे रहता है, शरीरभेदसे तथा इंद्रिय भेदसे तथा विषयभेदसे अनि-त्यभी तीन प्रकारका है.

पृथिवीतो यो विशेषस्तमाह, किंत्विति-

भाषा-'किन्तु' इत्यादि ग्रंथसे पृथ्वीसे जो विशेष है वह कहता है-

-किंतु देहमयोनिजम् ।

भाषा-पृथ्वीसे जलमें इतना भेद है कि जलका शरीर योनिसे पैदा नहीं होता.

अयोनिजमिति । अयोनिजमेवेत्यर्थः । जलीयं शरीरमयोनिजं वरुणलोके प्रसिद्धम् ।

भाषा-जलसे उत्पन्न होनेवाला शरीर योनिसे पैदा नहीं होता यह वार्ता वरुण लोकमें प्रसिद्ध है.

इन्द्रियं रसनं-

भाषा-जलसे उत्पन्न होनेवाला इंद्रिय रसना है.

इन्द्रियमिति । रसनं जलीयमित्यर्थः । तथाहि रसनं जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् । सक्तुरसाभिव्यञ्जको-दकवत् । रसनसन्निकर्षे व्यभिचारणाय द्रव्यत्वं देयम् ।

भाषा-यह कल्पना अनुमानसे करी जाती है. तथाहि गंधादिकोंका न उद्बोधक होकर केवल रसकाही उद्बोधक होनेसे रसना इंद्रिय जलीय प्रतीत होताहै. दृष्टान्त-में जैसे जल सक्तुओं (सत्तुओं) के गन्धादिका न उद्बोधक होकर केवल रसकाही उद्बोधक है, गंधादिकोंका न उद्बोधक होकर केवल रसका उद्बोधक रसना वस्तुका

संयोगभी है, उसमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार है, उसके वारणार्थ हेतुमें "द्रव्यत्वे सति" यह विशेषण देना उचित है, अर्थात् द्रव्यत्वे सति गन्धादिकोंका न उद्बोधक होकर केवल रसका उद्बोधक होनेसे रसना इन्द्रिय जलीय है.

विषयं दर्शयति, सिन्धुरिति--

भाषा-'सिन्धु' इत्यादि ग्रन्थसे विषयको दिखलाता है—

-सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥ ४० ॥

भाषा-समुद्र, तुषार (बर्फ), आदि पदसे नदी, सरोवर, करका (गड़ा), ये सम्पूर्ण जलीय विषय हैं ॥ ४० ॥

सिन्धुः समुद्रः। हिमं तुषारः। आदिपदात् सरित्कासारकरकादिः सर्वो ग्राह्यः।

नच हिमकरकयोः कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्। ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यमिति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः। अदृष्टविशेषेण द्रवत्वप्रतिरोधात् करकादीनां काठिन्यप्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्[१] ॥४०

शंका-हिमकरकादि कठिन स्पर्शवाले होनेसे पार्थिव प्रतीत होते हैं, समाधान-तेजःसंयोगसे विलीन (गले) हुये हिमकरकादि जलरूपसे साक्षात् प्रतीत होते हैं, जो (जलरूप) द्रव्य जिस (हिमकरकादि) रूप द्रव्यके ध्वंससे उत्पन्न हो वह (जल रूप) द्रव्य उस (हिमकरकादिरूप) द्रव्यका उपादानरूपेण (उपादेय) ग्रहण होता है, इस व्याप्तिसे हिमकरकादि जलसे अतिरिक्त पदार्थ नहीं है हिमकरकादिमें द्रवणका प्रतिरोध जीवोंके हानिलाभकारक अदृष्टविशेषसे है, तथा कठिनस्पर्शकी प्रतीति भ्रांतिसिद्ध है ॥ ४० ॥

तेजो निरूपयति, स्पर्श उष्ण इत्यादिना-

भाषा-'स्पर्श उष्ण' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार तेजका निरूपण करता है-

स्पर्श उष्णस्तेजसस्तु-

भाषा-जिसका स्पर्श उष्ण हो वह तेजःपदार्थ है।

उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। इत्थं च जन्यो-

---

१ भ्रान्तित्वं नामातात्त्विकान्यथाभावेन वस्त्ववगाहनत्वम्।

ष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः। तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसन्धेयम्। न चोष्ण-स्पर्शवत्त्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यम्। तत्राप्युष्णस्य सत्त्वात्। किन्तु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः। एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः।

भाषा—उष्णस्पर्शमें रहनेवाला (उष्णत्व) धर्म स्पर्शनिष्ठ जातिविशेष प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस रीतिसे जन्य उष्णस्पर्शनिष्ठ कार्यतानिरूपिता जो तेजोनिष्ठा समवा-यिकारणता तादृश कारणताकी अवच्छेदक तेजस्त्व जाति विशेष है, उस तेजस्त्व जाति विशेषकी परमाणुओंमें सिद्धि पूर्वोक्त जलत्वजातिकी तरह जाननी चाहिये अर्थात् तेजःपरमाणुओंमें जन्य उष्णस्पर्श नहीं है, इसलिये जन्य स्पर्शनिष्ठ जन्यता-निरूपित जनकताकी अवच्छेदक परमाणु साधारण तेजस्त्व जाति सिद्ध नहीं होसकती; किन्तु जन्यस्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्व रूपसे जन्यते-जस्त्वजातिकी सिद्धि और जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्व रूपसे शुद्ध तेजस्त्व जातिकी सिद्धि होती है, शंका—उष्णस्पर्शवत्ता चन्द्रकिरणा-दिकोंमें अव्याप्तिग्रस्त है समाधान—चन्द्रकिरणादिमें उष्णस्पर्श है तो सही परन्तु चन्द्रकिरणोंके बीच जल भी रहता है, जलके स्पर्श दबा रहता है इसलिये ग्रहण नहीं होता, ऐसे ही रत्नभी तेजःपदार्थ है, उनका उष्णस्पर्श पार्थिवस्पर्शसे तिरस्कृत है और नेत्रादिमें अनुद्भूत (अनुद्बुद्ध) स्पर्श है इसलिये प्रत्यक्ष नहीं होता।

—स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।

भाषा—तेजःपदार्थका रूप श्वेत तथा प्रकाशवान् है।

रूपमित्यादि। वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभ-वाच्छुक्लत्वाग्रहः। तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत् न। अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्रहसम्भवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना। वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं किंतु तदीयं शुक्ल-त्वमभिभूतमित्यन्ये।

भाषा—प्रज्वलित अग्निमें तथा मणिकिरणादिमें जो रक्त (लाल) रूप दिखाई देता है वह पृथिवीका है, पार्थिवरूपसे तेजका वास्तवश्वेतरूप तिरस्कृत है; याते प्रत्यक्ष नहीं होता, शंका—यदि तेजका वास्तवरूप ग्रहण नहीं होता तो

उस रूपके धर्मी अग्नि आदिका भी ग्रहण न हुआ चाहिये. समाधान-धर्मीका ग्रहण रूपान्तरसे भी हो सकता है, जैसे पित्तदोषदूषित नेत्रोंद्वारा श्वेतशंखका पीत-रूपसे पार्थिवरूपसे अग्निका रूप तिरस्कृत (दबा हुआ) नहीं है, किन्तु अग्निके शुक्लरूपमें जो 'शुक्लत्व' जाति वह दबी है ऐसाभी कई लोग मानते हैं.

नैमित्तिकं द्रवत्वं तु-

भाषा-निमित्तसे अर्थात् अग्निसंयोगसे द्रवण तेजःपदार्थमें है.

नैमित्तिकमिति। सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात्। न च नैमित्तिक-द्रवत्वं न लक्षणं दहनादावव्याप्तेर्घृतादावतिव्याप्तेश्चेति वाच्यम्। पृथिव्यवृत्तिनैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

भाषा-सुवर्णादिरूप तेजःपदार्थमें नैमित्तिक द्रवण प्रसिद्ध है. शंका-नैमित्तिक द्रवण तेजःपदार्थका लक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि वह अग्निआदिकोंमें अव्याप्त है तथा घृतादिकोंमें अतिव्याप्त है. समाधान-पृथिवीमें न वर्तनेवाली जो नैमि-त्तिक द्रवणवालेमें वर्तनेवाली तेजस्त्वजाति तादृश जातिमत्ता यावत् तेजःपदार्थमें दिखलानेकी वक्ताकी इच्छा है; याते दोष नहीं ॥ ४१ ॥

नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थः।

भाषा-तेजःपदार्थका नित्यानित्य व्यवहार जलवत् जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

तथाहि। तद् द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपं त-दन्यदनित्यं अवयवि च। तच्च त्रिधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमयोनिजमेव, तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥

भाषा-वह यह है कि तेज दोप्रकारका है एक नित्य है, दूसरा अनित्य है. नित्य परमाणुरूप है, उससे भिन्न अनित्य है तथा अवयवजन्य है. वह अनित्य शरीरभेदसे तथा इंद्रियभेदसे और विषयभेदसे पुनः तीन प्रकारका है. तैजसश-रीर अयोनिज सूर्यलोकमें प्रसिद्ध है ॥ ४१ ॥

अत्र यो विशेषस्तमाह इन्द्रियमिति-

भाषा-'इंद्रिय' इत्यादिग्रन्थसे तेजःपदार्थमें जो औरोंसे विशेषता है वह कहता है-

इन्द्रियं नयनं-

भाषा-नेत्र इन्द्रिय तेजःपदार्थसे उत्पन्न हुआ है.

चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादाद्यं परकीयेति। घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वात् व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति। अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवादाद्यं परकीयेति न देयम्। चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

भाषा-घटपदार्थादिकोंके स्पर्शादिका न ग्राहक होकर केवल उन (घटादि) के रूपका ग्राहक होनेसे नेत्रइन्द्रिय तैजस प्रतीत होता है, जैसे प्रदीप घटादिके स्पर्शादिका ग्राहक न होकर केवल रूपका ग्राहक है और तैजस भी है, दृष्टान्तमें प्रदीपको स्वस्पर्शका ग्राहक होनेसे हेतुकी विशेषणासिद्धि वारणके लिये प्रथम 'परकीय' पद है. परकीय स्पर्शादिकोंके ग्राहक न होकर विषयतासम्बन्धसे स्वकीयरूप ग्राहकत्व घटादिपदार्थोंमें भी है; उनमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा. उस (व्यभिचार) के वारणार्थ हेतुमें दूसरे 'परकीय' पदका निवेश है, अथवा 'प्रदीप' की जगह 'प्रभा' को दृष्टान्त रक्खे तो प्रथम 'परकिय' पदके न देनेसे भी दोष नहीं, प्रभामें स्वपरस्पर्शादि ग्राहकत्व नहीं है, नेत्र घटादिके संयोगमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा इसलिये हेतुमें 'द्रव्यत्व' पदका निवेश करना चाहिये अर्थात् " द्रवत्वे सति स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् " इति।

विषयं दर्शयति, वह्नीति-

भाषा-'वह्नि' इत्यादि मूलसे ग्रन्थकार तैजसविषयको दिखलाताहै-

—वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः।

भाषा-अग्नि तथा सुवर्णादि धातु यह तैजस विषय है.

ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति चेत्, न। सुवर्णं तैजसम् असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवीति। न चाप्रयोजकं पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चाग्निसंयोगनाश्यत्वात्। ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वात्तेन व्यभिचार इति चेत्, न। जलमध्यस्थमसीक्षोदकवत्तस्याद्रवत्वात्।

शंका–सुवर्णके तैजस होनेमें क्या प्रमाण है? समाधान–किसी प्रतिबन्धकके न होनेसेभी अत्यन्त अग्निका संयोग होनेसेभी सुवर्णमें अनुच्छिद्यमान द्रवण रहताहै इसलिये जाना जाता है कि सुवर्ण तैजस है, (यन्नैवं) जो प्रतिबन्धकके न होनेसे अत्यन्त अग्निके संयोग होनेसे अनुच्छिद्यमान द्रवणवाला नहीं है अर्थात् जिसके द्रवणका उच्छेद (विनाश) होजाता है, (तन्नैवं) वह तैजसभी नहीं है;जैसे पृथ्वी है। शंका–तुम्हारा अनुमान अप्रयोजक है अर्थात् अनुकूल तर्कके अभाववाला है, याते सुवर्णके तैजस न होनेसेभी पूर्वोक्त हेतु सुवर्णमें रहे तो दोष नहीं. समाधान–घृतलाक्षादि पृथ्वीमें जो द्रवण है तथा जन्य जलमें द्रवण है वह अग्निसंयोगसे नष्ट हो जाता है. सुवर्णके द्रवणका नाश नहीं होता. यही पूर्वोक्त अनुमानमें अनुकूलतर्क है, शंका–पीतरूपके तथा गुरुत्वके आश्रय पृथ्वीके भागोंकाभी तो उस कालमें सुवर्णके साथही द्रवण होता है. उनमें पूर्वोक्त हेतुका व्यभिचार होगा. समाधान–जलके बीच घुले हुये स्याहीके चूर्णकी तरह सुवर्णमें होनेवाले पृथ्वीके पीत भागभी द्रवणयुक्त नहीं केवल जलके तथा सुवर्णके सम्बंधसे उभयत्र पार्थिव भागोंमें द्रवणकी भ्रमात्मक प्रतीति होती है.

अपरे तु पीतिमाश्रयस्यात्यन्ताग्निसंयोगेऽपि रूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयं द्रवद्रव्यं कल्प्यते । तथाहि । अग्निसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयो विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः, अत्यंताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणपार्थिवत्वात् । जलमध्यस्थपीतपटवत्, तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

भाषा–कई एक आचार्य ऐसेभी कहते हैं कि, पीतरूपके आश्रय पार्थिवभागाका अति अग्निके संयोग होनेसेभी रूप बदलता नहीं देखाजाता इसलिये अग्निसंयोगसे पार्थिवभागोंमें रूप न बदलने देनेवाला कोई विजातीय विलक्षण तथा द्रवणयुक्त द्रव्यप्रातिबंधक कल्पना करना उचितहै उस कल्पनाका प्रकार यह है कि,जैसे जलपूरित पात्रमें पीत वस्त्र डालकर अग्निपर वह पात्र रखा जाय तो अत्यन्त अग्निका संयोग होनेसेभी वस्त्रका पूर्वरूपसे विलक्षण रूप नहीं देखाजाता;वैसेही पीतरूपयुक्त तथा गुरुत्वके आश्रय सुवर्णस्थ पार्थिवभागोंमेंभी अत्यन्त अग्निसंयोग होनेसेभी पूर्वरूपसे विलक्षणरूपकी अधिकरणता प्रतीत नहीं होती. इससे जाना जाताहै कि वह सुवर्णस्थ पार्थिवभाग किसी विलक्षण तथा रूपके प्रतिबंधक द्रवणयुक्त द्रव्यके साथ मिश्रित है; वह विलक्षण द्रव्य पृथ्वी जलसे भिन्न होनेसे नियमसे तेजःपदार्थ है.

वायुं निरूपयति, अपाकज इति ।

भाषा—'अपाकज' इत्यादिग्रंथसे मूलकार वायुका निरूपण करता है—

अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२ ॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।

भाषा—अग्निसंयोगसे न उत्पन्न होनेवाला जो शीत उष्णसे भिन्न मध्यराशीका स्पर्श उसवाला वायु है ॥ ४२ ॥ यह वायु टेढ़ी गतिवाला है. स्पर्शादिक हेतुओंसे वायुका आनुमानिक ज्ञान होता है ।

अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति । अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीतेति । तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शो दर्शितः । तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः ।

भाषा—अनुष्णाशीतस्पर्शयुक्त पृथ्वीभी है; उससे वायुके लक्षणकी अव्याप्ति वारणार्थ लक्षणमें 'अपाकज' पद अनुष्णाशीतस्पर्शका विशेषण किया है. अपाकजस्पर्श जल तथा अग्निमें है; उनसे अतिव्याप्तिवारणार्थ लक्षणमें 'अनुष्णाशीत' पदका प्रवेश है. इतने कथनसे वायुमें अग्नि जल पृथ्वीसे विलक्षण स्पर्श दिखलाया है. उस विलक्षणस्पर्शनिष्ठजन्यतानिरूपित जनकता वायुमें है. जनकताका अवच्छेदक वायुत्व जाति है.

एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते, विजातीयस्पर्शेन विलक्षणशब्देन तृणादीनां धृत्या शाखादीनां कम्पनेन च वायोरनुमानात् । यथा च वायोर्न प्रत्यक्षं तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

भाषा—इस वायुका स्पर्शादि(लिंग)हेतुओंसे आनुमानिक ज्ञान होताहै. इसके अनुमापक स्पर्श,शब्द धारण और कम्पन ये चार हेतु हैं. अर्थात् विलक्षणस्पर्शसे विलक्षण शब्दसे तृणादि गुरुपदार्थोंके धारणसे वृक्षादिकोंके कंपनसे वायुका आनुमानिक ज्ञान होताहै. अनुमान रचनाका प्रकार यह है कि—जो यह रूपवाले द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे न रहनेवाला स्पर्श है वह किसीके आश्रित है. पृथ्वी समवेतस्पर्शकी तरह स्पर्श होनेसे। इति१। एवं रूपवाले द्रव्यका अभिघात न होनेसेभी जो यह पुष्पपत्रादि

कोंमें शब्द सन्तति है; वह किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्यके संयोगसे जन्य है. दण्डाभिघातसे भेरीशब्दकी तरह अवयवोंके न विभाग होनेसेभी द्रव्यसम्बन्धि शब्द सन्तति होनेसे–इति २; एवं आकाशमें तृणतुलादिकोंकी धृति किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्यके संयोगहेतुका है, नौका धृतिकी तरह अस्मदादिकोंसे अनधिष्ठित द्रव्यधृति होनेसे–इति ३; एवं रूपवाले द्रव्यके अभिघातसे विना जो तृणशाखादिमें क्रिया है वह किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्यके अभिघातसे जन्य है. नदीप्रवाहमें प्रवहित तृणक्रियाकी तरह विलक्षण क्रिया होनेसे–इति ४; जिस रीतिसे वायुका प्रत्यक्ष नहीं होना वह रीति आगे आत्मनिरूपणमें कहेगा.

पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं--

भाषा–वायुका नित्य अनित्यपना जलकी तरहही कहा है।

पूर्ववदिति। वायुर्द्विविधः, नित्योऽनित्यश्च, परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्यः समवेतश्च, सोऽपि त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्, परंतु जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगसाधनत्वं जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति।

भाषा–अर्थात् वायु नित्यानित्यभेदसे दो प्रकारका है. परमाणुरूप वायु नित्य है और कार्य्यरूप अनित्य है. तथा समवायसम्बन्धसे स्वअवयवोंमें रहता है. वह अनित्यवायुभी शरीरभेदसे, इन्द्रियभेदसे तथा विषयभेदसे तीन प्रकारका है. उनमेंसे वायवीय शरीर तो अयोनिज पिशाचादिकोंका वायुलोकमें प्रसिद्ध है; परन्तु इतना विशेष है कि जलीय शरीरोंको तथा तैजस शरीरोंको तथा वायवीय शरीरोंको भोग उपकरणता पार्थिवभागोंकी मिलावटसे है. जलीयत्व आदि व्यवहार तो जलादिकोंका प्रधानता होनेसे होता है।

अत्र यो विशेषस्तमाह, देहव्यापीति–

भाषा–'देहव्यापि' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार त्वगिंद्रियनिष्ठ विशेषताको कहता है–

–देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥ ४३ ॥

भाषा–सर्वशरीरमें व्यापक त्वगिन्द्रिय वायवीय है ॥ ४३ ॥

शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक्। तच्च वायवीयं रूपादिषु स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वादङ्गसङ्गिसलिलशैत्यव्यञ्जकव्यजनवातवत्।

भाषा—यावत् शरीरमें व्यापक तथा स्पर्शका ग्राहक त्वक्इन्द्रिय है. वह रूपादिकोंके मध्यमेंसे स्पर्शहीका ग्राहक होनेसे वायवीय है, जैसे व्यजन (पंखे) का पवन शरीरसम्बन्धि स्वेदरूप जलके केवल शैत्यहीका ग्राहक है तद्वत् ॥ ४३ ॥

विषयं दर्शयति, प्राणादिरिति

भाषा—'प्राणादि' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार वायवीय विषयको दिखलाता है—

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः ।

भाषा—प्राणादिवायुसे लेकर महावायुपर्यंत वायवीय विषय है ।

यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधस्तस्य चतुर्थी विधा तु प्राणादिरित्युक्तमाकरे । तथापि संक्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम् । प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमादिनानाक्रियावशाच्च नानासंज्ञां लभत इति ।

भाषा— यद्यपि अनित्य वायु चार प्रकारका है. उसका चौथा भेद प्राणादिवायु है, यह वार्ता प्रशस्तपादभाष्यमें लिखी है, तथापि इस ग्रन्थमें संक्षेपसे अनित्य वायुके तीन भेदही कहे हैं. प्राणवायु एकभी हृदयादि नानास्थानभेदसे तथा मुखनिर्गमनादि नानाक्रियाके भेदसे 'प्राण अपान आदि' नाना संज्ञाको लाभ करता है ।

आकाशं निरूपयति, आकाशस्येति—

भाषा—'आकाशस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आकाशका निरूपण करे है—

आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥४४॥

भाषा—शब्दात्मक विशेष गुणवाला आकाश जानना योग्य है ॥ ४४ ॥

आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादाकाशत्वादिकं न जातिः किंत्वाकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम् । वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय । एतेन प्रमाणमपि दर्शितम् ।

भाषा—आकाश काल तथा दिशाको एकं एक व्यक्ति होनेसे आकाशत्वादिधर्म जातिरूप नहीं है, किंतु समवायसम्बन्धसे शब्दका आश्रयही आकाश है. मूलकारिकामें 'वैशेषिक' यह कथन तो विशेष गुणान्तर व्यवच्छेदके वास्ते है, अर्थात् आकाशमें शब्दके सिवाय विशेष गुणान्तर नहीं है; इतने कथनसे आकाशमें प्रमाणभी दिखलाया है, वह प्रमाण अनुमान है ।

तथाहि । शब्दो विशेषगुणश्चक्षुर्ग्रहणायोग्यवहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्, शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् संयोगवत् इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणोऽग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाकारणगुणपूर्वकेति । जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति ।

भाषा–उसका प्रकार यह है कि शब्द भी स्पर्शकी तरह गुण है, नेत्रसे ग्रहणके, अयोग्य होकर बाह्य इन्द्रियसे ग्रहण योग्य शब्दत्व जातिवाला होनेसे–इति अनुमानसे शब्दको गुण न माननेवाले वैयाकरण तथा मीमांसाके मतका खण्डन किया और अग्रिम अनुमानमें स्वरूपासिद्धिका परिहारभी किया है, दूसरा अनुमान यह है कि शब्द संयोगकी तरह गुण होनेसे किसी एक द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहता है, इस अनुमानसे 'शब्द' को द्रव्यसमवेतत्वासिद्धिके पश्चात् ' शब्द ' स्पर्शवाले द्रव्योंका विशेष गुण नहीं है, सुखकी तरह अग्निसंयोगरूप असमवायिकारणत्व अभावविशिष्ट अकारणगुणपूर्वक प्रत्यक्ष होनेसे; इस अनुमानसे यह सिद्ध हुआ कि 'शब्द' पृथ्वी आदि चतुष्टयका विशेष गुण नहीं है, पृथ्वीनिष्ठ पाकजरूपका प्रत्यक्ष अकारण गुणपूर्वक है उससे प्रकृत हेतुका व्यभिचार वारणार्थ " अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति " यह सप्तमी अन्त हेतुका विशेषण कहा. पार्थिवरूपका असमवायिकारण अग्निसंयोग है, याते व्यभिचारी नहीं है, एवं यदि सप्तमी अन्तमात्र हेतु रक्खें तो पटादिके रूपमें हेतु व्यभिचारी होगा, क्योंकि पटके रूपमें अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभाव सिद्ध है, इसलिये 'अकारण गुणपूर्वक प्रत्यक्षत्व' कहा. पटके रूपका प्रत्यक्ष अकारण गुणपूर्वक नहीं है; किन्तु पटका कारणीभूत जो तन्तु उनके रूपग्रहणपूर्वक पटके रूपका प्रत्यक्ष है, याते व्यभिचार नहीं है, एवं यदि हेतुमें 'प्रत्यक्ष' पद नहीं देवे तो समग्र हेतुका व्यभिचार जलीय परमाणुओंके रूपमें होगा; क्योंकि जलीय परमाणुभी अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावविशिष्ट अकारणगुणपूर्वक है; परन्तु प्रत्यक्ष नहीं है याते व्यभिचार नहीं है–इति ॥

शब्दो न दिक्कालमनोगुणो विशेषगुणत्वात् । नात्मविशेषगुणो

---

१ जो लौकिक सम्बन्धसे इन्द्रियग्राह्य हो और लौकिक सम्बन्धहीसे द्विइन्द्रियसे ग्रहणकी योग्यता न रखताहो तथा गुणत्वव्याप्य जातिवाला हो वह 'विशेऽगुण' कहाता है. इस लक्षणके लक्ष जो विशेषगुण हैं उनका निरूपण 'बुद्ध्यादिषट्कं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं करेगा।

बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत्। इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमद्रव्यं गगननामकं सिद्ध्यतीति। न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम्। अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात्॥ ४४॥

भाषा-तत्पश्चात् 'शब्द' दिशाका तथा कालका तथा मनकाभी गुण नहीं है रूपकी तरह विशेष गुण होनेसे-इति ऐसा अनुमान करना उचित है, एवं शब्द आत्माका विशेष गुण भी नहीं है, रूपकी तरह बाह्य इन्द्रियसे ग्रहणकी योग्यतावाला होनेसे इति. इसरीतिसे शब्दका अधिकरण नवम द्रव्य 'गगन' नामक सिद्ध होता है, शंका-यदि ऐसा मानले कि वायुके अवयवोंमें प्रथम सूक्ष्मशब्द उत्पन्न होता है, पश्चात् क्रमसे स्थूलवायुमें कारण गुणपूर्वक स्थूल शब्द उत्पन्न होता है तो क्या दोष है? समाधान-पृथ्वी आदि चतुष्टयमें जो गुण रहता है वह सभी अपने आश्रयके नाश होनेसे नाश होता है और शब्द अयावत् द्रव्यभावी है अर्थात् शब्दके आश्रय द्रव्यके नाशसे जन्य जो नाश उस नाशका प्रतियोगी शब्द नहीं है; याते शब्दवायुका विशेष गुणभी नहीं है॥ ४४॥

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति, इन्द्रियमिति-

भाषा-आकाशीय शरीर तथा विषयका अभाव होनेसे 'इन्द्रिय' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार इन्द्रियको दिखलाता है।

इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रं-

भाषा-श्रवण इन्द्रिय आकाशसे उद्बुद्ध हुआ है.

नन्वकाशं लाघवादेकं सिद्धम्, श्रोत्रं तु पुरुषभेदेन भिन्नं तत्कथमाकाशं स्यादत आह, एकः सन्नपीत्यादि-

शंका-आकाश लाघवसे एक सिद्ध है और श्रोत्र पुरुषभेदसे भिन्न २ है वह कैसे आकाश हो सकता है? समाधान-'एक इत्यादि' ग्रन्थसे मूलकार समाधान लिखता है-

-एकः सन्नप्युपाधितः।

भाषा-आकाश एक भी उपाधि भेदसे भिन्न २ है.

आकाश एक एव सन्नप्युपाधेः कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद्भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः।

भाषा–एकही आकाश (कर्णशष्कुली) श्रोत्रछिद्ररूप उपाधिके भेदसे भिन्न२ श्रोत्रात्मक होता है–इति ।

कालं निरूपयति, जन्यानामिति–

भाषा–'जन्यानां' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कालका निरूपण करे हैं:

जन्यानां जनकः कालः–

भाषा–जन्य पदार्थोंका (जनक) साधारण निमित्त कारण काल है.

तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह, जगतामिति–

भाषा–जगतां 'इत्यादि' ग्रंथसे मूलकार कालमें प्रमाण दिखलाता है–

–जगतामाश्रयो मतः ॥ ४५ ॥

भाषा–वह काल सर्व जगत्का आधार है ॥ ४५ ॥

तथाहि। इदानीं घट इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं विषयीकरोति तदा सूर्यपरिस्पंदादिना घटादेः सम्बन्धो वाच्यः । स च संयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते । इत्थं च तस्याश्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥

भाषा–उसका प्रकार यह है कि "इदानीं घटः–अर्थात् इसकालमें घटहै" इत्याकारक (प्रतीति) ज्ञान यदि सूर्य्यकी क्रियाको विषय करता है तो सूर्य्यके क्रियाके साथ घटादिकोंका कोई संबंध कहना चाहिये; वह संबंध संयोगसमवाय तो नहीं है. किन्तु 'स्वाश्रयतपनसंयोगि' रूपसंबंध है. 'स्व' पदसे सूर्य्यकी क्रियाका ग्रहण है, उसका आश्रय-सूर्य्य है, उसका संयोगि काल है, उसका संयोग घटादिके साथ है. इत्याकारक संबंधका घटका मध्यपातिरचक कालही कल्पना किया जाता है. इस रीतिसे उक्त पदार्थोंसे भिन्न काल सिद्ध हुआ तो उसको पूर्वोक्त जगत्का आधार भी कहना उचित है ॥ ४५ ॥

प्रमाणान्तरं दर्शयति, परापरत्वेति–

भाषा–'परापरत्व' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कालमें प्रमाणान्तर दिखलाता है,

परापरत्वधीहेतुः–

भाषा– परत्व तथा अपरत्व बुद्धिका हेतुभी कालही है.

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव । परत्वापरत्वयो-

रसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्तः कल्प्यत इति भावः ।

शंका–ज्येष्ठभ्रातामें 'परत्व' ज्ञान होता है, तथा कनिष्ठ भ्रातामें 'अपरत्व' ज्ञान होता है. ऐसे परत्व अपरत्वके ज्ञानका असाधारण निमित्त कारण केवल 'काल' है. कालिक परत्व अपरत्वका असमवायिकारण जो काल पिण्डका संयोग उसका (अनुयोगिता संबन्धसे) आश्रय लाघवसे एक पृथक् काल कल्पना हो सकता है.

नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह, क्षणादिरिति–

शंका–कालके एकसिद्ध होनेसेभी क्षण दिवस मास वर्ष तथा युग इत्यादि भेदरूप व्यवहार नहीं होसकेगा.

–क्षणादिः स्यादुपाधितः ।

समाधान–कालमें क्षणादिव्यवहार उपाधि प्रयुक्त है.

कालस्त्वेकोऽप्युपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म । पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा । पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्न उत्तरसंयोगे प्रागभावो वा । उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा ।

भाषा–काल एकही उपाधिके भेदसे क्षणादिव्यवहारका विषय होसकताहै. उपाधि तो यहां 'स्व' शब्दसे क्रियाका ग्रहण है. सूर्यनिष्ठा किंवा मूर्तमात्रनिष्ठा जो क्रिया उस क्रियासे जन्य जो विभाग उस विभागका जो प्रागभाव उस प्रागभावावच्छिन्न कर्मरूपहै १। अथवा पूर्वसंयोगावच्छिन्न विभागरूप है२। अथवा पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्न उत्तरसंयोगप्रागभावरूप है ३ । किंवा उत्तरसंयोगावच्छिन्नकर्मरूप है ४ ।

न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यम् । कर्मान्तरसत्त्वादिति । महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदाऽनायत्या ध्वंसेनोपपादनीयः । दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति ।

शंका–एक क्रियासे पूर्वोक्त उपाधि उपहित चारक्षणोंमें उत्तरसंयोग हुआ. पुनः उसके पश्चात् क्रियाकी समाप्ति होनेसे क्षणादिव्यवहार नहीं होना चाहिये. समाधान–

एक क्रियाकी समाप्तिके पश्चात् उसी मूर्तद्रव्यमें क्षणादिव्यवहारकी नियामिका क्रियान्तर उत्पन्न होती है. सिद्धान्त तो यह है कि महाप्रलयमें क्षणादिव्यवहार नहीं होता, परन्तु यदि कोई महाप्रलयमेंभी क्षणादिव्यवहार किया चाहे तो वहां सिवाय 'तत् तत्' पदार्थ ध्वंसके और कोई उपाधि नहीं बनसकती अर्थात् (अनायत्या) उपायान्तरके अभाव होनेसे महाप्रलयकालमें क्षणव्यवहारका नियामक 'तत् तत्' पदार्थका ध्वंसही है, दिवस मासादि व्यवहार उन क्षणोंके समुदायविशेषोंसे होता है इति।

दिशं निरूपयति, दूरान्तिकेति--

भाषा-'दूरान्तिक' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दिशाका निरूपण करता है-

दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥ ४६ ॥

भाषा-पदार्थोंमें दूर तथा समीप बुद्धिका नियामक एक तथा नित्य 'दिशा' पदार्थ है ॥ ४६ ॥

दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम् । तद्बुद्धेरसाधारणं बीजं दिगेव । दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया दिक् सिद्ध्यतीति भावः ॥ ४६ ॥

भाषा-दूरता तथा समीपता दैशिक परत्व अपरत्वरूपा जाननी चाहिये । (तद्बुद्धेः) दैशिकपरत्व अपरत्वबुद्धिका असाधारणरूपसे 'दिशा' है दैशिकपरत्व अपरत्वका असमवायिकारण जो दिशाका तथा वस्तुका संयोग उसका (अनुयोगितासम्बन्धसे) आश्रयलाघवसे एक पृथक् दिशा पदार्थ सिद्ध होता है ॥ ४६ ॥

नन्वेकैव दिग् यदि तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह, उपाधीति--

शंका-दिशा पदार्थ यदि एक है तो उसमें 'प्राची' तथा 'प्रतीची' इत्यादि व्यवहार कैसे होगा ?

उपाधिभेदादेकाऽपि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

समाधान-वह दिशा एकही उपाधियोंके भेदसे 'प्राची प्रतीची' इत्यादि संज्ञाको लाभ करती है ।

यत्पुरुषस्योदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य प्राची । उदयगिरिव्यवहिता च प्रतीची । एवं तत्पुरुषीयसुमेरुसन्निहिता

दिगुदीची । तद्व्यवहिता त्ववाची । सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थित इति नियमात् ।

भाषा-१ जिस पुरुषसे जो देश उदयाचलके समीप है वह देश उस पुरुषकी अपेक्षासे 'प्राची' दिशा है, २ इस प्रकरणमें 'पुरुष' पद वस्तुमात्रका बोधक है, एवं जिस पुरुषसे जो देश अस्ताचलके समीप है वह देश उस पुरुषकी अपेक्षासे 'प्रतीची' दिशा है, ३ एवं जिस पुरुषसे जो देश सुमेरुपर्वतके समीप है वह देश पुरुषकी अपेक्षासे 'उदीची' दिशा है, ४ एवं (तद्व्यवहिता) सुमेरुपर्वतसे व्यवधानवाला जो देश है अर्थात् पूर्वमुख स्थित पुरुषके दहिने हाथका जो देश है वह उस पुरुषकी अपेक्षासे 'अवाची' दिशा है, जम्बूद्वीपके जो भारतादि ९ वर्ष (खण्ड) उन सबके उत्तर भागमें सुमेरुकी स्थिति नियमसे रहती है याते पूर्वोक्तग्रन्थ सम्यक् हैं-इति ।

आत्मानं निरूपयति, आत्मेन्द्रियेति ।

भाषा-'आत्मेन्द्रिय' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आत्माका निरूपण करे है-

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता-

भाषा-इन्द्रिय तथा शरीरादिक धारण करनेहारा आत्मा है ।

आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति । ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव, अदृष्टादिरूपकारणाभावात्तु न सुखदुःखाद्युत्पत्तिः, नित्यस्य स्वरूपयोगत्वे फलावश्यम्भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात् ।

भाषा-सुख दुःख ज्ञान इच्छादि कार्योंकी समवायिकारणताका अवच्छेदक जो आत्मत्वरूप धर्म तद्रूपसे आत्मत्वजातिकी सिद्धि होती है, वह आत्मत्वजाति ईश्वरमें भी रहती है, अदृष्ट तथा शरीररूप कारणके अभावसे ईश्वर आत्मामें सुख दुःखादिकी उत्पत्ति नहीं है, यदि कहो कि, नित्यआत्मामें स्वरूप योग्यतारूप सदा रहती है याते कदाचित् सुखादिउत्पत्तिरूप फलभी अवश्य होना चाहिये, तो यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि यह नियम जलके परमाणुओंमें व्यभिचारी होनेसें दूषित है, अर्थात् जलीयपरमाणुओंमें स्वरूपयोग्यतारूप कारणता होनेसेभी स्नेहकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु नित्य है, याते "नित्यस्य" इत्यादि नियम अप्रयोजक अर्थात् कारणताका संपादक नहीं है ।

परे त्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव, प्रमाणाभावात् । नच दशम-

द्रव्यत्वापत्तिः । ज्ञानवत्त्वेन विभजनादिति वदन्ति इन्द्रियादीति । इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्यसम्पादकः ।

भाषा—कई नैयायिक कहते हैं कि—ईश्वरमें 'आत्मत्व' जातिके माननेमें प्रमाणका अभाव होनेसे ईश्वरमें 'आत्मत्व' जाति नहीं है. शंका—उनके मतमें ईश्वरको दशम द्रव्य मानना होगा. समाधान—वे आचार्य आत्माका और द्रव्योंसे विभाग (समवायेन) ज्ञानवत्त्वरूपसे करते हैं; याते दशम द्रव्यत्वकी आपत्ति-रूप दोष नहीं. (इन्द्रियादीति) इन्द्रियोंमें तथा शरीरमें परंपरा अर्थात् अवच्छेदकतासम्बन्धसे ज्ञानका सम्पादक है. यहां शरीर इन्द्रिय 'अवच्छेदक' हैं और आत्मा 'अवच्छेद्य' है.

यद्यप्यात्मन्यहं जानेऽहं सुखीत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव, तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणं दर्शयति, करणमिति—

भाषा—यद्यपि आत्मामें 'मैं जानता हूं, मैं सुखी हूं' इत्यादि प्रतीति होनेसे प्रत्यक्ष विषयताभी है तथापि विवाद करनेवाले पुरुषके प्रति प्रथमही यह नहीं कह सकते कि शरीरादिसे भी 'मैं सुखी' इत्यादि प्रतीतिका विषयही आत्मा है इसलिये मूलकार उसमें प्रमाण दिखलाताहै—

—करणं हि सकर्तृकम् ॥ ४७ ॥

भाषा—यह नियम है कि जो कारण होताहै वह कार्यसम्पादनमें कर्ताकी अपेक्षा रखता है ॥ ४७ ॥

कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम् । एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते ॥ ४७ ॥

भाषा—छेदनादि क्रियाके कारण जो कुठारादि, उनको कर्तातक्षादिसे विना फल, छिदि क्रियाके अनुत्पादक देखा है. ऐसेही नेत्रादि इन्द्रियभी प्रत्यक्षज्ञानके कारण हैं. इनकोभी प्रत्यक्षज्ञानरूप फलजनकता विनाकर्तासे नहीं बनसकती; इससे इन्द्रियोंसे जुदा कर्ताकी कल्पना हो सकती है ॥ ४७ ॥

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह, शरीरस्येति—

शंका—शरीरहीको कर्ता मानले तो कुछ दोष नहीं.

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।

समाधान--कर्ता चेतन होताहै और शरीर चेतन नहीं है; क्योंकि मृतशरीरोंमें चेतनताका अभाव देखाजाताहै.

ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षतिः प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेत् । न । शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः । शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् ।

चार्वाक शंका--चैतन्य नाम ज्ञान इच्छादिका है; सो वह जैसे तुम्हारे मतमें मुक्त आत्मामें नहीं रहते वैसेही हमारे मतमें मृत शरीररूप आत्मामें मृतअवस्थामें न रहें तो दोष नहीं क्योंकि हमारे मतमें मृत शरीर मुक्तआत्मा है और आपको शरीरमें ज्ञानाभाव प्राण तथा आत्मा उभयके अभाव प्रयुक्त मानना पड़ता है. हमारेको केवल प्राणके अभावसे शरीरमें ज्ञानाभाव माननेमें लाघव है. समाधान--यदि शरीर चेतन हो तो बालपनमें देखे पदार्थोंका वृद्ध अवस्थामें स्मरण न होना चाहिये. शरीर पुष्टिक्षीणताकारक अवयवोंके बढ़ने घटनेसे शरीर उत्पत्ति विनाश स्वभाववाले अनुभव सिद्ध हैं.

न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम् । अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात् । एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तनपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्टसाधनतास्मारकाभावात् । मन्मते जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः ।

शंका-प्रथम शरीरके संस्कार दूसरे शरीरके संस्कारोंके जनकहैं,यातें पूर्व देखे पदार्थके स्मरणकी अनुपपत्ति नहीं है. समाधान--अवयव वृद्धिक्षीणताप्रयुक्त यावत् शरीर क्षणक्षणमें बदलते हैं; उनमें यदि पूर्व २ शरीरमें उत्पन्न संस्कारोंसे उत्तर २शरीरमें संस्कारोंकी उत्पत्ति माने तो अनेकसंस्कार कल्पनाओंसे अति गौरव होगा. ऐसेहीं यदि शरीरही चेतन हो तो प्रथम उत्पन्न हुये बालककी अपनी माताके स्तनसे दूध पीनेमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि प्रवृत्तिका कारण इष्ट साधनता "इदं मदिष्टसाधनम्" इत्याकारक ज्ञान है और प्रथमोत्पन्न स्तनपानप्रवृत्तिके पूर्वकालमें इष्ट-

साधनताका अनुभावक वा स्मारक कोई आपके मतमें है नहीं याते प्रवृत्ति बन नहीं सकती और मेरे मतमें तो पूर्वजन्ममें अनुभव किये इष्टसाधनत्वका(तदानीं) प्रथम उत्पन्न स्तनपानप्रवृत्तिके पूर्वकालमें स्मरण होनेसे स्तनपानमें बालककी प्रवृत्ति बन सकती है.

न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदपि स्मर्यतामिति वाच्यम् । उद्बोधकाभावात् । अत्र स्तनायत्या जीवनादृष्टमेवोद्बोधकं कल्प्यते । इत्थं च संसारस्यानादितयाऽऽत्मनोऽप्यनादित्वसिद्धावनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वं सिद्ध्यतीति बोध्यम् ॥

शंका—यदि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनताका ज्ञानही संस्कारद्वारा प्रवृत्तिमें कारण है तो जन्मान्तरानुभूत और पदार्थोंका स्मरण भी होना चाहिये. समाधान-यदि कोई उद्बोधक हो तो ज्ञानजनित संस्कार उद्बुद्ध होकर स्मृतिके जनक होते हैं, प्रकृतमें पदार्थान्तरोंके संस्कारोंका कोई उद्बोधक नहीं है और स्तनपान प्रवृत्तिमें तो (अनायत्या) गत्यन्तराभावसे बालकके जीवनके अदृष्टहीको उद्बोधक कल्पना कर सकते हैं. इस रीतिसे संसारके अनादि होनेसे जीवात्मा भी अनादि सिद्धहुआ तो अनादिभावपदार्थको विनाशी न होनेसे आत्मा नित्य सिद्ध होसकताहै.

ननु चक्षुरादीनां ज्ञानादौ करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु विरोधे साधकाभावादत आह, तथात्वमिति-

शंका—ज्ञानादि कार्योंके प्रति नेत्रादि इन्द्रियही यदि करण तथा कर्ता मानलिये जायँ तो क्या विरोध है ? तथा विरोधका साधक युक्ति प्रमाण कौन है ?

तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥४८॥

चैतन्यमित्यर्थः ।

समा०—यदि नेत्रादि इन्द्रियही (तथात्वं) चेतनकर्ता स्वरूप हों तो 'तत्तत्' इन्द्रियके विनाशसे तत्तत्अनुभूत पदार्थका स्मरण कैसे होवे ? ॥ ४८ ॥

उपघाते नाशे सति अर्थाच्चक्षुरादीनामेव । कथमिति । पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात् । अनुभवितुरभावात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासंभवात् । अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः ॥४९॥

भाषा-अर्थात् नेत्रादि इंद्रियोंके विनाश होनेसे प्रथम नेत्रादिद्वारा साक्षात्कृत पदार्थका स्मरण नेत्रादि विनाशसे पश्चात् नहीं होना चाहिये; क्योंकि उसकालमें अनुभव करताका अभाव है और दूसरेके देखे पदार्थको दूसरा स्मरण करही नहीं सकता, क्योंकि अनुभवका तथा स्मरणका(समानाधिकरण)एक आत्मरूप अधिकरणमें कार्यकारणभावका नियम है, अर्थात् जैसे-चैत्रके अनुभूत पदार्थको चैत्रही स्मरण कर सकता है, मैत्र नहीं करसकता; वैसेही नेत्रानुभूत पदार्थका श्रोत्र स्मरण नहीं करसकता. यही दशा सभी इंद्रियोंमें जाननी चाहिये. परंतु स्मरण इंद्रिय विनाशसे पश्चात्भी होता है,याते इंद्रियोंसे पृथक्चेतन कर्ताकी कल्पना होसकती है.

ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह, मनोऽपीति-

शंका-मत हो नेत्रादिकोंमें चेतनता; परन्तु मनको चेतन तथा कर्ता मानले तो क्या दोष है ?

मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।

न तथा न चेतनमित्यर्थः ।

समाधान-मनभी चेतन नहीं है यदि मन चेतन हो तो ज्ञानादिकोंका साक्षात्कार नहीं हुआ चाहिये.

ज्ञानादीति । मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः । यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते ।

भाषा-अर्थात् मुनियोंने मनको अणुपरिमाणवाला माना है और प्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाणको कारणता है. एवं ज्ञानसुखदुःखादि गुण यदि मनहीमें मान लिये जायँ तो उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा. जिस युक्तिसे मन अणुपरिमाणवाला है वेंहें युक्ति मूलकार स्वयं ८५ की कारिकामें कहेगा.

नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा,तस्य स्वतःप्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम् । ज्ञानसुखादिकं तु तस्यैवाकारविशेषः, तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वम्, पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव,मृगमदवासनावासितवसन इव

पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्ना-नुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेत् । न ।

विज्ञानवादी बौद्ध–शंका–बुद्धिहीको आत्मा मानना उचित है. वह स्वयं प्रकाशरूपा होनेसे चेतनाभी है. बुद्धिहीके स्वरूपविशेष ज्ञानसुखदुःखादिभी हैं. वह बुद्धि भी भावपदार्थ है याते बाह्य 'दीपशिखादि पदार्थोंवत्' क्षण २ परिणा-मवाली है. प्रथम २ क्षणमें उत्पन्न हुआ विज्ञान पीछेपीछे उत्पन्न होनेवाले विज्ञा-नमें यथाक्रम कारणीभूत है वही विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान १ आलयविज्ञान २' भेदसे दोप्रकारका है. उनमें "अयं घटः" इत्यादि प्रवृत्तिविज्ञान है और "अहमहम्" इत्याकारक आलयविज्ञान है, उस आलयविज्ञानकी क्षण २ परिणामिनी धारा (सुषुप्ति) गाढ निद्रावस्थामेंभी विद्यमान है जैसे वस्त्रकी कईएक तहमें लपेटी (मृगमद) कस्तूरीकी वासना वस्त्रोंमें एकसे दूसरेमें दूसरेसे तीसरेमें यथाक्रम जाती है, वैसेही पूर्व २ विज्ञानके अनुभवजन्य संस्कारोंका उत्तर २ विज्ञानोंमें संचार होताहै याते पूर्वविज्ञानसे अनुभूत पदार्थका उत्तर विज्ञानसे स्मरणभी बन सकता है ।

तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तेः । यत्किञ्चिद्विषयत्वे विनिगमनाभावात् । सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञान-स्य सविषयत्वात् । तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तते इति चेत् । न । तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात् । अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः ।

समाधान–वह तवाभिमतविज्ञान यावत् जगत्को विषय करता है कि (यत्किं-चित्) किसीएक पदार्थको विषय करता है यदि यावत् जगत्को विषय करता है तो पुरुषको सर्वज्ञ होना चाहिये; यदि किसी एक पदार्थको कहो तो (विनि-गमनाविरह) एक पक्ष प्रतिपादकयुक्तिका अभाव है अर्थात् तुम 'यत्किंचित्' पदसे घट ग्रहण करो तो हम उसीसे पट या मठ ग्रहण करें तो आपके पास घटग्रहण पक्षमात्रको कहनेवाली कोई प्रबलयुक्ति नहीं है और तुम्हारे मतमें गाढ निद्राकालमेंभी विषयोंकी प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि विज्ञानस्वरूपसे सविषय-कही होताहै वह आलयविज्ञान धारारूपेण सुषुप्तिमेंभी विद्यमान है, बौद्ध–हमलोग सुषुप्तिकालमें निर्विषयाही विज्ञानसंतति मानते हैं. नैयायिक–निर्विषय विज्ञान-संततिके प्रकाशरूप होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, (अन्यथा) प्रमाणसे विनाही यदि सुषुप्तिकालमें ज्ञानस्वरूपता स्वीकृत हो तो घटपटादि पदार्थोंकोभी विज्ञान-स्वरूप मान लेनेमें कोई बाधक नहीं है ।

न चेष्टापत्तिः; विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यम् । घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात् । आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत् । किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्, तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन नातिरिच्यते चेत्तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्, स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात् ।

बौद्ध—घटादि यावत् पदार्थोंमें विज्ञानस्वरूपता हमको अभिमत है, क्योंकि हमारे मतमें वस्तुमात्र विज्ञानस्वरूपही है, पृथक् नहीं. नैयायिक—बाह्य विषयरूपेण अनुभव किये घटादि पदार्थोंका केवल विज्ञानरूप मानके निराकरण करना अयोग्य है. बौद्ध--यह घटपटादि पदार्थजात विज्ञानहीके आकारविशेष है, याते विज्ञानस्वरूपही हैं. नैयायिक--क्या वह विज्ञानका आकारविशेष विज्ञानके स्वरूपसें जुदा है कि विज्ञानस्वरूपही है. यदि जुदा कहो तो घटपटादि पदार्थ जातविज्ञानसे भिन्न स्वयंसिद्ध हुए. यदि कहो कि जुदा नहीं है तो " नीलपीते " इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञानमें नीलाकारभी पीताकारही प्रतीत होना चाहिये अथवा पीताकारभी नीलाकारही प्रतीत होना चाहिये; क्योंकि स्वरूपसे विज्ञानमें कुछ भेद नहीं है किन्तु एकही है.

अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेत् । नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात् । इतरथा विरोधस्यैव दुरुपपन्नत्वात् । नवा वासनासंक्रमः संभवति । मातृपुत्रयोरपि वासनासंक्रमप्रसङ्गात् । न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम् । वासनायाः संक्रमासंभवात् । उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव संक्रम इति चेत् । न । तदुत्पादकाभावात् ।

बौद्ध—नीलत्वपीतत्वादि उसी विज्ञानके धर्म विशेष (अपोहरूप) अनीलव्यावृत्तित्वादिरूपसे प्रतीत होते हैं. नैयायिक—नीलत्वादि विरुद्धधर्मोंका एक विज्ञानरूप धर्मीमें समावेश अयुक्त है. (इतरथा) परस्पर विरुद्ध धर्मोंको एकधर्मनिष्ठ मान लेनेसे संसारके पदार्थोंमें विरोधका निश्चयही नहीं होगा और पूर्व कहा जो वासना संचार वहभी नहीं होसकता; यदि हो तो माताके देखे पदार्थका गर्भनिष्ठ बालकको भी स्मरण होना चाहिये. बौद्ध—उपादानरूप कारणकी वासनाका उपादेयरूप कार्य्य

में संचार होता है और माता अपने पुत्रका निमित्त कारण है याते दोष नहीं है, नैयायिक-वासनाका संचार होना असम्भव है, बौद्ध-पूर्व २ विज्ञानवासनाकी उत्तर २ विज्ञानमें उत्पत्ति होनी इसीका नाम संचार है, नैयायिक-उत्पन्न करनेवाले कर्ताके अभाव होनेसे वासनाकी उत्तर २ उत्पत्ति नहीं हो सकती।

उत्तरविज्ञानस्यैवोत्पादकत्वे तदानन्त्यप्रसङ्गः। क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेत्। न मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च।

बौद्ध-उत्तर २ विज्ञानही पूर्व २ विज्ञानवासनाका उत्पादक होसकता है. नैयायिक-यदि विज्ञानोंहीको वासना उत्पादक मानो तो विज्ञानोंके असंख्यात होनेसे वासनाओंकोभी असंख्यातही मानना होगा याते अत्यन्त गौरव होगा, बौद्ध-हम लोग उत्तर २ क्षणिक विज्ञानमें वासनासंचारार्थ (अतिशय) शक्ति विशेषकी कल्पना करते हैं. नैयायिक-ऐसी निर्मूल कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है और क्षणिक अनन्तशक्ति तथा उसके अनेक प्रागभाव और ध्वंस कल्पनेमें कल्पना गौरवभी है।

एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यमपि प्रत्युक्तम्। गौरवादतिशये मानाभावाच्च। बीजादावपि सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यामेवोपपत्तेः कुर्वद्रूपत्वकल्पनाच्च।

भाषा-कई एक वादी क्षणिक शरीरोंहीको चेतन मानते हैं, सो इस पूर्व कथनसे उनका कथनभी खण्डन किया पूर्वोक्त रीतिसे वासनासंचार नहीं होसकेगा; गौरव होगा और संचारक (अतिशय) शक्ति विशेष माननेमें कोई प्रमाण नहीं है. बौद्ध-लोकमें ऐसा देखनेमें आता है कि-क्षेत्रमें बोयेहुए बीजहीसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, कुसूलमें पड़ेहुए बीजसे नहीं होती याते अंकुररूप कार्य्यके प्रति "कुर्वद्रूपता" अर्थात् अंकुरजननयोग्य जाति विशेषको हम कारणता मानते हैं. वह फलोत्पादक क्षणिक समर्थ बीजमात्रमें रहती है; ऐसेही प्रकृतमेंभी क्षणिक शरीरोंमें 'कुर्वद्रूप' उत्तर २ वासना जनक जाति विशेषहीको कारण माननेसे निर्वाह होसकता है वह कुर्वद्रूप जातिविशेष दृष्टान्तमें तो बीजत्वके साथ समव्याप्त है और दार्ष्टान्तमें विज्ञानत्वके साथ समव्याप्त है; याते वासनासंचार होसकता है, नैयायिक-दृष्टान्तरूप बीजहीमें 'कुर्वदरूप' अंकुर जनन योग्य जाति विशेषकी कल्पना करनी अनुचित है, अंकुरादिकी उत्पत्ति तो (सहकारी) भूमिजलादिके संयोगसेभी बनसकती है।

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा "अविनाशी वा अरे अयमात्मा" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतेश्च, इति चेत् । न । तस्य सविषयत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात् । निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्, सविषयत्वस्याप्यनुभवात् । अतो विज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् ।

वेदान्ती–शंका–यदि आत्माके क्षणिक विज्ञानस्वरूप माननेमें गौरवहै तो नित्य विज्ञान स्वरूपही मानना उचित है और इसमें " अरे मैत्रेयी यह आत्मा अविनाशी है " " सत्यस्वरूप है ज्ञानस्वरूप है, तथा आनन्दस्वरूप है " इत्याद्यर्थक उपनिषद्वाक्य भी प्रमाण है. नैयायिक–वह नित्य विज्ञानभी सविषयक है कि निर्विषयक है? यदि सविषयक कहो तो यावत् प्रपंचविषयक है कि,यत्किंचित् वस्तुविषयक है ? प्रथम पक्षमें सर्वज्ञत्वापत्ति और द्वितिय पक्षमें विनिगमनाविरह पूर्वोक्त रीतिसे जान लेना. और यदि कहो कि नित्यविज्ञान निर्विषयक है तो निर्विषयक विज्ञानमें कोई प्रमाण नहीं, अर्थात् ऐसा कोई भी प्रत्यय नहीं जो कि किसी एक वस्तुको विषय न करे [और यदि कहो कि जिस जिस वस्तुको जो जो आत्मा ग्रहण करता है उस २ विज्ञान स्वरूप आत्माको तत्तद्विषयकत्व है तो यहभी युक्त नहीं] क्योंकि ' नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा सविषयक है' इत्याकारक अनुभव होनाभी दुर्घट है इसलिये विज्ञानादिकोंसे भिन्न नित्य आत्मा स्वयं सिद्ध होता है ।

सत्यं ज्ञानमिति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते । ज्ञानाज्ञानसुखित्वदुःखित्वादिभिर्जीवानां भेदासिद्धौ सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः । योऽपीश्वराभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन् स्तौति । अभेदभावनयैव च यतितव्यमिति वदति । अत एव 'सर्व एवात्मनि समर्पिताः' इति श्रूयते ।

भाषा–और पूर्व कहे श्रुतिवाक्योंमें प्रथम वाक्य जीवको अविनाशी कहता है सो हमको इष्ट है,द्वितीय वाक्य परमात्माको सत्यस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप कहताहै उसका जीवोंमें कुछ उपयोगही नहीं,हरएक जीवके ज्ञान अज्ञान सुख दुःख इच्छा आदिके भिन्न २ होनेसे जीवोंका परस्पर भेद सिद्ध होताहै,एवं जीव परस्पर भिन्न सिद्ध हुए तो

ईश्वरका जीवोंसे भेद स्वयं सिद्ध हुआ, (अन्यथा) यदि ईश्वरको जीवात्मास्वरूप मानें तो बन्धमोक्षकी व्यवस्था नहीं होगी अर्थात् सब जीवोंका आत्मा ईश्वर स्वरूप माननेसे कोई संसारी बद्ध है और कोई ज्ञानी मुक्त है यह व्यवस्था नहीं बनेगी और जो जीव ईश्वरके अभेद कहनेवाले "तत्त्वमसि–तुम ब्रह्मस्वरूपहो" इत्याद्यर्थक उपनिषद्वाक्य हैं; वेभी अभेदरूपसे स्वामि सेवकभाव संबन्धको बोधन करते हुए जीवकी प्रशंसा करतेहैं 'अभेदभावनासे परमात्मामें प्रेमाभक्ति करनी चाहियें' ऐसी शिक्षा देते हैं. अर्थात् जैसे अपना आप हरएकको प्रिय है वैसाही प्रेम ईश्वरसेभी करना उचित है. इसी तात्पर्यसे " विद्वान् अपने पुत्ररूप आत्माको तथा शरीररूप आत्माको तथा मुख्य आत्माको ईश्वरमें समर्पण करता है" ऐसा उपनिषद्में श्रवण होता है.

मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायत इत्यपि न । भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात् । भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव । न च द्वित्वमपि नश्यतामिति वाच्यम् । तव निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद्द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात् ।

वेदांती–भेद अज्ञानकृत है, मोक्षअवस्थामें अज्ञान निवृत्त होनेसे अभेद उत्पन्न होताहै. नैयायिक–भेद केवलान्वयी होनेसे नित्य है. इसका नाश होना असम्भव है. वेदांती–औपाधिक भेदका नाशही मान लिया जाय तो क्या दोष है ? नैयायिक–मोक्षकालमें औपाधिक भेद नाश हुएभी व्यक्तिद्वय भिन्न २ रहती हैं. वेदांती–व्यक्तिद्वयमें द्वित्वकाभी नाश मानें तो क्या दोष है ? नैयायिक–जैसे तुम्हारे मतमें यावत् धर्मशून्य ब्रह्ममें सत्यत्वधर्म नहींभी है परन्तु तो भी ब्रह्म सद्रूप है वैसे हमारे मतमेंभी मोक्षकालमें जीव ईश्वरनिष्ठ द्वित्वरूप धर्मके नाश हुएभी वह परस्पर द्वयात्मक है; यह कहना सुवच है.

मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेत् । एकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमप्युच्यताम् । प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथिवीजलयोर्न गन्ध इतिवदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात् । योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, संपदाधिक्ये पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त इतिवत् । अत एव "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रूयते ।

वेदांती-हमारे मतमें मिथ्या प्रपंचके अभावका अधिकरण जो ब्रह्म तत्स्वरूप ही सत्यत्व है, पृथक् नहीं. नैयायिक-हमारे मतमेंभी एकत्व संख्याका अभाव स्वरूप व्यक्तिद्वयात्मक द्वित्व मोक्षकालमें जानो. जैसे लोकमें यह प्रत्यय होता है कि-पृथ्वी तथा जल दोनों गन्धवाले नहीं हैं किन्तु एक पृथ्वी है, वैसेही हरएक व्यक्तिमें एकत्व है भी परन्तु दोनों एक नहीं यह प्रत्यय सर्वजन सिद्ध है और जो मोक्षदशामें अभेद कहनेवाला "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति-अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वरूप होता है" इत्यादि शास्त्र है,वहभी मोक्षकालमें दुःखादिकोंके अभावको बोधन करता-हुआ जीवको ईश्वर सदृशता कहता है. जैसे, धनादिसंपदाके अधिक होनेसे पुरोहित आदिकोंमें लोग राजा व्यवहार करने लगजाते हैं वैसेही मोक्षकालमें यावत् दुःखाभाव प्रयुक्त जीवमें ईश्वरतुल्यताका व्यवहार है. (अतएव)"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इस श्रुतिको मोक्षकालमें साम्य प्रतिपादक होनेहीसे यह जीव (निरंजन) निर्दुःखित हुआ ईश्वरकी परमतुल्यताको प्राप्त होता है; इत्याद्यर्थ बोधक श्रुतिवाक्यभी एकवाक्यतापन्न होसकता है.

ईश्वरोऽपि न ज्ञानसुखात्मा, किंतु ज्ञानाद्याश्रयः । "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः, "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यनुरोधात् । आनन्दमित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थः ।

भाषा-ईश्वरभी ज्ञानसुखादिस्वरूप नहीं किन्तु ज्ञानसुखादिका आश्रय है. नित्य विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म है" इत्याद्यर्थक 'श्रुतिवाक्योंमें' विज्ञान पद अधिकरणार्थक 'ल्युट्' प्रत्ययान्त है; यातें 'विज्ञान' पदसे ज्ञानके आश्रयकाही बोध होता है"जो सर्व पदार्थोंके सामान्यरूपसे ज्ञानवाला है, वही विशेषरूपसे ज्ञानवाला है" एतदर्थक श्रुतिसेभी ज्ञानवाला प्रतीत होता है; ज्ञानस्वरूप नहीं. इसीके अनुकूल 'विज्ञान' पदका अर्थभी विज्ञानवालाही करना उचित है श्रुतिनिष्ठ 'आनन्द' पदकाभी आनन्दवाला यही अर्थ करना उचित है.

अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययात् । अन्यथा पुँल्लिंगत्वापत्तिः । आनन्दोऽपि दुःखाभाव उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोऽहमितिवद्दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययात् ।

भाषा-"अर्शआदिभ्योऽच् । ५ । २ । १२७ ।" इस सूत्रसे मतुप् अर्थक 'अच्' प्रत्यय करनेसे "आनन्दोऽस्यास्मिन् वाऽस्तीति आनन्दम्" ऐसी व्युत्पत्ति हुई तो 'आनन्द' शब्द समवायेन आनन्दआश्रयका बोधक नपुंसकलिंग तथा

ब्रह्मशब्दका विशेष साधुरीतिसे हो सकता है;(अन्यथा) यदि पूर्वोक्त रीतिसे 'आनन्द' शब्दकी सिद्धि नहीं माने किन्तु "भावे ३।३।१८" इस सूत्रसे 'घञ्'प्रत्ययान्त माने तो नित्य पुँल्लिंग होना चाहिये; क्योंकि घञ्प्रत्ययान्त शब्दको "घञबन्तः ३९" यह लिंगानुशासनका सूत्र नियमसे पुँल्लिंगता बोधन करता है. आनन्दशब्द भी लक्षणावृत्तिसे दुःखभावकाही बोधक है. जैसे भारवाही पुरुष भार त्यागनेसे अपनेको सुखी मानता है वैसेहि दुःखाभाव होनेसे सुख प्रत्यय होता है.

अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो नत्वसावानन्दोऽसुखमिति श्रुतेः । न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेत् । न । क्लिष्टकल्पनापत्तेः,प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्त्वर्थीयप्रत्ययावरोधाच्च । "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन" इत्यत्र भेदस्य स्पष्टत्वाच्च इति संक्षेपः ।

भाषा—अथवा वह ईश्वर आनन्दका अधिकरण भी रहो तो हमारे मतकी हानि नहीं तथापि वह आनन्दस्वरूप नहीं; क्योंकि श्रुतिमें उसको "असुखम्"ऐसा सुना है; यहां 'नञ्' ब्रह्मसे सुखका भेद बोधन करता है और अपनेमें अपना भेद असम्भव है, याते ब्रह्म आनन्दरूप नहीं किन्तु आनन्दका अधिकरण है, वेदान्ती शंका— विद्यमान नहीं है सुख जिसमें किसी सम्बन्धसे वही 'असुख' अर्थात् सुखस्वरूप यह अर्थ बहुव्रीही समाससे लाभ होता है; इसके माननेमें क्या दोष है. नैयायिक- बहुव्रीहिसमासमें अन्य पदार्थ प्रधान होता है, प्रकृतमें अन्यपदार्थमें 'नञ्' की लक्षणा माननी क्लिष्ट कल्पना है; (प्रकरणविरोधात्) अर्थात् "अस्थूलमनणु अदीर्घमह्रस्वम्—ब्रह्म स्थूल पदार्थोंसे तथा अणुदीर्घ ह्रस्व पदार्थोंसे भिन्न है" इत्याकर्थक एक बृहदारण्यक उपनिषद्का वाक्य है, इसके प्रत्येक पदमें 'नञ्तत्पुरुष' समास स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है और इसी श्रुतिके मध्यमें 'असुखम्' इस पदका पाठभी है. यदि इस पदमें बहुव्रीहि मानेंगे तो प्रकरणविरोध अवश्य होगा और यदि यहां बहुव्रीहि मानके 'सुखस्वरूप' ऐसा अर्थ करभी लें तो 'आनन्दम्' इस शब्दमें 'मतुप्' अर्थक 'अच्' प्रत्ययके साथ विरोध तो अवश्य होगा; क्योंकि यह प्रत्यय सुखके अधिकरणका बोधक है और बहुव्रीहिसे सुखस्वरूपका बोधन हुआ याते परस्पर विरोध स्पष्ट है; और जो पुरुष ब्रह्मके आनन्दको जानता है वह कदापि किसीसे भयको प्राप्त नहीं होता. इस वाक्यमें आनन्दका तथा उसके आधिकरणका भेद षष्ठी विभक्तिसे स्पष्टही प्रतीत होता है. यह वेदान्तीके प्रति संक्षेपसे कहा है—इति ॥

एतेन प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किंतु चेतनः, कार्यकारणयोरभेदात्कार्यनाशे सति कार्यरूपतया नाशः स्यादित्यकारणत्वं तस्य ।

भाषा-'एतेन' इस पदका 'इति मतमपास्तम्' इस अग्रिम पाठके साथ सम्बन्ध है; अर्थात् 'एतेन' इस पूर्वोक्त युक्तिद्वारा आत्माको ज्ञानाधिकरण सिद्ध करनेसे तथा आगे कथनीय युक्तिसे (इति मतम्) सांख्यशास्त्रमें कहा कपिलमुनिका मतभी (अपास्तम्) खण्डन किया है. सांख्यीके मतमें मूलप्रकृतिही आद्यकर्तारूप है और (पुरुष) जीवात्मा जलगत कमलपत्रकी तरह अलिप्त है; परन्तु चेतन है. इस मतमें कार्यका तथा उपादानकारणका परस्पर अभेद है कार्यके नाश होनेसे कार्यरूपसेही कारणका भी नाश मानना पड़ता है इसलिये पुरुष किसी कार्यका उपादानकारण नहीं, याते विनाशी भी नहीं.

बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथाऽनुपपत्त्या तत्कल्पनम् । बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः, सैव महत्तत्त्वमन्तःकरणमित्युच्यते । तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ ।

भाषा-इस मतमें बुद्धिनिष्ठ चेतनताकी अभिमति (अन्यथा) प्रकारान्तरसे बन नहीं सकती; उसीसे पुरुषकी कल्पना होती है अर्थात् जड प्रधानके कार्यरूप बुद्धिको जडरूप होनेसे विना किसी चेतनके सम्बन्धसे स्वयं चेतन होना असम्भव है; क्योंकि आरोपका यह नियम है कि कहीं प्रसिद्धवस्तुकाही वस्तुअन्तरमें आरोप होता है जैसे जपाकुसुमगत रक्तताका स्फटिकमणिमें. एवं पुरुषचैतन्यका बुद्धिमें इति, 'बुद्धि' नाम प्रकृतिके प्रथम परिणामका है उसीकी 'महत्तत्त्व' तथा 'अन्तःकरण' भी संज्ञा है. (तत्) बुद्धिके सत्त्वकालमें पुरुषको संसार प्रतीत होता है. एवं बुद्धिके असत्त्वकालमें पुरुष स्वयं शुद्ध मुक्तस्वरूप होता है.

तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः । पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात् ममेदं कर्त्तव्यमिति मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया चेतनप्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः । इदमिति विषयोपरागः,इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा । कर्त्तव्यमिति व्यापारावेशः ।

भाषा–उस बुद्धिकाही नेत्रादि इंद्रियरूप प्रणालिकाद्वारा ज्ञानरूप परिणाम घटादि पदार्थोंके साथ सम्बंध है, पुरुषमें कर्तृत्व–'मैं कर्ता हूं' यह अभिमान, एवं बुद्धिमें चैतन्य 'मैं चेतनाहूं' यह अभिमान बुद्धिका तथा पुरुषका परस्पर भेद न जाननेसे है "ममेदं कर्तव्यम्–अर्थात् मेरेको यह कार्य करने योग्य है" इत्याकारका बुद्धिमें "मम, इदं, कर्तव्यम्" ये तीन अंश हैं, उनमें प्रथम अंश (पुरुष) जीवात्माका है; वहभी जैसे (दर्पण) शीशेके स्वच्छ होनेसे उसमें मुखकी प्रतीति मिथ्याही होजाती है, वैसेही बुद्धिके स्वच्छ होनेसे प्रतिबिंबद्वारा (अतात्त्विक) झूँठा (उपराग) सम्बंध रूप है, एवं द्वितीय अंश विषयका है, वही बुद्धि (इंद्रिय) नेत्रादिद्वारा परिणामको प्राप्त हुई विषयको ग्रहण करती है; जैसे शीशेपर (निःश्वासाभिहत) फूत्कार मारनेसे (मलिनिमा) छाईका सम्बन्ध (तात्त्विक) सच्चा हो जाता है; वैसेही बुद्धिका परिणाम रूपसे विषयके साथ सम्बन्ध वास्तव है, एवं तृतीय व्यापार अंशका भान है, वह बुद्धिका अपना तथा तात्विक है.

तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः सम्बन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते । ज्ञानवत् सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः ।

भाषा–इस रीतिसे बुद्धि तीन अंशवाली है और बुद्धिके परिणामरूप ज्ञानके साथभी पुरुषका अतात्त्विक संबंध है, जैसे–शीशेकी छाईके साथ मुखका संबंध वस्तुतः नहीं किन्तु मिथ्या है; वैसेही बुद्धि परिणाम ज्ञानके साथभी पुरुषका सम्बन्ध वास्तव नहीं किन्तु अतात्त्विक है, उसी अतात्त्विक सम्बन्धकी सांख्यशास्त्रमें (उपलब्धि) संज्ञा कही है जैसे--परिणामी ज्ञान बुद्धिका धर्म है, वैसेही सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न,धर्म और अधर्म ये सातभी बुद्धिकेही धर्म हैं; क्योंकि इन सबकी "अहंकर्ता, अहंसुखी" इत्यादि प्रत्ययोंसे (कृति) प्रयत्नके साथ एकाधिकरणता प्रतीत होती है ।

न च बुद्धिश्चेतना, परिणामित्वात्, इति मतमपास्तम् । कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च ।

भाषा–और प्रयत्न बुद्धिका मुख्य धर्म है, वह बुद्धि (परिणामिनी) अनित्य धर्मोंवाली होनेसे चिद्रूपा नहीं है,यह सब सांख्याचार्यका मत है, पूर्वोक्त तथा अग्रि-

मयुक्तियोंसे यहभी खण्डित है; क्योंकि जैसे "अहं कर्ता, अहं धार्मिकः, अहं भोक्ता" इत्यादि प्रत्यय एकाधिकरणमें प्रतीत होते हैं वैसेही 'अहं चेतनः' यह प्रत्ययभी उसी अधिकरणमें प्रतीत होता है याते (तद्) कर्तासे भिन्न चेतन माननेमें कोई प्रमाण नहीं है।

चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्। कृत्यंशेऽपि किं नेष्यते। अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्तिः।

सांख्यी-शंका-'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति चेतनअंशमें भ्रमरूपा है क्योंकि चेतन 'पुरुष' है उसके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब ग्रहण करतीहुई बुद्धि अपनेमें मिथ्याही चेतनताका अभिमान करतीहै. नैयायिक-यदि पूर्वोक्ता प्रतीति चेतनांशमें भ्रमरूपा है तो प्रयत्न अंशमेंभी भ्रमरूपाही माननी उचित है, क्योंकि उक्तप्रतीतिमें दोनोंका अधिकरण एकही प्रतीत होता है;(अन्यथा) यदि कर्ता तथा चेतनका परस्परभेद मानों तो हम पूँछते हैं कि वह बुद्धि आपकी नित्या है अथवा अनित्या है ? यदि नित्या कहो तो मोक्षका अभाव होगा क्योंकि बुद्धिरूपकर्तासे भिन्न चेतनमें सुखदुःखका अभाव होनेसे उसमें बन्ध मोक्ष व्यवहार अनुपपन्न है. शेष रहा बुद्धिरूप कर्ता तो इसीके सत्त्व तथा असत्त्वसे बन्ध तथा मोक्ष मानना होगा एवं यदि बुद्धिको नित्य माने तो उसके सत्त्व निबन्धन संसारभी नित्यही मानना होगा; एवं मोक्षाभाव होगा. एवं यदि बुद्धिको अनित्य मानो तो वह उत्पत्तिवालीभी माननी होगी क्योंकि अजन्य भावपदार्थका नाश नहीं होता. एवं बुद्धिकी उत्पत्तिसे प्रथमकालमें संसार नहीं हुआ चाहिये अर्थात् बुद्धिकी उत्पत्तिसे पूर्व बुद्धिमें अदृष्ट नहीं रहसकते अदृष्टोंके न होनेसे बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं होसकती. एवं संसार कदापि न होना चाहिये.

नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद् बुद्धेरचैतन्यं, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेत्। न, असिद्धेः कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावाद्वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम्। अनादेर्नाशासम्भवान्नित्यत्वम्। तत् किं प्रकृत्यादिकल्पनेन।

सांख्यी-हमारे मतमें कार्यकारणका परस्पर अभेद है;इसलिये अचेतनप्रकृतिका कार्यरूप बुद्धिभी चेतन नहीं है. नैयायिक-तुम्हारा कथन असिद्ध है, क्योंकि बुद्धि प्रकृतिका कार्य नहीं है और कर्ता नियमसे जन्य होता है. इसमें कोई

अनुकूल तर्कभी नहीं है. प्रत्युत " वीतरागजन्मादर्शनात्-३ अ, १ आ, २९ सू०-अर्थात् विरक्त पुरुषका जन्म नहीं होता किंतु रागवाले पुरुषका जन्म होता है" इस गौतमसूत्रसे कर्ता अनादि प्रतीत होता है, एवं भावरूप अनादिका नाश नहीं होता; याते कर्ता नित्य मानना उचित है, एवं अप्रमाणिक प्रकृति आदि पदार्थों-की कल्पनासे क्या लाभ है ?

नच " प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्त्ताऽहं कर्त्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात् । "तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः" इत्यादि वदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति संक्षेपः ।

सांख्यी-श्रीकृष्णदेवने (गीताके तृतीयाध्यायके २७ श्लोकमें) यह कहा कि-"क्रियमाण यावत् कर्म प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंसे होते हैं उन कर्मोंको 'मैं कर्ता हूं' इत्याकारक अहंकारसे विमूढ चित्तवाला जीवात्मा पुरुष 'मैंही कर्ताहूं' ऐसा मानताहै" इस भगवद्वाक्यसे आपके कथनका विरोध होगा, क्योंकि इस वाक्यसे भगवान्ने पुरुषको कर्ता नहीं मानाहै. नैयायिक-इस भगवद्वाक्यमें 'प्रकृति' नाम अदृष्टोंका है, 'गुण' नाम अदृष्टजन्य इच्छादिकोंका है. एवं अदृष्टजन्य इच्छादि गुणोंद्वारा 'मैंही कर्ता हूं' ऐसे अहंकार विमूढ होकर जीवात्मा मानताहै. इस वाक्यका यही अर्थ है. इस वाक्यसे भगवान्ने यह नहीं कहा, कि जीवात्मा कर्ता नहीं है किन्तु यह कहा है कि-अकेला जीवात्मा कर्ता नहीं है; क्योंकि इसी अर्थको भगवान्ने अष्टादशाध्यायके १५ वें तथा १६ वें श्लोकमें लिखा है. वहां ऐसे कहा है कि " आश्रय १ कर्ता २ अनेकप्रकारके करण ३ अनेक प्रकारकी चेष्टा ४ और जीवोंके अदृष्ट ५, " यह पांचों मिलकर कार्यमात्रके प्रति कर्ता हैं. एवं इन पांचोंमेंसे जो पुरुष केवल अपने आपकोही कर्ता मानता है उस मलीनबुद्धि पुरुषको यथार्थ ज्ञान नहीं है इन वाक्योंसे भगवान्का आशय जीवके कर्तापनेमें स्पष्ट प्रतीत होता है यह संक्षेपसे सांख्यमत खण्डन किया है ।

धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥४९॥

भाषा-आत्मा धर्म तथा अधर्मका आश्रय है, एवं सुखदुःखादि विशेष गुणोंके सम्बन्धसे आत्माका प्रत्यक्षभी हो सकता है ॥ ४९ ॥

धर्माधर्माश्रय इति । आत्मेत्यनुषज्यते । शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः । विशेषगुणयोगत इति । योग्यविशेषगुणसम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षं भवति, न त्वन्यथा । अहंजानेहंकरोमीत्यादिप्रतीतेः ॥ ४९ ॥

भाषा-यहां 'आत्मा' शब्दका सम्बन्ध पीछे ग्रन्थसे करलेना. यदि शरीरकोही धर्माधर्मका आश्रय मानें तो (देहान्तर) पुरुषशरीरसे किये कर्मोंका (देहान्तर) वादिशरीरसे भोग नहीं बनसकेगा प्रत्यक्षके योग्य ज्ञानसुखादि विशेष गुणोंके सम्बन्धहीसे जीवात्माका प्रत्यक्ष होताहै, विशेषगुणोंके सम्बन्धसे विना नहीं होता. 'मैं जानताहूं, मैं करताहूं' इत्यादि प्रतीतियोंसे ज्ञानप्रकारक प्रयत्नादि प्रकारक जीवात्माका भान होता है ॥ ४९ ॥

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।

भाषा-जैसे रथकी गतिसे रथवाहीका अनुमान होता है वैसेही यह आत्मा दूसरे पुरुषके शरीरमें चेष्टाद्वारा अनुमेय है ।

प्रवृत्तीति । अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते । प्रवृत्तिरत्र चेष्टा, ज्ञानेच्छाप्रयत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वात् । चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माऽप्यनुमीयत इति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह । रथेति । यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्माऽपीति भावः ।

भाषा-इस आत्माका दूसरे पुरुषकी देहमें प्रवृत्तिनिवृत्तिसे अनुमान होता है, यहां 'प्रवृत्ति' शब्दसे चेष्टाका ग्रहण है, ज्ञान इच्छा प्रयत्नादि गुणोंका शरीरमें अभाव "शरीरस्य न चैतन्यं" इत्यादि ग्रन्थसे पीछे कह चुके हैं और चेष्टा प्रयत्नसाध्य होती हैं इसलिये चेष्टावत्त्वरूप हेतुसे प्रयत्नवाले आत्माका अनुमानभी होसकता है. यहां रथसारथीका दृष्टान्तरूपसे कथन है, यद्यपि दृष्टान्तमें रथकी क्रिया चेष्टा नहीं है, क्योंकि चेष्टा नाम 'हिताहितपरिहारार्था क्रिया' का है. वह क्रिया सिवाय चेतनके रथादि जड़पदार्थोंमें होही नहीं सकती; तथापि जैसे रथकी क्रियासे रथवाहीका अनुमान होताहै वैसेही चेष्टारूप कर्मसे आत्माका अनुमानभी होसकता है ।

अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥ ५० ॥

भाषा-वह आत्मा अहंकारका आश्रय है, एवं मनोमात्र इन्द्रियसे आत्माका ग्रहण होता है॥ ५०॥

अहङ्कारस्येति । अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययस्तस्याश्रयो विषय आत्मा, न शरीरादिरिति। मन इति । मनोभिन्नेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः । रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

भाषा-अहंकार नाम 'अहं' इत्याकारक प्रत्ययका है, इस प्रत्ययका विषय आत्माही है; शरीरादि नहीं बन सकते. एवं मनसे भिन्न सभी इन्द्रियोंका अविषय है, केवल मानस प्रत्यक्षका विषय है, क्योंकि मनसे भिन्न सभी इन्द्रियरूप रसादि-वाले पदार्थको ग्रहण करते हैं और आत्मामें रूपरसादि गुण नहीं हैं, याते नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्षयोग्य आत्मा नहीं है॥ ५०॥

विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्-

भाषा-वह आत्मा व्यापक है तथा बुद्धि आदि गुणोंवाला है।

विभुरिति । विभुत्वं परममहत्परिमाणवत्त्वं, तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणाः पूर्वमुक्ता वेदितव्याः ।

भाषा-विभु नाम परममहत् परिमाणवालेका है. यह यद्यपि "कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् (२६ का०)" इस ग्रन्थसे कह चुके हैं, तथापि स्पष्टार्थ बोधनके लिये उसी अर्थको फिर कहा है. बुद्ध्यादि पदसे "बुद्ध्यादिषट्कं ३२" इत्यादि कारिकोक्त आत्माके १४ गुण जान लेने.

अत्रैव प्रसङ्गाद्बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति, बुद्धिस्त्विति-

भाषा-यहांही बुद्धिके प्रसंगसे ग्रंथकार बुद्धिके कईएक भेद दिखलाता है-

-बुद्धिस्तु द्विविधा मता।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा॥ ५१॥

भाषा-एवं वह बुद्धि दो प्रकारकी है, एक अनुभवरूपा है और दूसरी स्मृति-रूपा है. एवं अनुभवरूपा बुद्धि पुनः चार प्रकारकी है॥ ५१॥

द्वैविध्यं व्युत्पादयति, अनुभूतिरिति । अनुभूतिश्चतुर्विधेति ।

एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥ ५१ ॥

भाषा-उस बुद्धिके द्वैविध्यको प्रतिपादन करता है अर्थात् वह बुद्धि पहले अनुभूति तथा स्मृतिभेदसे दो तरहकी है. उनमें अनुभूति पुनः चार तरहकी है. इन चारों बुद्धियोंके साधन " प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ३ " अर्थात् प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४ यह गौतमसूत्रोक्त चार प्रमाण जानने चाहिये ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।

भाषा-एक प्रत्यक्षरूपा है, दूसरी अनुमितिरूपा है, तीसरी उपमितिरूपा है और चौथी शब्दजन्या है ।

प्रत्यक्षमिति।इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानम्, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने कारणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम् । ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम् । " इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इति सूत्रे तथैवोक्तत्वात् ।

भाषा-नेत्रादि इन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञानका नाम प्रत्यक्ष है. यद्यपि मनोरूप इन्द्रियजन्यता अनुमिति आदि यावत् ज्ञानोंको है; याते पूर्वोक्त लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्त है, तथापि इन्द्रियत्वरूपसे इन्द्रियोंको जिस ज्ञानके प्रति कारणता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है 'इन्द्रियत्वका स्वरूप "शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम् " इत्यादि ग्रन्थसे ९८ कारिकाकी व्याख्यानमें ग्रन्थकार स्वयं लिखेगा, ज्ञानमात्रके प्रति मनको कारणता इन्द्रियत्वेन रूपण नहीं किन्तु मनस्त्वेन रूपेण विशेषधर्मसे है, सुखादि साक्षात् के प्रति मनको इन्द्रियत्वेन रूपेण कारणता है; याते मनमें इन्द्रियत्व धर्मकी हानि भी नहीं, प्रकृतमें जीवके जन्य प्रत्यक्षका विचार है "ईश्वरका प्रत्यक्षजन्य नहीं किन्तु नित्य है याते पूर्वोक्त लक्षणका लक्ष्य नहीं है; क्योंकि "नेत्रादि इन्द्रिय तथा घटादिरूप अर्थके परस्पर सम्बन्धसे उत्पन्न हो निर्विकलपस्वरूप हो पुनः व्यभिचार रहित निश्चयात्मक हो उस ज्ञानका नाम प्रत्यक्ष है" इस गौतम ४ सूत्रमें जन्यप्रत्यक्षकाही लक्षण किया है

अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम् । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्योपमितौ सादृश्यज्ञान-

स्य शाब्दबोधे पदज्ञानस्य स्मरणेऽनुभवस्य च हेतुत्वान्न तत्र तत्रातिव्याप्तिः ।

भाषा–अथवा जिस ज्ञानका ज्ञानान्तर करण नहीं यह ज्ञान प्रत्यक्ष है. इस लक्षणका लक्ष्य ईश्वरज्ञानभी हो सकता है; अनुमितिरूप ज्ञानके प्रति व्याप्तिज्ञानको करणता है; एवं उपमितिज्ञानके प्रति सादृश्यज्ञानको करणता है; एवं शाब्दबोधके प्रति पदज्ञानको करणता है, ऐसेही स्मृतिरूप ज्ञानके प्रति अनुभवात्मक ज्ञानको करणता है, याते यह सभी ज्ञान ज्ञानान्तर करणक हैं, और प्रत्यक्ष ज्ञानका कोई ज्ञानान्तर करण नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त लक्षणजन्य प्रत्यक्षमें समन्वय होता है और अनुमिति आदि ज्ञानोंमें अतिव्याप्तिभी नहीं है ।

परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः । न च कदाचित्कहेतुविषयकानुमिताव्याप्तिरिति वाच्यम् । तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः ।

भाषा–व्याप्तिकरणक परामर्शद्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानका नाम 'अनुमिति' है. यद्यपि परामर्शका प्रत्यक्ष तथा परामर्शका ध्वंसभी परामर्शजन्य है, क्योंकि अपने प्रत्यक्षमें परामर्शको विषयविधया कारणता है तथा अपने ध्वंसमें परामर्शको प्रतियोगिविधया कारणता है तथापि हेतुको न विषय करनेवाला जो परामर्शजन्य "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक ज्ञान वह अनुमिति है. परामर्शात्मक ज्ञानमें हेतुका भान होता है इसलिये परामर्श ज्ञानके विषय करनेवाले ज्ञानमें हेतुका भान अवश्य होगा, याते उसको अनुमिति कहना योग्य नहीं. शंका–किसी २ स्थलमें हेतुकाभी भान पक्षतावच्छेदकरूपसे अनुमितिमें होता है; जैसे "धूमवान्पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमितिमें धूमरूप हेतुका पक्षतावच्छेदक रूपसे भान है; याते हेतुको भी विषय करनेवाली इस अनुमितिमें पूर्वोक्त लक्षणकी अव्याप्ति होगी. समा०–(तादृश)व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य जो अनुमितिआत्मक ज्ञान उस ज्ञानमें वर्तनेवाली जो अनुभवत्वकी व्याप्य'अनुमितित्व' जाति तादृश जातिमत्ता अनुमितिको विवक्षित है याते पूर्वोक्त दोष नहीं अथवा लाघवसे व्याप्ति ज्ञानकरण हो जिस ज्ञानका वह अनुमिति ज्ञान है ऐसा लक्षण करना उचित है ।

एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः ।

भाषा-एवं सादृश्य ज्ञानकरण हो जिस ज्ञानका, वह उपमिति रूप ज्ञान है।

पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः।

भाषा-एवंही पद ज्ञान करण हो जिस ज्ञानका, वह ज्ञान शाब्दबोधरूप है.

वस्तुतो यां कांचिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तित्वे सति यां कांचित् प्रत्यक्षव्यक्तिमादाय तदवृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम्। एवं यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्तित्वे सति यां कांचिदनुमितिव्यक्तिमादाय तदवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षादिकं वाच्यमिति।

भाषा-वास्तवमें तो किसी एक अनुमिति व्यक्तिमें वर्तनेवाली तथा किसी एक प्रत्यक्ष व्यक्तिमें न वर्तनेवाली जो अनुमितित्वजाति तादृश जातिवाली अनुमिति है एवं किसी एक प्रत्यक्ष व्यक्तिमें वर्तनेवाली तथा किसीएक अनुमिति व्यक्तिमें न वर्तनेवाली 'प्रत्यक्षत्व' रूपा जाति तादृश जातिवाला प्रत्यक्ष है. ऐसेही उपमिति ज्ञानका तथा शाब्दबोधका लक्षणभी करलेना।

घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥ ५२ ॥

भाषा-पूर्वोक्त, प्रत्यक्ष घ्राणज आदिभेदसे षट् प्रकारका है ॥ ५२ ॥

घ्राणजादीति। घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पर्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। नचेश्वरप्रत्यक्षस्याविभजनान्न्यूनत्वम्। जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वात्, उक्तसूत्रानुसारात् ॥ ५२ ॥

भाषा-घ्राणद्वारा १, रसनाद्वारा २, नेत्रद्वारा ३, त्वचाद्वारा ४, श्रोत्रद्वारा ५, और मनद्वारा ६. ऐसे छः तरहका प्रत्यक्ष है. शंका-ईश्वर प्रत्यक्षका विभाग न करनेसे ग्रन्थकारकी न्यूनता है. समाधान-पूर्वोक्त गौतम सूत्रानुरोधसे इस प्रकरणमें जन्य प्रत्यक्षकाही निरूपण है ॥ ५२ ॥

घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।

गोचर इति। ग्राह्य इत्यर्थः।

भाषा-गन्ध गुण तथा गन्धत्वादि जातियोंका घ्राण इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है.

गन्धत्वादिरिति। आदिपदात् सुरभित्वपरिग्रहः। गन्ध-

स्य प्रत्यक्षत्वात्तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा । गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम् ।

भाषा–मूलोक्त 'आदि' पदसे 'सुरभित्व', असुरभित्व धर्मोंका ग्रहण है. गन्धके प्रत्यक्ष होनेसे उसमें रहनेवाली 'गन्धत्व' जातिभी प्रत्यक्षासिद्ध है. गन्धका आश्रय जो पृथ्वीरूप द्रव्य है उसके ग्रहण करनेमें घ्राणका सामर्थ्य नहीं है इति ।

तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥५३॥

तथा रस इति । रसत्वादिसहित इत्यर्थः ।

भाषा–ऐसेही रसगुणका तथा रसत्वादि जातियोंका रसना इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है. एवंही शब्दगुणका तथा शब्दत्वादि जातियोंका श्रोत्र इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है.

गन्धो रसश्चोद्भूतो बोध्यः । तथा शब्दत्वादिसहितः ॥ ५३ ॥

भाषा–इस प्रकरणमें (उद्भूत) प्रत्यक्षके योग्य गन्ध तथा रसका ग्रहण है ५३

उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये । विभागसंयोगपरापरत्व-स्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥
क्रियां जातिं योग्यवृत्तिं समवायं च तादृशम् ।
गृह्णाति चक्षुःसंबन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥५५॥

भाषा–उद्भुद्धरूपका तथा उद्भुद्धरूपवाले द्रव्यका, एवं पृथक्त्व तथा संख्याका विभागका तथा संयोगका, परत्वका तथा अपरत्वका, स्नेहका तथा द्रव्यत्वका, परिमाणका, प्रत्यक्षके योग्य द्रव्यकी क्रियाका, जातिका तथा समवायका ग्रहण नेत्रइन्द्रियद्वारा होता है. प्रकाशसम्बन्ध तथा उद्भूतरूप पूर्वोक्त प्रत्यक्षमें सहकारी हैं ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

उद्भूतरूपमिति । ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति न चाक्षुषं प्रत्यक्षम् । तद्वन्ति उद्भूतरूपवन्ति । योग्येति । पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया ग्राह्यम् । तादृशं योग्यव्यक्तिवृत्तीत्यर्थः ।

चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह, गृह्णातीति-आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति कारणम् ।

भाषा-ग्रीष्मऋतुमें होनेवाली (ऊष्मा) भाफमें रूप अनुद्भूत होनेसे प्रत्यक्ष नहीं होता पृथक्त्वसंख्यादिकभी प्रत्यक्ष योग्य पदार्थमें प्रत्यक्ष होतेहैं. अन्यथा नहीं समवाय भी प्रत्यक्ष योग्य पदार्थमें प्रत्यक्ष होता है एवं प्रकाशका संयोग तथा उद्भूतरूप नेत्रजन्य प्रत्यक्षके प्रति कारण है.

तत्र द्रव्यचाक्षुषं प्रति तयोः समवायसम्बन्धेन कारणत्वं द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षं प्रति स्वाश्रयसमवायसम्बधेन । द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादे प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

भाषा-उसमेंसेभी (द्रव्य घटादिप्रत्यक्षके प्रति प्रकाशसंयोग तथा उद्भूतरूपको समवायसम्बन्धसे कारणता है, क्योंकि घटका तथा प्रकाशका संयोग घट प्रकाश उभयमें समवायसम्बन्धसे रहता है और घटका रूप भी घटमें समवायसम्बन्धहीसे रहता है; याते दोनोंको विषयनिष्ठ समवाय सम्बन्धसे विषयसाक्षात्कारमें कारणता है. एवं घटादि समवेत रूपादि प्रत्यक्षके प्रति प्रकाशसंयोग उद्भूत रूपको(स्व)रूपादिका (आश्रय) अधिकरण जो घटादि द्रव्य तन्निष्ठ समवायसम्बन्धसे कारणता है; एवं घटादिद्रव्यमें समवेत जो रूपादि उन रूपादिकोंमें समवेत जो रूपत्वादि उन रूपत्वादिकोंके प्रत्यक्षमें प्रकाशसंयोग उद्भूतरूपका(स्व) प्रकाशसंयोग उद्भूतरूपका (आश्रय) अधिकरण जो घटादिद्रव्य उस द्रव्यमें समवेत जो रूपादि उन रूपादिकोंमें समवेत जो रूपत्वादि उन रूपत्वादिकोंके प्रत्यक्षमें एतादृश परंपरासम्बन्धसे कारणता है इति ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।

भाषा-जिस द्रव्यका स्पर्श उद्भूत हो उसको त्वगूइन्द्रिय ग्रहण करता है.

उद्भूतेति । उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः । सोप्युद्भूतस्पर्शोऽपि स्पर्शत्वादिसहितः ।

भाषा-उद्भूत स्पर्शवाले द्रव्यको त्वगूइन्द्रिय ग्रहण करता है. उद्भूतस्पर्शको तथा रहनेवाली स्पर्शत्वादि जातिको भी त्वगूइन्द्रिय ग्रहण करता है.

रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं-

भाषा–रूपको छोड़कर जो पदार्थ नेत्रसे ग्रहण होता है उसीको त्वगिन्द्रियभी ग्रहण कर सकता है.

रूपान्यदिति । रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च चक्षुषो यद्योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम् । तथा च पृथक्त्वसंख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इति ।

भाषा–रूपसे तथारूपत्वादि धर्मोंसे भिन्न जिस २ वस्तुको नेत्र ग्रहण करता है; उसी २ पदार्थको त्वग्इन्द्रियभी ग्रहण करताहै. एवं नेत्रोंद्वारा ग्रहणयोग्य पूर्व कहे जो 'पृथक्त्व-संख्यादि गुण' तथा प्रत्यक्ष योग्यद्रव्योंकी 'क्रिया' और 'जातियां' उन सबको त्वग्इन्द्रियभी ग्रहण करता है.

द्रव्याध्यक्षे– रूपमत्रापि कारणम् ॥ ५६ ॥

भाषा–द्रव्यत्वाचप्रत्यक्षमेंभी रूपहीको कारणता है ॥ ९७ ॥

अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि, रूपं कारणम् । तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणमिति । नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं न कारणं प्रमाणाभावात्, किंतु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वय-व्यतिरेकात् ।

भाषा–यहां त्वग्इन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्षमेंभी रूप कारण है; अर्थात् रूपसे बिना द्रव्यका त्वाचप्रत्यक्षभी नहीं होता. इसरीतिसे वाह्यइन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षके प्रति लाघवसे रूप कारण है और नवीन आचार्य गांगेशोपाध्यायादिकोंका यह मत है कि–बाह्य द्रव्य प्रत्यक्षके प्रति रूपको कारणता माननेमें कोई प्रबल युक्ति प्रमाण नहीं है किन्तु नेत्रजन्य प्रत्यक्षमें रूपको और त्वाच प्रत्यक्षमें स्पर्शको भिन्न २ कारणता है. इस कार्य्यकारणभावका ग्रहण अन्वयव्यतिरेकद्वारा होता है अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे रूपसत्त्वसे चाक्षुषप्रत्यक्ष सत्त्व रूपके अभावसे चाक्षुषप्रत्यक्षका अभाव सिद्ध है. ऐसेही स्पर्शसत्त्वसे त्वाचप्रत्यक्षसत्त्व स्पर्शाभावसे त्वाचप्रत्यक्षका अभाव अनुभव सिद्ध है.

बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत् । न किंचित् । आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु । रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेत् । न । वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसङ्गात् । इष्टापत्तिरिति चेत् । उद्भूतस्पर्श एव लाघवात् कारणमस्तु प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरित्येव किं नेष्यते ।

प्राचीन-बाह्यइन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्षमात्रमें अनुगत एक कारण कौन है ? नवीन-कोई नहीं अथवा आत्मामें न वर्तनेवाले जो शब्दसे भिन्न विशेष गुण, तादृश गुणवत्त्व बाह्यद्रव्य प्रत्यक्षके प्रति कारण है; अर्थात् आत्मामें न वर्तनेवाले शब्दभिन्न विशेषगुण पृथ्वी आदि चारोंमेंही रहते हैं तादृश गुणवत्त्व धर्म उन चारमेंही है. याते वही बाह्यद्रव्य प्रत्यक्षमें कारण हैं. प्राचीन-यदि बाह्य प्रत्यक्षमात्रके प्रति केवल रूपको कारणता माने तो लाघव है. नवीन-वायुका त्वगइन्द्रिये साक्षात्कार नहीं होगा. प्राचीन-हमको वायुका न प्रत्यक्ष होना इष्ट है, क्योंकि हमारे सिद्धान्तमें वायुका स्पर्श रूप लिंगसे अनुमान होता है. नवीन-बाह्यइन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षके प्रति यदि उद्भूतस्पर्शहीको लाघवसे कारणता मान लें तो क्या दोष है? प्राचीन-(प्रभा) प्रकाशका प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि उसमें स्पर्शरूप कारण नहीं है. नवीन-प्रभाका नहींभी प्रत्यक्ष हो तो आपकी क्या हानि है? जैसे आपने वायुके प्रत्यक्षाभावमें इष्टापत्ति मानी है वैसेही प्रभाके प्रत्यक्षाभावमेंभी इष्टापत्ति माननी उचित है.

तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवद्वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य सत्त्वाद्वायोरपि प्रत्यक्षत्वं भवत्येव । बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे तु न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम् । वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचित् द्वित्वादिकमपि, क्वचित् संख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः ॥ ५६ ॥

भाषा-इसलिये यही उचित है कि जैसे "मैं प्रभाकूं देखताहूं" यह बुद्धि होती है, वैसेही "मैं वायुका स्पर्श करताहूं" यह बुद्धिभी साक्षात्कारात्मिका है. इससे वायुका प्रत्यक्षभी होताही है, कोई बाधक नहीं बाह्यद्रव्य प्रत्यक्षमात्रमें न केवलरूप कारण है और न केवल स्पर्श कारण है. प्रभागत एकत्व संख्याको जैसे नेत्र ग्रहण करताहै वैसेही वायुगत एकत्व संख्याको त्वचा ग्रहण करती है और कहीं सजातीय प्रत्यय

न हो तो वायुगत द्वित्व परिमाणादिकोंका ग्रहणभी होता है. जैसे "द्वितीयोऽयं महान् वायुः" इस प्रत्ययमें द्वित्व तथा परिमाण उभयका भान है और कहीं सजातीय प्रत्ययरूप दोषसे संख्यापरिमाण आदिकोंका ग्रहण नहीं भी होता ॥ ५६ ॥

–त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।

भाषा–मनके साथ त्वगिन्द्रियका सम्बन्ध ज्ञान सामान्यमें कारण है ।

त्वचो योग इति । त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः। किं तत्र प्रमाणम्, सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननामिति ।

भाषा–त्वचामनका संयोग जन्यज्ञानमात्रमें कारण है. शंका–इसमें क्या प्रमाण है? समाधान–गाढनिद्राकालमें त्वचासम्बन्धको त्यागके पुरीतत्नामा नाडीमें मन प्रवेश करता है तो ज्ञान नहीं होता. यही प्रमाण है ।

ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति, अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा । नाद्यः, अनुभवसामग्र्यभावात् । तथाहि । चाक्षुषादिप्रत्यक्षे चक्षुरादिना सह मनःसंयोगस्य हेतुत्वात्, तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्, ज्ञानादेरभावादेव न मानसप्रत्यक्षम्, ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षम्, एवं व्याप्तिज्ञानाभावान्नानुमितिः, सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः, पदज्ञानाभावान्न शाब्दबोध इत्यनुभवसामग्र्यभावान्नानुभवः, उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम् । मैवम् । सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् ।

शंका–सुषुप्तिकालमें यदि त्वङ्मनःसंयोग मानभी लिया जाय तो उस कालमें कैसा ज्ञान होसकता है? अनुभवरूप. अथवा स्मरणरूप? यदि अनुभवरूप कहो तो युक्त नहीं; क्योंकि उस कालमें अनुभवजनकसामग्रीका अभाव है. अनुभवजनक सामग्री मनका नेत्रादि इन्द्रियोंके साथ संयोगरूपा है. चाक्षुषत्वाचादि प्रत्यक्षमें चक्षुर्मनःसंयोग तथा त्वङ्मनःसंयोग आदिकोंको हेतुता है. सुषुप्तिकालमें त्वङ्मनःसंयोगादिके अभावसे त्वाचचाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होता; सुषुप्तिकालमें आत्माके

ज्ञानादि गुणोंकाभी तिरोधान है. याते मानसप्रत्यक्षभी नहीं होसकता और आत्माकाभी मानसप्रत्यक्ष ज्ञानादि गुणोंद्वाराही होता है. उसकालमें ज्ञानादिगुणोंके न होनेसे आत्माका मानसप्रत्यक्षभी नहीं हो सकता. ऐसेही सुषुप्तिकालमें व्याप्तिज्ञानके न होनेसे अनुमितिज्ञानभी नहीं हो सकता. सादृश्यज्ञानके न होनेसे उपमितिज्ञानभी नहीं हो सकता. एवं सुषुप्तिकालमें पदज्ञान न होनेसे शाब्दबोधात्मक ज्ञानभी नहीं होसकता. इस पूर्वोक्तरीतिसे सुषुप्तिकालमें अनुभव सामग्रीके न होनेसे अनुभव ज्ञान नहीं होसकता. एवं सुषुप्तिकालमें संस्कारोंका उद्बोधक कोई पदार्थ नहीं है याते स्मृतिरूप ज्ञानभी नहीं होता. समाधान—सुषुप्तिके प्रथमक्षणमें उत्पन्न हुई (इच्छादि) अर्थात् इच्छाके आदिमें होनेवाली ज्ञानव्यक्तिका तथा उस ज्ञानके सम्बन्धसे आत्माका साक्षात्कार होना चाहिये, शंका—सुषुप्तिके प्रथमक्षणमें ज्ञान-व्यक्ति अतींद्रिय उत्पन्न होती है इसलिये उसका तथा उसके सम्बन्धसे आत्मा-का प्रत्यक्ष नहीं होता—समाधान—उस ज्ञानव्यक्तिके अतीन्द्रिय माननेमें कोई प्रमाण नहीं है ।

सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभा-वात्। अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रा-सनचाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले स्पार्शनप्रत्यक्षं स्यात्, विषयत्वक्संयोग-स्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्त्वात् परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति ।

शंका—सुषुप्तिके पूर्वक्षणमें उत्पन्नहुआ ज्ञान नियमसे (निर्विकल्पक) प्रकार-तादि रहित होता है, याते उसका प्रत्यक्ष तथा उसके सम्बन्धसे आत्माका प्रत्यक्ष बन नहीं सकता, समाधान—सुषुप्तिके प्रथम लक्षणमें ज्ञानके नियमसे (निर्विक-ल्प) प्रकारतादि शून्य उत्पन्न होनेमेंभी कोई प्रमाण नहीं है, शंका—यादि ज्ञान-मात्रके प्रति त्वचा मनका संयोग कारण है तो रसनाजन्य प्रत्यक्षकालमें तथा नेत्रादिजन्य प्रत्यक्ष कालमें त्वाच प्रत्यक्षभी होना चाहिये; क्योंकि विषय घटादिके साथ त्वचाका तथा त्वचाके साथ मनका संयोग विद्यमान है, समाधान—चाक्षु-षादि ज्ञानजनिका सामग्री त्वचा जन्य स्पर्शन ज्ञानमें प्रतिबन्धिका है इसलिये चाक्षुष ज्ञानकालमें स्पार्शनज्ञान नहीं होता, शंका—यादि ज्ञानकी सामग्रियोंमें प्रति-बध्य प्रतिबन्धक भावकी कल्पना की जाय तो विषयइन्द्रियसंयोग तथा इन्द्रियमनः-संयोगरूपा ज्ञान सामग्री सर्वत्र उपस्थित है, वह सामग्री यादि (परस्पर) एक दूसरीकी प्रतिबन्धिका होगी तो कोई ज्ञानभी उत्पन्न नहीं होगा।

अत्र केचित् । पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात् कल्प्यत इति । अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञान-हेतुत्वं कल्प्यम्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले च त्वङ्मनःसंयोगा-भावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति ।

समाधान–यहां कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि–"सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीततिवर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति" अर्थात् सुषुप्तिकालमें त्वग्इन्द्रियको त्यागके पुरीतत्नामक नाडीमें वर्तमान मनसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता. इति । इस पूर्वोक्त युक्तिसे त्वचामनःसंयोगसे ज्ञानहेतुता सिद्ध है और एककालमें नाना ज्ञान-की उत्पत्ति भी अनुभवसे विरुद्ध है. इसलिये अनुभवके अनुरोधसे चाक्षुषादि ज्ञानकी सामग्रीको स्पार्शन ज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक कल्पना करसकते हैं. इस पूर्व प्रकरणमें 'त्वचा' शब्दसे त्वग्इन्द्रियका ग्रहणहै. इसी स्थलमें (अन्ये तु)पक्षधर-मिश्र ऐसे कहते हैं कि सुषुप्तिके अनुरोधसे (चर्म) त्वग् इन्द्रियके गोलकके तथा मनके परस्पर संयोगको ज्ञान सामान्यके प्रति कारणता कल्पना करनी उचित है. ऐसे माननेसे पूर्व दिया जो चाक्षुषादि प्रत्यक्षकालमें त्वाच प्रत्यक्ष आपत्तिरूप दोष वह भी नहीं है; क्योंकि चाक्षुषादि प्रत्यक्षकालमें त्वग् इन्द्रियका तथा मनका संयोग नहीं है इसलिये त्वाचप्रत्यक्षकी योग्यता नहीं है.

मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥५७॥

भाषा–सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान तथा यत्न इन छहको मन इन्द्रिय ग्रहण करता है ॥ ५७ ॥

मनोग्राह्यमिति । मनोजन्यप्रत्यक्षविषयः । मतिर्ज्ञानं, कृतिः प्रयत्नः । एवं सुखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम् । एवमा-त्मापि मनोग्राह्यः, किंतु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमु-क्तत्वादत्र नोक्तः ॥ ५७ ॥

भाषा–यह सब मानस प्रत्यक्षके विषय हैं ऐसे ही इन सबमें रहनेवाली 'सुख-त्व ' आदि जातियोंका भी मानस प्रत्यक्षही होता है. ऐसेही आत्माका भी मानस प्रत्यक्षही होता है "मनोमात्रस्य गोचरः ५० " इस ग्रन्थसे पूर्व कह आये हैं; इस लिये यहां नहीं कहा ॥ ५७ ॥

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते ।

भाषा—और जो निर्विकल्पात्मक ज्ञान है उसका किसी इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता.

ज्ञानं यदिति । चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टज्ञानं न सम्भवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्, विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाहि एव ज्ञानं जायते तदेव निर्विकल्पकात्मकम् । तच्च न प्रत्यक्षम् ।

भाषा—उसमें प्रमाण यह है कि नेत्रइन्द्रियके संयोग आदिके पश्चात्‌ही 'अयं घटः' इत्याकारक घटत्वादि प्रकारक घटादिविशेष्यक विशिष्ट ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उससे पहले विशेषणीभूत घटत्वादिका ज्ञान नहीं है. और 'अयं घटः' इत्याकारक विशिष्टबुद्धिमें 'घटत्वादि' विशेषण ज्ञानको कारणताका नियम है; इसलिये पहले घटघटत्वादि उभयका (वैशिष्ट्यानवगाहि) जुदा जुदा "इमे घटघटत्वे" इत्याकारक ज्ञानही होता है उसीका नाम निर्विकल्प ज्ञान है. वह निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता ।

तथाहि । वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति घटमहं जानामीति प्रत्ययात् । तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते, ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम् । यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते । विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने कारणम् ।

भाषा—वह इसरीतिसे है कि (वैशिष्ट्यानवगाहि) 'विशेष्यता' प्रकारता, संसर्गताको न विषय करनेवाले ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि ज्ञानका प्रत्यक्ष तो "घटमहं जानामि" इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक प्रतीतिमें होता है. इसप्रतीतिमें आत्मामें ज्ञान विशेषणरूपसे प्रतीत होता है और ज्ञानमें घट विशेषणरूपसे भासता है. एवं घटमें घटत्वविशेषण रूपसे भासता है. प्रकार और विशेषण ये एक अर्थको कहनेवाले दो शब्द हैं. घटादिविशेषणोंमें जो घटत्वादि विशेषण हैं उनहीको विशेषणताके अवच्छेदक धर्म भी कहते हैं, उन घटत्वादिधर्मोंका जो विशेषणतावच्छेदक प्रकारकरूपसे ज्ञान वही "घटमहं जानामि" इत्याकारक विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानमें कारण है.

निर्विकल्पक च घटत्वादिकं न प्रकारः तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभानं ज्ञाने न सम्भवति । घटत्वाद्यप्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं न सम्भवति, जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात् ।

भाषा—और निर्विकल्पकज्ञानमें घटत्वादिधर्मोंका प्रकारतारूपसे भान नहीं है इसलिये घटत्वादि विशिष्ट जो घटादि, उन घटादिकोंका (वैशिष्टय) विशेषणरूपसे भान निर्विकल्पक ज्ञानमें नहीं होता और घटत्वादिप्रकारका जिसमें न भान हो किन्तु केवल घटही प्रकाररूपसे जिसमें भान हो ऐसा घटादिविशिष्ट ज्ञान होही नहीं सकता; क्योंकि जाति तथा अखण्ड उपाधिसे भिन्न पदार्थोंका किसी एक धर्महीसे अवश्य भान होता है. अन्यथा नहीं.घटादि पदार्थ जाति तथा अखण्डोपाधिसे भिन्न हैं इसलिये उनका घटत्वादि धर्मोंद्वारा भान होताहै, केवल नहीं. अखण्ड उपाधि नाम प्रतियोगित्व अनुयोगित्व आदि अनिर्वचनीय धर्मोंका है—इति.

महत्त्वं षड्विधे हेतुः—

भाषा—पूर्वोक्त षड्विध प्रत्यक्षमें महत्त्वपरिमाणको कारणता है.

महत्त्वमिति । द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेतानां जातिगुणकर्मणां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वरूपत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति ।

भाषा—द्रव्यके प्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाण समवायसम्बन्धसे कारण है अर्थात् जिस द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे महत्त्वपरिमाण है उसीका प्रत्यक्ष होसकता है, अन्यका नहीं और द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले जाति गुण कर्म आदिकोंके प्रत्यक्षमें महत्त्वपरिमाणको 'स्वाश्रयसमवाय' सम्बन्धसे कारणता है. 'स्व' शब्दसे महत्त्वपरिमाण उसका आश्रय द्रव्य, उसमें समवायसम्बन्धसे जातिगुणादि रहतेहैं. ऐसेही द्रव्यमें समवेत जो गुण कर्मरूपादि उन गुणकर्मरूपादिकोंमें समवेत जो गुणत्वकर्मत्व रूपत्वादि उन गुणत्वकर्मत्व रूपत्वादिकोंके प्रत्यक्षके प्रति महत्त्वपरिमाणको 'स्वाश्रयसमवेतसमवाय' सम्बन्धसे कारणता है.'स्व'शब्दसे महत्त्वपरिमाण उसका आश्रय द्रव्य उसमें समवेत गुण कर्म रूपादि उनमें गुणत्व कर्मत्व रूपत्वादिकोंका समवायसम्बन्ध है. एतादृश सम्बन्धसे महत्व परिमाणको गुणत्वादि प्रत्यक्षके प्रति कारणता है—इति.

-इन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

भाषा-पूर्वोक्त षड्विध प्रत्यक्षमें नेत्रादिइन्द्रियोंको असाधारण कारणता है ॥ ५८ ॥

इन्द्रियमिति । अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते । इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्य्यप्रसङ्गात् । किंतु शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम् । आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्, उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति, विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुषि सत्त्वादुद्भूतेति । उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना सङ्करात् ।

भाषा-इन्द्रियोंमें इन्द्रियत्वरूप धर्मका पृथ्वीत्व जलत्वादिधर्मोंके साथ संकर है इसलिये ' इन्द्रियत्व' धर्मजातिरूप नहीं है, किन्तु अखण्डोपाधिरूप है. बहुपदार्थघटित धर्मका नाम सखण्डोपाधि है. यह 'धर्म' शब्दसे इतर (रूपसुखादि) उद्भूत विशेषगुणके अनाश्रय तथा ज्ञानके कारणीभूत मनःसंयोगके आश्रयरूप इन्द्रियमें रहता है यही इन्द्रियका निर्वचन है, ज्ञान कारणीभूत मनःसंयोगका आश्रय आत्माभी है उसके वारणार्थ 'शब्देतरोद्भूत विशेषगुणानाश्रयत्वे सति' कहा. आत्मा शब्देतरउद्भूत विशेषगुण'सुखादि' का आश्रय है,याते दोष नहीं. शब्दरूप उद्भूतविशेषगुण श्रोत्र इन्द्रियमें है. श्रोत्र संग्रहार्थ शब्देतरउद्भूत गुणका अनाश्रय कहा, अनुद्भूतरूपादि विशेषगुण नेत्रादि इन्द्रियोंमें विद्यमान हैं; उनके वारणार्थ उद्भूत विशेषगुण कहा अर्थात् ' उद्भूत ' पदके न देनेसे नेत्रादि इन्द्रियोंमें अव्याप्ति होगी. उद्भूतत्वरूप धर्मका शुक्लत्वादि धर्मोंके साथ संकर है. इसलिये 'उद्भूतत्व' धर्मजातिरूप नहीं है.

न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम् । उद्भूतरूप-

---

१ संकरका प्रकार यह है कि-पृथ्वीत्वरूप धर्मको छोडकर इन्द्रियत्व धर्म नेत्रादिकोंमें रहताहै और इन्द्रियत्वरूप धर्मको छोडकर पृथ्वीत्वरूप धर्म घटादिपृथ्वीमें रहताहै. एवं पृथ्वीत्व इन्द्रियत्व उभयधर्मका एकत्र समावेश घ्राणइन्द्रियमें है-इति. ऐसेही जलत्वादि धर्मोंके साथ संकर जानलेना.

२ संकरका प्रकार यह है कि शुक्लत्वधर्मको छोडकर उद्भूतत्व उद्भूतगन्धमें है एवं उद्भूतत्व धर्मको छोडकर शुक्लत्वधर्म अनुद्भूत शुक्लमें है एवं धर्मद्वयका समावेश उद्भूतशुक्लमें है. ऐसेही नीलत्वादिधर्मोंके साथ जानलेना.

वत्त्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्तेः। किंतु शुक्लत्वादिव्याप्यमनुद्भूतत्वं नाना तदभावकूटश्चोद्भूतत्वम्, तच्च संयोगादावपि। तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरस्त्यतो विशेषेति। कालादिवारणाय विशेष्यदलम्।

शंका—शुक्लत्वादि जातियोंके व्याप्यधर्म उद्भूतत्व अनेक माने तो क्या दोष है? समाधान—यदि अनेक मानें तो चाक्षुषप्रत्यक्षमें उद्भूतरूपत्वादि धर्मोंसे जनकता नहीं बन सकेगी क्योंकि उन उद्भूतरूपत्वादिकोंको यदि एक एक व्यक्तिको कारणतावच्छेदक मानें तो एक व्यक्तिके सत्त्वकालमेंभी द्वितीय 'उद्भूतत्व' व्यक्तिका अभाव होनेसे उद्भूतरूपत्वादिकोंका चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ कार्यकारणभावका व्यभिचार होगा और अनेक उद्भूतत्व किसीएक व्यक्तिमेंभी नहीं रहसकते इसलिये कारणताके अवच्छेदक नहीं होसकते; (किन्तु) परन्तु ऐसा कह सकते हैं कि शुक्लत्वादिधर्मोंके व्याप्य 'अनुद्भूतत्व' धर्म अनेक हैं और उन सबके अभावका पुंजरूप एक 'उद्भूतत्व' है, वह उद्भूतत्वरूप धर्म संयोगादिगुणोंमेंभी है, एवं शब्दसे इतर उद्भूत गुण संयोगादिक नेत्रादि इन्द्रियोंमें विद्यमान है, इसलिये 'उद्भूतविशेषगुण' कहा. संयोगादि विशेषगुण नहीं है याते अव्याप्तिरूप दोष नहीं है, शब्दइतरउद्भूत विशेष गुणके अनाश्रय कालादिभी है उनके वारणार्थ उत्तर विशेष्यदल कहा है, कालादि शब्देतरउद्भूतविशेषगुणके अनाश्रय हैं भी परन्तु ज्ञानकारणीभूत मनःसंयोगके आश्रय नहीं है याते दोष नहीं।

इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सन्निकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाद्याश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनःपदम्। ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय। करणमिति। असाधारणं कारणं करणम्। असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम्॥ ५८॥

भाषा—प्राचीन आचार्य नेत्रादिइन्द्रियके अवयवोंको तथा घटादिविषयके परस्पर संयोगकोभी प्रत्यक्षके प्रति कारण मानते हैं पूर्वोक्त इन्द्रियके लक्षणकी इन्द्रियके एक देश अवयवमें प्रसक्तिवारणार्थ'मनः'पदका निवेश है. अथवा नवीन आचार्य कालादिकोंमें रूपाभावका चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं उसमें कारणीभूत चक्षुःसंयोगका आश्रय होनेसे संबंधका संपादक कालभी हैं। इसलिये "काले रूपं नास्ति" इस प्रतीतिमें

रूपाभावात्मक ज्ञानका कारण जो 'चक्षुःकाल संयोग' उसका आश्रय कालभी है उसमें पूर्वोक्त लक्षण अतिप्रसक्त होगा, उसके वारणार्थ 'मनः' पदका निवेश है, 'ज्ञानकारण' इस पदके न देनेसेभी पूर्वोक्त सम्पूर्ण लक्षणकी कालादिकोंमें अतिप्रसक्ति होती है; इसलिये सार्थक है, 'कारणमिति' यह मूलकारिकाकी प्रतीक है असाधारण कारणका नाम करण है, व्यापारवालेका नाम असाधारण कारण है ॥५४॥

विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः ।

भाषा–पूर्वोक्त षड्विध प्रत्यक्षमें घटादिविषयोंके साथ नेत्रादिइन्द्रियोंका सम्बन्धरूप व्यापारभी षट्प्रकारका है ।

विषयेन्द्रियेति । व्यापारः सन्निकर्षः ।

भाषा–प्रकृतमें व्यापार नाम सन्निकर्ष विशेषका है ।

षड्विधं संनिकर्षमुदाहरणद्वारा दर्शयति, द्रव्यग्रह इति–

भाषा–उस छः प्रकारके सन्निकर्षको मूलकार उदाहरणपूर्वक दिखलाता है–

द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः ॥ ५९ ॥
द्रव्येषु समवेतानां, तथा तत्समवायतः ।
तत्रापि समवेतानां, शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥ ६१ ॥
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।

भाषा–घटादि द्रव्यका ग्रहण संयोग संबंधसे होता है, द्रव्यसमवेत रूपादिकोंका ग्रहण 'संयुक्तसमवाय'' सम्बन्धसे होता है ॥५९॥ एवं द्रव्यसमवेत समवेत रूपत्वादिकोंका ग्रहण 'संयुक्तसमवेत समवाय' सम्बन्धसे होता है, शब्दका 'समवाय' सम्बन्धसे ग्रहण होता है ॥ ६० ॥ शब्दमें रहनेवाले शब्दत्वादि धर्मोंका 'समवेत समवाय' सम्बन्धसे ग्रहण होता है, समवायका 'विशेषणता' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है ॥ ६१ ॥ तथा अभावोंका 'विशेषणता' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है ।

द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम् । द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यमेवमग्रेऽपि । वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगः कारणम् । द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवायः ।

द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायः। एवमन्यत्रापि विशिष्यैव कार्यकारणभावः।

भाषा—घटादि द्रव्यका लौकिक प्रत्यक्ष नेत्रादि इन्द्रियोंके संयोगसे होता है एवं घटादि द्रव्य समवेत रूपादिकोंका लौकिक प्रत्यक्ष 'इन्द्रियसंयुक्त समवाय' सम्बन्धसे होता है. ऐसेही आगेभी जानलेना. वास्तवमें तो ऐसा कहना उचित है कि—घटादि द्रव्य चाक्षुषके प्रति चक्षुःसंयोगको कारणता है, एवं घटादिसमवेत-रूपादि चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' संसर्गको कारणता है, एवं घटादि द्रव्यमें समवेत जो रूपादि उनमें समवेत जो रूपत्वादि उन रूपत्वादि चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवेत समवाय' संसर्गको कारणता है ऐसेही त्वाचादिलौकिक प्रत्यक्षमें भी विशेषरूपसेही कार्यकारण भाव मानना उचित है।

परंतु परमाणुनीले नीलत्वं पृथिवीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षुषा कथं न गृह्यते, तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च विद्यमानत्वात्।

भाषा—(परंतु) इसमें यह विचारणीय है कि पृथ्वीके नील परमाणुओंमें नीलत्व जातिका तथा पार्थिवपरमाणुओंमें पृथ्वीत्वजातिका नेत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण क्यों नहीं होसकता? वहां 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वादि' परम्परा सम्बन्धसे उद्भूतरूप तथा महत्त्व परिमाणरूप कारणभी विद्यमान है, यहां 'स्व' शब्दसे उद्भूत रूप तथा महत्त्वपरिमाण उभयका ग्रहण है, उनके आश्रय त्रसरेणु आदि हैं; त्रसरेणु द्व्यणुकमें समवेत है, द्व्यणुकपरमाणुओंमें समवेत है, इत्याकारक परंपरासंबन्धसे उद्भूतरूप तथा महत्त्व परिमाण परमाणुओंमें विद्यमान है इसीको स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं—

तथाहि। नीलत्वं जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्त्तते तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्त्तते उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैव वर्तते। एवं पृथिवीत्वे घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः। एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्।

भाषा—तथाहि नीलमें नीलत्वजाति एकही है वही घट नीलमें तथा परमाणु नीलमें विद्यमान है, एवं महत्त्व परिमाणका संबन्ध घट नीलको लेकर परमाणु-नीलमें विद्यमान है और उद्भूतरूपका संबन्ध तो घटनील तथा परमाणु नील उभ-

यको लेकर परमाणुओंमें विद्यमान है ऐसेही पार्थिव परमाणुनिष्ठ पृथ्वीत्वके साथभी महत्त्वपरिमाणका संबन्ध घटादिकोंको लेकर पूर्वोक्त परंपरासंबन्धसे विद्यमान है, ऐसेही वायुमें तथा वायुके स्पर्शमें रहनेवाली सत्ताकाभी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये; क्योंकि घटादिकोंको लेकर उद्भूतरूपका तथा महत्त्वपरिमाणका संबन्ध सत्ताके साथ वायु तथा उसके स्पर्श, दोनोंमें बना सकता है ।

तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे तादृशचक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषे कारणत्वं वाच्यम् । इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणुचक्षुःसंयोगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात् । एवं वाय्वादौ न सत्त्वादिचाक्षुषं तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात् ।

भाषा-इसलिये द्रव्यसमवेत 'रूपादि' चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपविशिष्ट महत्त्वावच्छिन्नके साथ 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' संबन्धको कारणता कहनी चाहिये. एवं द्रव्यसमवेतसमवेत 'रूपत्वादि' चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति (तादृश) उद्भूतरूप विशिष्टमहत्त्वावच्छिन्नके साथ 'चक्षुःसंयुक्त समवेत समवायसंबन्धको कारणता कहनी उचित है. इस रीतिसे परमाणु नीलमें नीलत्वादि प्रत्यक्षकी आपत्ति नहीं बन सकती क्योंकि परमाणुओंमें महत्व परिमाणके न होनेसे परमाणुनिष्ठ चक्षुःसंयोगमहत्त्वावच्छिन्नके साथ नहीं है; ऐसेही वायुआदिकोंमें सत्त्वादिचाक्षुषप्रत्यक्षकी आपत्तिभी नहीं बन सकती क्योंकि वायुआदिनिष्ठ चक्षुःसंयोग रूपावच्छिन्नके साथ नहीं है ।

एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम् । एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणम्, द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः, द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्व-

---

(पूर्ववदेवेति) अर्थात् परमाणुघटित त्वक्सन्निकर्षसे स्पर्शत्व स्पार्शनके वारणार्थ महत्त्वावच्छिन्नका तथा प्रभाघटित सन्निकर्षसे स्पर्शत्व स्पार्शन वारणार्थ उद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नत्वादिविशेषणोंकाभी पूर्ववत् निवेश अवश्य करना चाहिये.

वदेव बोध्यम्। एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः।गन्धसमवेतस्य घ्राणजप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

भाषा–ऐसेही जहां अन्धेरमें घटके बीच दीप जलाकर रक्खाजाय तो उसका चांदना घटके मध्यदेशमें होगा और नेत्रसंयोग अन्धकारमें घटके बाह्य देशमें हुआ है वह नेत्रसंयोग पूर्वोक्त रीतिसे उद्भूतरूप विशिष्ट महत्त्वावच्छिन्नभी है,परंतु ऐसे स्थलमें घटका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिये नेत्रसंयोगमें 'प्रकाशसंयोगावच्छिन्नत्व' भी विशेषण देना चाहिये अर्थात् जहां उद्भूतरूप महत्त्वपरिमाण प्रकाशसंयोगविशिष्ट चक्षुःसंयोग होगा वहां द्रव्य प्रत्यक्ष होगा, अन्यथा नहीं १। ऐसेही द्रव्यस्पार्शन प्रत्यक्षके प्रति त्वक्–संयोगको कारणता है, द्रव्यसमवेत 'उष्णादि' स्पार्शनप्रत्यक्षके प्रति 'त्वक्संयुक्त समवाय' संबन्धको कारणता है एवं द्रव्यसमवेतसमवेत'उष्णत्वादि' स्पार्शन प्रत्यक्षके प्रति त्वक्संयुक्तसमवतसमवायसंबन्धको कारणता है, यहांभी पूर्ववत् चाक्षुषप्रत्यक्षकी तरह महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नके साथ त्वक्संयुक्त समवेतादिसंबन्धको कारणता है २। ऐसेही गन्धप्रत्यक्षके प्रति घ्राणसंयुक्त समवायसम्बन्धको कारणता है; गन्धसमवेत 'गन्धत्वादि' प्रत्यक्षके प्रति घ्राणसंयुक्त समवेतसमवायको कारणता है ३।

एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः,रससमवेतस्य रासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्। शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्।शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्। अत्र सर्वत्र प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम्। वक्ष्यमाणमलौकिकं प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि संभवति। एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

भाषा–एवं रसप्रत्यक्षके प्रति रसनासंयुक्त समवायसंबन्धको कारणता है रस समवेत (रसत्वादि) रासन प्रत्यक्षके प्रति रसनासंयुक्तसमवेत समवायको कारणता है ४। एवं शब्दप्रत्यक्षके प्रति श्रोत्रावच्छिन्न समवायसंबन्धको कारणता है, शब्दसमवेत (शब्दत्वादि) श्रावणप्रत्यक्षके प्रति श्रोत्रावच्छिन्न समवेतसमवायको कारणता है ५। इस प्रकरणमें सब जगह प्रत्यक्षशब्दसे लौकिकप्रत्यक्षहीका ग्रहण

करना चाहिये (वक्ष्यमाण) आगे कथनीय अलौकिकप्रत्यक्ष तो चक्षुरादि इंद्रिय-सम्बन्धसे विनाभी होसकता है. एवं स्वात्म प्रत्यक्षके प्रति मनःसंयोगकी कारणता है; स्वात्मसमवेत 'सुखादि' मानस प्रत्यक्षके प्रति मनःसंयुक्त समवायसम्बन्धकी कारणता है. स्वात्मसमवेतसमवेत 'सुखत्वादि' मानसप्रत्यक्षके प्रति मनःसंयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्धकी कारणता है ६ ।

अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतुः । वैशेषिकमते तु न समवायः प्रत्यक्षः । अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा ।

भाषा—अभावका तथा समवायका 'इन्द्रियसंम्बद्धविशेषणता' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है नेत्रादिसम्बद्धभूतलादिकोंमें घटादिकोंका अभाव तथा समवेत रूपादिकोंका समवाय उभय विशेषणीभूत हैं; इसलिये इन्द्रियसम्बद्ध जो भूतलादि उसमें विशेषणीभूत अभावादिकोंका 'इंद्रियसम्बद्धविशेषणता' से ग्रहण होता है; परंतु समवायका प्रत्यक्ष वैशेषिकसिद्धान्तमें स्वीकृत नहीं है. इस प्रकरणमें वह अभावनिरूपित विशेषणता यद्यपि अनेक प्रकारकी है ।

तथाहि । भूतलादौ घटाद्यभावः संयुक्तविशेषणतया गृह्यते, संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया, संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया, शब्दाद्यभावः केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया, कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया, एवं कत्वावच्छिन्नाभावे खत्वाभावादिकं विशेषणविशेषणतया, एवं घटाभावादौ पटाद्यभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणाविशेषणतया ।

भाषा—जैसे भूतलादिमें घटाभावका प्रत्यक्ष संयुक्त विशेषणता सम्बन्धसे होता है, संख्यादिकोंमें रूपादिका अभाव 'संयुक्तसमवेत विशेषणता' सम्बन्धसे ग्रहण होता है. एवं संख्यात्वादि धर्मोंमें रूपादिका अभाव 'संयुक्तसमवेतसमवेत विशेषणता' संबंधसे ग्रहण होता है. शब्दका अभाव केवल 'श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता' से ग्रहण होता है. एवं ककरादि वर्णोंमें खत्वादि धर्मोंका अभाव 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणता' संबंधसे ग्रहण होता है. एवं कत्वावच्छिन्नाभावमें खत्वादिधर्मोंका अभाव 'विशेषण-

विशेषणता' सम्बन्धसे ग्रहण होता है; ऐसेही घटादिके अभावमें गो घटादिका अभाव उसका संयुक्त 'विशेषण विशेषणता' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है।

एवमन्यदप्यूह्यम्। तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते, अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहन्येतेति।

भाषा-इसी तरह अभावप्रत्यक्षमें स्थलानुसार और सम्बन्धोंकीभी कल्पना करलेनी, इसरीतिसे विशेषणता यद्यपि अनेक प्रकारकी है तथापि विशेषणतात्वरूपधर्मसे वह विशेषणता एक ही है. (अन्यथा) यदि विशेषणता अधिक मानलीजाय तो "सन्निकर्ष छः ही प्रकारकाहै" यह कथन प्राचीन आचार्योंका असंगत होगा-इति.

यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥

भाषा-यदि यहां वस्तु होय तो उसका उपलाभ होना चाहिये. इस रीतिसे जहां प्रसक्ति हो सकती है वहां अभावका प्रत्यक्ष विशेषणतासम्बन्धसे होता है ॥ ६२ ॥

यदि स्यादुपलभ्येतेति। अभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम्। तथाहि। भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते, तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम्। तत्र योग्यताऽप्यपेक्षिता।

भाषा-यहां अभावके साक्षात्कारमें योग्यानुपलब्धिको कारणता है; वही दिखलाते हैं कि-भूतलादि अधिकरणोंमें घटादिकोंके भ्रम होनेसे घटादिकोंके अभावका ज्ञान नहीं होता; इसलिये अभावमात्रकी उपलब्धिमें तत्तत्प्रतियोग्युपलम्भाभावको कारणता अवश्य माननी चाहिये; (तत्र) उस प्रतियोग्युपलम्भभावमें योग्यताभी अपेक्षित है।

सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जित उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य स उपलम्भाभावोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः।

भाषा-वह योग्यता प्रतियोगीके सत्त्वापादनसे आपादित प्रतियोगिकत्वरूपा है, अर्थात् घटादि प्रतियोगियोंकी प्रसक्तिद्वारा जिसके प्रतियोगिका उपलम्भरूपसे आपादन होसके वह उपलम्भाभाव अभावप्रत्यक्षमें हेतुहै.[तात्पर्य यह कि-प्रतियोगिके उपलम्भके आरोपका जहां सम्भव होसके वहां तत्प्रतियोगिके अभावका प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं.] ऐसा कहनेसे जलीय परमाणुओंमें पृथिवीत्वाभावके

प्रत्यक्षकी प्रसक्ति भी कारण हुई; क्योंकि वहां प्रतियोग्युपलम्भके आरोपका सम्भव नहीं है. आरोपका प्रकार यह है कि "जलीयपरमाणुषु यदि पृथिवीत्वं स्यात् तर्ह्युपलभ्येत" इसरीतिसे पृथिवीत्वके आरोपसे पृथिवीत्वके उपलम्भका आरोप जलपरमाणुओंमें होसकता नहीं क्योंकि आश्रयप्रत्यक्ष प्रयुक्तजातिका प्रत्यक्ष होता है; यह नियम है, इसलिये जैसे जलीय परमाणुमें जलत्वजाति प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे ही आरोपित पृथिवीत्वके उपलम्भके आरोपकाभी सम्भव नहीं है. इसलिये जलीय परमाणुओंमें पृथिवीत्वाभाव नहीं है. इससे यही सिद्ध हुआ कि-जिस अधिकरणमें जिस अभावके प्रतियोगिके आरोपसे उपलम्भका आरोप होसके उस अधिकरणमें वह अभाव प्रत्यक्ष होता है.

तथाहि । यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते तत्र यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येतेत्यापादयितुं शक्यते तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति, अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यत इति न घटाभावादेरन्धकारे चाक्षुषं प्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात् ।

भाषा-(तथाहि) वही दिखलाते हैं कि-जहां आरोपित विषय स्थलमें प्रकाशसंयोगादि सामग्री विद्यमान होय वहां "यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकते हैं; ऐसे स्थलमें घटाभावादिकोंका प्रत्यक्षभी होसकता है. अन्धकारस्थलमें ऐसा आपादन कर नहीं सकते इसलिये अन्धकारमें घटाभावादिका चाक्षुषसाक्षात्कार नहीं हो सकता; परन्तु घटादिका (स्पार्शन) त्वाचसाक्षात्कार अन्धकारमें भी हो सकता है; क्योंकि प्रकाशसंयोगसे विना भी "यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि स्पर्शेन उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकते हैं.

गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षः, तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात् ।

भाषा-गुरुत्व धर्म अधर्म आदि जो सर्वथा प्रत्यक्षके अयोग्यपदार्थ हैं, उनका अभावभी प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि "घटे यदि गुरुत्वं स्यात्तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन यहां होय नहीं सकता, कारण यह कि-गुरुत्वधर्म सर्वथाही प्रत्यक्षके योग्य नहीं किन्तु (तोलनी) तकड़ीके ऊपर नीचे होनेसे अनुमेय है. ऐसेही "मयि धर्मो यदि स्यात् अधर्मो वा स्यात् तर्हि उपलभ्येत" ऐसा धर्माधर्मका आपादनभी नहीं होसकता क्योंकि धर्माधर्म सर्वथा प्रत्यक्षके योग्य नहीं किन्तु

सुखदुःखादिके भोगसे अनुमेय हैं; परन्तु जिस अधिकरणमें जिस अभावके प्रतियोगिका आपादन होसकता है उस अधिकारमें उस अभावका प्रत्यक्ष अवश्य होता है।

वायौ रूपाभावः, पाषाणे सौरभाभावः, गुडे तिक्ताभावः, वह्नावनुष्णत्वाभावः, श्रोत्रे शब्दाभावः, आत्मनि सुखाभावः एवमादयस्तत्तदिन्द्रियैर्गृह्यन्ते तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्।

भाषा–जैसे (१) "वायौ यदि रूपं स्यात्तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकते हैं, क्योंकि जहां जहां महत्त्वपरिमाण विशिष्ट उद्भूतरूप है वहां२ अवश्य प्रत्यक्ष होताही है, यह वार्ता घटादिकोंमें प्रसिद्ध है और वायुमें स्पार्शन प्रत्यक्ष होनेसे महत्त्वपरिमाण तो विद्यमानही है परन्तु रूप नहीं है, इसलिये रूपाभावका चाक्षुष प्रत्यक्ष होसकताहै. (२) एवं "पाषाणे यदि सौरभं स्यात् तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन करसकते हैं, क्योंकि पुष्पादिकोंमें जहां जहां गन्ध है उसका घ्राण इन्द्रियद्वारा सर्वत्र ग्रहण होता है, पाषाणमेंभी यदि गन्ध होता तो उसका घ्राणइन्द्रियद्वारा ग्रहण अवश्य होता; इसलिये पाषाणमें गन्धाभावका घ्राणज प्रत्यक्ष होवे है, (३) एवं गुडे तिक्ताभावका रासन प्रत्यक्ष होता है क्योंकि " गुडे यदि तिक्तरसः स्यात् तर्हि रसनेन्द्रियेणोपलभ्येत नास्त्यतो नैवोपलभ्यते " इस रीतिसे गुडमें तिक्तरसके आरोपसे रसनाजन्य तिक्तरसोपलम्भका आरोप होसकता है, अन्य इन्द्रियजन्य उपलम्भका आरोप होसकता नहीं इसलिये रसाभावका प्रत्यक्ष रसनाइन्द्रियजन्यही होवे है अन्यथा नहीं, (४) एवं अग्निमें अनुष्णस्पर्शाभावका त्वाच प्रत्यक्ष होता है; क्योंकिं ' अग्नौ यदि अनुष्णः स्पर्शः स्यात् तर्हि त्वगिन्द्रियेणोपलभ्येत " इस रीतिसे अग्निमें अनुष्ण स्पर्शके आरोपसे त्वक्जन्य उपलम्भका आरोप होता है; इसलिये स्पर्शाभावका प्रत्यक्ष केवल त्वगिन्द्रियजन्य है अन्यथा नहीं (५) एवं श्रोत्रमें शब्दाभावका श्रोत्रज प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि "श्रोत्रे यदि शब्दः स्यात् तर्हि उपलभ्येत" इसरीतिसे श्रोत्रमें शब्दके आरोपसे श्रोत्रजन्य उपलम्भका आरोप होसकता है; इसलिये शब्दाभावका प्रत्यक्ष केवल श्रोत्रइन्द्रियजन्य है, अन्यथा नहीं (६) एवं आत्मामें सुखादि अभावका प्रत्यक्ष मानसही होताहै क्योंकि "स्वात्मनि यदि सुखं स्यात् तर्हि मनसोपलभ्येत" इसरितिसे आत्मामें सुखके आरोपसे उसके मानस उपलम्भका आरोप होसकताहै इसलिये सुखादिके अभावका केवल मानस प्रत्यक्ष होताहै अन्यथा नहीं.

ऐसे २ औरभी अनेकों अभाव पूर्वोक्तरीतिसे तिस तिस इन्द्रियसे ग्रहण होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे तिस तिस अभावके प्रत्यक्षका अपादन करसकते हैं ।

संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता, अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता, अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव ॥ ६२ ॥

भाषा-पूर्वोक्तरीतिसे अभाव चार प्रकारका है. उनमें तीन तो ' संसर्गाभाव ' इस एकही नामसे ग्रहण होतेहैं और चौथे भेदका 'अन्योन्याभाव' शब्दसेभी ग्रहण होताहै उनमें संसर्गाभाववाची प्रथम तीन अभावके प्रत्यक्षमें तो बहुलतासे प्रतियोगीकी योग्यता अपेक्षित है अर्थात् यत्प्रतियोगिक संसर्गाभावका साक्षात्कार अपेक्षित होय वह प्रतियोगी किसीन किसी इन्द्रियसे अवश्य प्रत्यक्षके योग्य होना चाहिये और एवं अन्योन्याभाव प्रत्यक्षमें अधिकरणकी योग्यता अपेक्षित है. इसीसे स्तम्भादिकोंमें पिशाचादिका भेदभी "स्तम्भः पिशाचो न" इत्यादि प्रतीतियोंद्वारा नेत्रोंसे ग्रहण होताहै-इति ॥ ६२ ॥

एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधं, तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः । अलौकिकसन्निकर्षानिदानीं वदति, अलौकिक इति-

भाषा-पूर्वोक्त प्रत्यक्षज्ञान, तथा अलौकिक भेदसे दोप्रकारका है, उनमें लौकिक प्रत्यक्षमें तो छः प्रकारके सन्निकर्ष पूर्व कह चुके हैं, अब आगे ' अलौकिकस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे अलौकिक सन्निकर्षोंको कहते हैं-

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।

व्यापारः संनिकर्षः ।

भाषा-अलौकिक प्रत्यक्षमें (व्यापार) सन्निकर्ष तीन प्रकारका कहा है.

सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६३ ॥

भाषा-उनमें प्रथम सामान्यलक्षणारूप है; दूसरा ज्ञानलक्षणारूप है और तीसरा योगजधर्मरूप है ॥ ७३ ॥

सामान्यलक्षणेति । सामान्यं लक्षणं यस्या इत्यर्थः । तत्र लक्षणं-

पदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् ।

भाषा–यहां 'सामन्य' नाम घटत्वादि जातिका है और ' लक्षण' शब्दसे यदि स्वरूपका ग्रहण कियाजाय तो "सामान्यं लक्षणं यस्य" इत्याकारक बहुव्रीहि समाससे सामान्यस्वरूपप्रत्यासत्तिरूप अर्थका लाभ होताहै.' प्रत्यासत्ति' नाम सम्बन्धका है. (तच्च) वह सामान्यस्वरूप सम्बन्ध इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यक जो " अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान उसमें प्रकारीभूत जानना चाहिये अर्थात् पुरोवर्ति घटमें नेत्र संयोगके पश्चात् ' अयं घटः' इत्याकारक साक्षात्कार होताहै. इस साक्षात्कारका कारणीभूत सम्बन्ध संयोगरूप लौकिक है. यह ज्ञान घट–घटत्व दोनोंको विषय करे है उनमें घटको विशेष्यविधया तथा घटत्वको प्रकारविधया विषय करे है; इसलिये 'इन्द्रियसम्बद्धं विशेष्यं यस्य तदिन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं ज्ञानम्' इसमें जो प्रकारविधया भान हो वही सामान्यसम्बन्धका स्वरूप है. ऐसे घटत्वादि हैं.

तथाहि । यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारो धूमत्वेन च सन्निकर्षेण धूमः इत्येवंरूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसम्बद्धमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सहेन्द्रियसम्बन्धाभावात् ।

भाषा–(तथाहि) वही दिखलाते हैं कि–जहां धूमादि विशेष्य पदार्थोंके साथ नेत्रादि इन्द्रियोंका सम्बन्ध हुआ है वहां धूमादि विशेष्यक ' धूमः ' इत्याकारक ज्ञान होता है. उस ज्ञानमें धूमत्वका प्रकारविधया भान है; वह (धूमत्व) ही अलौकिक सन्निकर्ष है, उस धूमत्वरूप सन्निकर्षसे ' धूमः' इत्याकारक सकलधूमविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि इस ज्ञानमें प्रकार जो धूमत्व वह सभी धूमोंमें एकही है. इसलिये पुरोवर्ति धूमज्ञानकालमें नेत्रइन्द्रियका ' स्वजन्यज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता' सम्बन्ध सकल धूमनमें होता है. इस सम्बन्धसे नेत्रइन्द्रियजन्य यावत् धूमका प्रत्यक्ष द्वितीयक्षणमें होता है. इस प्रत्यक्षका विषय पुरोवर्ति धूमभी होसकता है, क्योंकि ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता जैसे और धूमोंमें है वैसे पुरोवर्ति धूममेंभी है, इसलिये पुरोवर्ति धूमादि पदार्थोंमें प्रथमक्षणमें लौकिक और द्वितीयक्षणमें अलौकिक यह दो ज्ञान मानने उचित हैं, शंका–यहां इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यकज्ञानमें प्रकारीभूत धर्मको सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति न मानकर लाघवसे केवल

प्रकारत्वेन इन्द्रिय सम्बद्धहीको प्रत्यासत्ति माने तो क्या दोष है ? धूमचक्षुःसंयोगकालमें धूमत्वभी प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध है याते कुछ दोष नहीं. समाधान— ऐसा कहनेसे जहां (धूलीपटल) वायुवरोलेका धूमत्वेन ज्ञान हुआ है वहां निर्वाह नहीं हो सकेगा क्योंकि ऐसे स्थलमें प्रकारता सम्बन्धसे इन्द्रियसम्बद्ध धूलीपटलत्व है, धूमत्व नहीं, परन्तु ज्ञान तो यहांभी सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे सकल धूमविषयक होता है सो धूमत्वको इन्द्रियसम्बद्ध नहीं होनेसे नहीं हुआ चाहिये ।

मन्मते त्विन्द्रियसम्बद्धं धूलीपटलं तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः । इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः । इदं च बहिरिन्द्रियस्थले, मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः । अतः शब्दादिना यत्किञ्चित्पिशाचाद्युपस्थितौ मानसः सकलपिशाचादिबोध उपपद्यते ।

भाषा—और मेरे मतमें तो निर्वाह होसकता है, क्योंकि हमने तो लम्बायमान इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञानमें 'प्रकारीभूतधर्म' को प्रत्यासत्ति माना है, यहां इन्द्रिय सम्बद्ध धूलीपटल है उसी धूलीपटलमें धूलीपटल विशेष्यक धूमत्व प्रकारक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान हुआ है, उसमें प्रकाररूपसे भासमान धूमत्वही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति है, पुरोवर्ति पदार्थमें इन्द्रियका सम्बन्ध लौकिक ग्रहण करना उचित है, परन्तु यह पूर्व कथन बाह्य इन्द्रियस्थलमें है, मानस प्रत्यक्षस्थलमें तो ज्ञानप्रकारीभूत सामान्य मात्र प्रत्यासत्ति कहनेसे निर्वाह होसकताहै. इसी प्रत्यासत्तिसे सवर्था प्रत्यक्षायोग्य पिशाचादिका शाब्दज्ञान हुए पीछे "सर्वे पिशाचाः पिशाचत्ववन्तः" इत्याकारक सकल पिशाचादिविषयक मानस बोध उत्पन्न होता है क्योंकि पूर्वोक्त रीतिस ज्ञान शब्दसे पिशाचादि विषयक शब्दज्ञानभी लेसकते हैं, उसमें प्रकारभूत जो पिशाचत्वरूप सामान्य वही'मनोजन्य ज्ञान प्रकारीभूत पिशाचत्ववत्ता' सम्बन्धसे सकल पिशाच विषयक अलौकिक ज्ञानका जनक है ।

परंतु समानानां भावः सामान्यं तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्यं घटादि, यत्रैको घटः संयोगेन भूतले समवायेन कपाले वा ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम् । परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते तेन सम्बन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः ।

भाषा-(परन्तु) यहां (समानानां) तुल्यपदार्थोंका (भावः) प्रकारीभूतधर्म 'सामान्य'शब्दका अर्थ है. वह किसी जगहमें नित्य है, जैसे धूमत्व घटत्व पटत्वादि; और किसी जगहमें अनित्यभी है, जैसे घटपटादि. जिस स्थलमें एकही घटका संयोगसम्बन्धसे भूतलमें और समवायसम्बन्धसे कपालोंमें भान हुआ है वहां (तदनन्तरं) उस लौकिकज्ञानके पश्चात् द्वितीयक्षणमें 'सर्वाणि भूतलादीनि संयोगेन घटवंति, एवं सर्वे कपालाः समवायेन घटवन्तः' इत्याकारक यावत् उस घटवाले संयोगसम्बन्धसे भूतलादिकोंका तथा समवायसम्बन्धसे कपालोंका ज्ञान होताहै. (तत्रेदं बोध्यम्)वहां ऐसे स्थलमें ज्ञायमान अनित्य सामान्यही प्रत्यासत्ति जाननी उचित है; (परन्तु) उसमेंभी इतना और अधिक जानना चाहिये कि वह सामान्य जिस सम्बन्धसे अपने अधिकरणमें ज्ञात हुआ है उसीही सम्बन्धसे उस सदृश अधिकरणोंकी अलौकिक प्रत्यासत्ति होती है. अन्यथा यदि ऐसा नहीं माने तो समवायसम्बन्धसे ज्ञानप्रकारिभूत घटत्वादि सामान्य प्रत्यासत्तिसे कालाकाशादि पदार्थोंके ज्ञानकी आपत्तिभी अलौकिक प्रत्यासत्तिसे होसकती है.

किंतु यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवतां भानं न स्यात्, सामान्यस्य तदानीमभावात् । किंचेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं 'घटः' इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र परदिन इन्द्रियसम्बन्धं विनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते ।

भाषा-किन्तु एवंच जिस स्थलमें (तद्घट) विशेषणरूपेण दृष्ट घटके नाशके अनन्तर उसी घटवाले स्थलका "तद्भूतलं घटवदासीत्" इत्याकारक स्मरण हुआ है वहां सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे उसी सम्बन्धसे उस घटवाले यावत् अधिकरणोंका बोध नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि सामान्यरूपसे भासमान घटका उस कालमें अभाव है. और वही अधिकरणोंकि साथ ज्ञानका सम्बन्ध है; उसके न होनेसे उसके अधिकरणोंका ज्ञानभी स्वयंही नहीं होगा; (किञ्च) औरभी दोष है. जहां इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यक 'घटः' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न हुआ है वहां अग्रिम दिनमें इन्द्रियसंबन्धसे विनाभी तादृश 'घट' इत्याकारक ज्ञान प्रकारीभूत घटत्वरूप सामान्य विद्यमान है तादृश सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा "सर्वे घटा घटत्ववंतः" इत्याकारक ज्ञान अग्रिम दिनमें नहीं होता ? (अर्थात् ज्ञानकीं सामग्रीं विद्यमान है तो ज्ञान अवश्य होना चाहिये)

तस्मात् सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह, आसत्तिरित्यादि-

भाषा-इसलिये सामान्यप्रत्यासत्ति नहीं बन सकती; किन्तु सामान्यका ज्ञानही प्रत्यासत्ति माननी उचित है. इसी वार्ताको मूलकार 'आसत्तिराश्रयाणां' इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं-

आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।

आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः ।

भाषा-घटादि अधिकरणोंकी (आसत्ति) प्रत्यासत्ति तो सामान्यविषयक ज्ञानको मानना उचित है.

तथा च सामान्यलक्षणेत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः । तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते ॥

भाषा-(तथाच) जब ऐसा माना तो पूर्वकारिकाकथित "सामान्यलक्षणा" इस संज्ञानिष्ठ 'लक्षण' शब्दका अर्थ 'विषय' है. पूर्वोक्त रीतिसे स्वरूप नहीं "सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य" ऐसा समास करनेसे सामान्यविषयक ज्ञानही प्रत्यासत्ति है. यही अर्थ लाभ होता है ॥

ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनाऽपि सामान्यज्ञानं यत्र वर्त्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह, तदिन्द्रियजेति-

शंका-जिस स्थलमें नेत्रसंयोगादिकसे विनाभी घटत्वादि सामान्यविषयक ज्ञान विद्यमान है वहां सकल घटादिविषयोंका चाक्षुषप्रत्यक्ष होना चाहिये; क्योंकि प्रत्यक्ष कारणीभूत 'सामान्यज्ञानप्रत्यासत्तिरूपा' सामग्री वहां विद्यमान है. समाधान-ऐसे स्थलमें जिस सामग्रीकी न्यूनता है उसीको 'तादिन्द्रियज' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कहते हैं-

तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

भाषा-(तत्) नेत्रादि इन्द्रियजन्य जो (तत्) घटत्वादि धार्मिकबोध उस बोधकी सामग्रीभी अपेक्षित है ॥ ६४ ॥

अस्यार्थः-यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किञ्चिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानसाम-

द्यपेक्षिता, सा च सामग्री चक्षुःसंयोगालोकसंयोगादिकम् । तेनान्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशं ज्ञानं न जायते ॥ ६४ ॥

भाषा—अर्थात् जिस कालमें नेत्रादि बाह्य इंद्रियोंसे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, उस कालमें (यत्किञ्चित्) घटादि धर्म्मीमें, 'घटत्वादि' सामान्यविषयक नेत्रादि इंद्रियजन्य ज्ञानकी सामग्रीभी अपेक्षित है; वह सामग्री नेत्रसंयोग, आलोकसंयोग, उद्भूतरूप, महत्त्वपरिमाणादि यथायोग्य तिस २ इंद्रियप्रत्यक्ष स्थलमें जाननी योग्य है. एसा माननेसे अन्धकारादिकोंमें नेत्रादिद्वारा घटत्वादिधर्मविशिष्ट धर्मीका ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये वहां सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिभी नहीं बन सकती ॥ ६४ ॥

ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह, विषयीति—

शंका—ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति यदि ज्ञानस्वरूपा है और सामान्यलक्षणाभी पूर्वोक्तरीतिसे ज्ञानस्वरूपाही है तो फिर उन दोनोंका परस्पर भेद नहीं होना चाहिये, समाधान—उनके भेदहीको 'विषयी यस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं कहते हैं—

विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ।

व्याख्या—यस्य सौरभादेः विषयी—ज्ञानं तस्यैव सौरभादेः व्यापारः सन्निकर्षः, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

भाषा—अर्थात् अलौकिक सन्निकर्षसे यद्विषयक ज्ञान हुआ है उसीके सम्बन्धविशेषका नाम ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति है ।

['सुरभि चन्दनं' इत्याकारक चाक्षुष ज्ञान सौरभ चन्दन चन्दनत्व इन तीनोंको विषय करता है, उनमें चन्दन चन्दनत्वका तो यथाक्रम नेत्रसंयोग तथा नेत्रसंयुक्तसमवाय सम्बन्धसे लौकिकप्रत्यक्ष हो सकता है; परंतु सौरभांशमें साक्षात्कारजनक लौकिकसम्बन्ध दुर्घट है; क्योंकि सौरभांश चाक्षुषज्ञानका अविषय है और सौरभांशको विषय करनेवाले घ्राणइन्द्रियका उस कालमें सम्बंधही नहीं किन्तु पूर्वगृहीत सौरभका स्मरण किंवा पूर्वगृहीत सौरभके आत्मामें संस्कारमात्रका संभव होसकता है इसलिये 'सुरभिचन्दनं' इत्याकारक ज्ञानस्थलमें सौरभानुयोगिक नेत्रप्रातियोगिक कोई एक सम्बन्ध अवश्य कहना चाहिये. वह सम्बन्ध सक्षात् तो बनही नहीं सकता, किन्तु ' नेत्रसंयुक्त मनःसंयुक्त, आत्मसमवेत ज्ञानरूप, किंवा ' नेत्रसंयुक्त

मनःसंयुक्तात्मसमवेत संस्काररूप' परम्परा सम्बन्ध बन सकता है. इसी परंपरा-सम्बन्धहीका नाम 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' है. जिस कालमें नेत्रोंका चन्दनसे संयोग होता है उसीकालमें "एकसम्बन्धिज्ञानमपरसंबंधिस्मारकम्" इस न्यायसे सौरभका स्मरण किंवा पूर्वानुभवजन्य संस्कार उद्बुद्ध होय कर " सुरभि चन्दनं" इत्याकारक चाक्षुषज्ञान होता है; यह ज्ञान चन्दनांशमें लौकिक है और सौरभांशमें पूर्वोक्तसंबंधसे अलौकिक है.]

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति । अत्रायमर्थः । प्रत्यक्षे सन्निकर्षं विना भानं न सम्भवति, तथाच सामान्यलक्षणां विना धूमत्वेन सकलधूमानां वह्नित्वेन सकलवह्नीनां च भानं कथं भवेत्, तदर्थं सामान्यलक्षणा स्वीक्रियते ।

भाषा-सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिका और ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिका परस्पर इतना भेद है कि घटत्वादिधर्मविशिष्ट एक धर्मीका लौकिक साक्षात्कार हुए उसी धर्मके आश्रय देशांतरीय यावत् धर्म्मीका ज्ञान सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा होता है, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति तो जिस सौरभादिका अलौकिक भान हुआ है उसीके साथ संबंधविशेषका नाम है. यहां यह अभिप्राय है कि-प्रत्यक्षयोग्य पदार्थोंकी नेत्रादि इंद्रियोंके सन्निकर्षसे विना प्रतीति नहीं होसकती तो फिर सामान्यलक्षणाके न स्वीकार करनेसे धूमत्वेन सकल धूमोंका और वह्नित्वेन सकल वह्नियोंका ज्ञान कैसे होगा ? इसलिये यावत् वह्नि धूमज्ञानार्थ सामान्यलक्षणाका स्वीकरण है ।

न च सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यम् । प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद्धूमो वह्निव्याप्यो न वेति संशयानुपपत्तेः। मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसन्देहः संभवति ।

शंका-सकलवह्नि धूमविषयक ज्ञान न होनेसे हानि क्या है ? समाधान-महानसीय प्रत्यक्षधूममें तो वह्निके साथ 'सहवृत्तित्व, रूप संबंध नेत्रइंद्रियसे ग्रहण हुआ है और देशान्तर कालान्तरमें होनेवाले धूमकी किसीतरहसे उपस्थिति नहीं है

याते वह्निधूमादिकोंकी व्याप्तिज्ञानसे पूर्व " धूम वह्निनिरूपित व्याप्तिका आश्रय है या नहीं; " इत्याकारक संशय नहीं बन सकेगा और मेरे मतमें तो सामान्यलक्षणासे यावत् धूमोंकी उपस्थिति हुई है, कालान्तर देशान्तरमें होनेवाले धूममें वह्नि निरूपित व्याप्तिआश्रयत्वका संदेह बन सकता है.

नच सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकले प्रमेये ज्ञाते सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यम्। प्रमेयत्वेन सकले प्रमेये ज्ञातेऽपि विशिष्य सकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात् । एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात् ।

शंका–सामान्यलक्षणा अंगीकार करनेसे प्रमेयत्वेन सकल प्रमेयका ज्ञान हुए पुरुषको (सर्वज्ञ) यावत् पदार्थ विषयक ज्ञानवान् होना चाहिये. समाधान-प्रमेयत्वेन सकलपदार्थविषयक ज्ञान हुए भी विशेषरूपसे कालान्तर देशान्तरमें होनेवाले पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे यह जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता. एवं यदि ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिको अंगीकार न किया जाय तो "सुरभि चन्दनम्" इत्याकारक ज्ञानमें सौरभांशकी प्रतीति कैसे हो ? क्योंकि चन्दनखण्डके चाक्षुष हुए भी उपस्थित सौरभांशके साथ नेत्रसन्निकर्ष नहीं है.

यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं सम्भवति। तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया। एवं यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं ज्ञातं तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया।

भाषा–यहां 'सुरभि चन्दनम्' इत्यादि स्थलमें यद्यपि सौरभादिका भान सौरभत्वादि सामान्यलक्षणाप्रत्यसत्तिसे भी हो सकता है क्योंकि सौरभत्व प्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष या सौरभत्वावच्छिन्नकप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष इन दोनोंमें किसी एक सामग्रीकी सहकारतासे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिको फलजनकता अंगीकार करी है, प्रकृतमें यद्यपि प्रथम सामग्रीका तो अभाव है तथापि 'सुरभि चन्दनं' इत्याकारक ज्ञानमें सौरभत्वावच्छिन्न प्रकारक लौकिक प्रत्यक्षरूपा द्वितीय सामग्री विद्यमान है; याते सामान्यलक्षणासे भी सौरभका भान बनसकाता है तथापि स्वरूपसे सौरभत्वधर्मका भान फिर भी ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिहीसे होता है, क्योंकि उस सौरभत्वांशमें किसी धर्म्मान्तरका ग्रहण है नहीं. इसलिये सामान्यलक्षणासे सौरत्वांशका ग्रहण मानकर निर्वाह नहीं हो सकता एवं धूमत्वधर्मपुरस्कारेण धूलीपट-

लमें " अयं धूमः " इत्याकारक ज्ञान हुए पश्चात् "धूममहं जानामि" इत्याकारक अनुव्यवसायमें धूलीपटलका भान ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिसे होता है. यहां भाव यह है कि-ज्ञानविषयक ज्ञानका नाम 'अनुव्यवसाय' है. वह सर्वत्र मानसिक होता है. तथा स्वविषयभूत ज्ञानादिको उनके विषय सहित विषय करे है, उसमें ज्ञानादिको तो 'स्वयंयुक्तात्मसमवेतत्व' रूप अभ्यन्तरीय सम्बन्धसेही विषय करे है; परन्तु ज्ञानादिके बाह्य घटादिविषयोंके साथ उसका कोई लौकिकसम्बन्ध नहीं है किन्तु 'स्वसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्व' रूप ज्ञानलक्षणानामक अलौकिकसम्बन्धही बनसकता है, उसमें भी घटादि सद्विषय स्थलमें तो 'आसत्तिराश्रयाणाम्' इत्यादि पूर्वोक्त रीतिसे घटादि अंशमें सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिरूपभी हो सकता है किन्तु केवल घटत्वांशमें अवश्य ज्ञानलक्षणाही मानना पड़ता है; परन्तु धूमत्वेन धूलीपटलादि भ्रमस्थलमें तो उभयांशमें ज्ञानलक्षणाही सम्बन्ध है, क्योंकि वहां धूमत्व धर्म धूलीपटलमें वस्तुतः नहीं है इसलिये तदाश्रयत्वेन धूलीपटलका ज्ञानभी सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिसे नहीं हो सकता किन्तु पूर्वोक्तसम्बन्धसे ज्ञानलक्षणाहीसे हो सकता है, यहां पूर्वोक्त उभय सम्बधमें ' स्व ' शब्दसे मनका ग्रहण है.

योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥ ६५ ॥

भाषा-युक्त युञ्जान योगियोंके भेदसे योगजधर्म दो प्रकारका है ॥ ६५ ॥

योगज इति । योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिपुराणादिप्रमाणक इत्यर्थः । युक्तेति । युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भावः ॥ ६५ ॥

भाषा-युक्त युञ्जान रूप योगीके भेदसे योगाभ्यासजनित श्रुतिपुराणादि प्रतिपाद्य योगजधर्मविशेष दो प्रकारका है ॥ ६५ ॥

युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।

भाषा-उनमें युक्त योगीको सर्वकालमें यावत् वस्तुका भान रहता है और युंजान योगीको चिंतन करनेसे तत् २ पदार्थका साक्षात्कार होता है,

युक्तस्येति । योगाभ्यासवशीकृतमानसः समाधिसमासादितविविधसिद्धिर्युक्त इत्युच्यते । अयमेव विशिष्टयोगवत्त्वाद् वियुक्त इत्यप्युच्यते । सर्वदेति । चिन्तासहकारं विनाऽपीत्यर्थः । भानं सर्वविषयाणां प्रत्यक्षम् । अपरो युञ्जानो विषयव्यावृत्तमानसः ।

चिन्ता ध्यानं, मनसस्तदेकाग्रीकरणं, तत्सहकारात् स्थूलसूक्ष्माव्यवहितविप्रकृष्टानर्थान् प्रत्यक्षीकरोतीत्यर्थः ।

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्त-
मुक्तावल्यां प्रत्यक्षखण्डम् ॥ १ ॥

भाषा–चित्तवृत्तिनिरोधरूपसे योगाभ्याससे मनको वशीभूत करनेवाला तथा सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा अणिमादि अनेक प्रकारकी सिद्धियोंके सम्पादन करनेवाला पुरुष युक्तयोगी कहाजाता है, विशेष योगयुक्त होनेसे इसीको शास्त्रमें वियुक्तभी कहते हैं, इस युक्त योगीको सर्वविषयविषयक साक्षात्कार चिंताकी सहकारतासे विनाभी होता है और विषयासंलग्नमानस जो द्वितीय युंजानयोगी है उसको तद् विषयाकार चित्तके एकाग्र करनेसे आकाश परमाणवादि देशान्तरीय कालान्तरीय यावत् पदार्थोंका साक्षात्कार होता है–इति शम् ।

इति श्रीगोविंदसिंहसाधुकृते आर्य्यभाषाविभूषितन्यायसिद्धान्त
मुक्तावलीप्रकाशे प्रत्यक्षः परिच्छेदः ॥ १ ॥

॥ श्रीः ॥
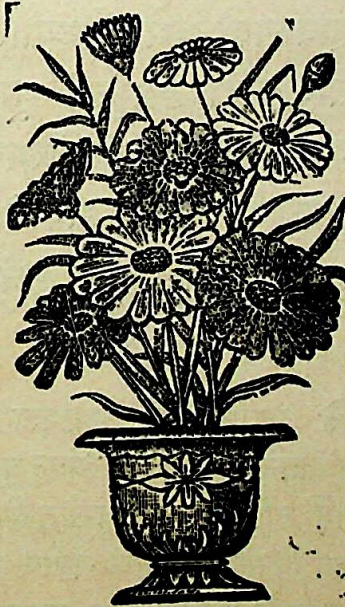
अथानुमानपरिच्छेदः २.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

यन्नामसिंहैकसुकीर्तनेन भूयोऽन्तरायाश्च श्रृगालयन्ति ॥
पद्मेक्षणः पावनपादपद्मः पायात्सदा श्रीगुरुनानको नः ॥ १ ॥

अनुमितिं व्युत्पादयति, व्यापारस्त्विति–

भाषा–अनुमान प्रमाण बहुवादिसम्मत है इसलिये हेतुहेतुमद्भावसङ्गतिसे प्रत्यक्षनिरूपणानन्तर 'व्यापारस्तु परामर्शः'इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार अनुमान प्रमाणका निरूपण करते हैं–

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥६६॥ अनुमायां–

भाषा–अनुमित्यात्मक ज्ञानमें व्याप्तिज्ञानको कारणता है और परामर्शात्मक ज्ञान मध्यमें व्यापार है ॥ ६६ ॥

अनुमायामनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं, परामर्शो व्यापारः । तथाहि । येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्नेर्व्याप्तिर्गृहीता पश्चात्स एव पुरुषः क्वचित् पर्वतादावविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यति, तदनन्तरं धूमो वह्निव्याप्य इत्येवंरूपं व्याप्तिस्मरणं तस्य भवति, पश्चाच्च वह्निव्याप्यधूमवानयमिति ज्ञानं भवति स एव परामर्श इत्युच्यते । तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानं जायते, तदेवानुमितिः ॥ ६६ ॥

भाषा–अनुमितिज्ञानके प्रति व्याप्तिज्ञानको करणता और परामर्श व्यापार इस रीतिसे है कि–जिस पुरुषने महानसादिस्थलोंमें "यत्र२धूमस्तत्र २ वह्निः" इत्याकारक 'साहचर्यनियमरूपा व्याप्ति' वह्नि निरूपित धूमहेतुविषयक अनेक वार ग्रहण करी है, फिर पीछे दैवात् वही पुरुष किसी पर्वतादिके समीप जाकर ऊपर नीचेतक एकरस सरल लम्बायमान धूमशिखाको देखकर पीछे महानसादिमें गृहीत व्याप्तिको स्मरण करता है कि "धूम वह्निनिरूपित व्याप्तिका आश्रय है" इत्याकारक व्याप्तिस्मरणके पीछे उसी पुरुषको "वह्निनिरूपित व्याप्तिका आश्रय जो धूम उसवाला गृह

है "इत्याकारक ज्ञान होता है. इसी ज्ञानको शास्त्रमें परामर्शात्मक ज्ञान कहते हैं. इस यत्नके पीछे "पर्वतो वह्निमान्" ऐसा ज्ञान होता है यही ज्ञान अनुमितिरूप है.

अत्र प्राचीना व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं धूमादिकं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति, तद्दूषयति, ज्ञायमानमिति–

भाषा–यहां प्राचीन नैयायिक लोग व्याप्ति आश्रयत्वेन ज्ञातहुए धूमादि हेतुओंको अनुमितिकी करणता कहते हैं और लिंगपरामर्शको मध्यमें व्यापर मानते हैं; उसको 'ज्ञायमान' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दूषित करते हैं–

–ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि ।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ॥ ६७ ॥

भाषा–ज्ञातहुआ हेतु अनुमितिका करण नहीं होसकता यदि ऐसा होय तो अतीतानागत हेतुओंसे अनुमितिज्ञान नहीं हुआ चाहिये ॥ ६७ ॥

लिङ्गस्यानुमित्यकरणत्वे युक्तिमाह । अनागतादीति । यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात् तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेनानुमितिर्न स्यात्, अनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात् इति ॥ ६७ ॥

भाषा–लिङ्गको करण न होनेमें युक्ति यह है कि–यदि अनुमितिके प्रति लिंगको करणता होय तो "इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति भाविधूमात्" एवं "इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीत् भूतधूमात्" इत्यादि अनागत तथा विनष्ट हेतुओंसे अनुमिति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अनुमितिकरणीभूत हेतु उस कालमें विद्यमान नहीं है, शंका–परामर्शरूप व्यापार सम्बन्धसे स्वातीतानागत कालमेंभी हेतु विद्यमान है याते कुछ दोष नहीं. समाधान–अतीतानागत लिङ्गको परामर्शकी जनकताही सिद्ध नहीं, इसलिये परामर्श अतीतानागत लिङ्गका व्यापार नहीं बन सकता–इति ॥ ६७ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते ।

भाषा–साध्यनिरूपित व्याप्तिआश्रयहेतुको पक्षवृत्तित्वावगाहनी बुद्धिका नाम 'परामर्श' है ।

व्याप्यस्येति । व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानमनुमितिजनकम्, तच्च व्याप्यः पक्षे इति ज्ञानं पक्षो व्या-

प्यवानिति ज्ञानं वा । अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात् पक्षे साध्यमित्याकारिका, पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात् पक्षः साध्यवानित्याकारिका । द्विविधादपि परामर्शात् पक्षः साध्यवानित्येवानुमितिरित्यन्ये ।

भाषा--साध्यनिरूपित व्याप्तिविशिष्ट हेतुका पक्षके साथ वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान अनुमितिका जनक है; उसीका नाम 'परामर्श' है. उसी परामर्शज्ञानके विशेषणविशेष्यभावके विपर्याससे दो स्वरूप हैं; उनमें एक तो पक्षप्रकारक व्याप्तिविशिष्टविशेष्यक 'व्याप्यः पक्षे' इत्याकारक ज्ञान है और दूसरा व्याप्तिविशिष्टप्रकारक पक्षविशेष्यक "पक्षो व्याप्यवान्" इत्याकारक ज्ञान है. एवं कारणीभूत परामर्शके आकारमें भेद होनेसे अनुमितिके आकारमेंभी भेद होता है अर्थात् प्रथम परामर्शसे पक्षप्रकारक साध्य विशेष्यक "पक्षे साध्यं" इत्याकारक अनुमिति ज्ञान होता है और द्वितीय परामर्शसे साध्यप्रकारक पक्षविशेष्यक "पक्षः साध्यवान्" इत्याकारक अनुमितिज्ञान होताहै और कई एक नवीन नैयायिक ऐसा मानते हैं कि--पूर्वोक्त पक्षविशेष्यक तथ व्याप्तिविशिष्टविशेष्यक उभयविध परामर्शसे साध्यप्रकारक पक्षविशेष्यक 'पक्षः साध्यवान्' इत्याकारक एकही अनुमिति होती है–इति ।

पूर्वोक्त रीतिसे लिङ्गदर्शन व्याप्तिस्मरण आर परामर्श इन तीनों ज्ञानोंके पश्चात् अनुमितिज्ञानकी उत्पत्ति मानी है उनमें परामर्श ज्ञानको अस्वीकार करता हुआ मीमांसक कहताहै ।

ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञानं विनाऽपि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं ततो धूमो वह्निव्याप्य इति स्मरणं भवति, तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितिदर्शनात् व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सर्वत्र न कारणं किंतु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वमावश्यकत्वात्, विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकल्पने गौरवाच्चेति चेत् । न ।

शंका–जिस स्थलमें "पर्वतो धूमवान्" इत्याकारकप्रत्यक्ष हुआ है तथा उसके पीछे "धूमो वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयः" इत्याकारक जहां स्मरण हुआ है वहां इन ज्ञानद्वयसे भी अनुमिति देखनेमें आतीहै; इसलिये "वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः" इत्याकारक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानको अनुमितित्वावच्छिन्न यावत् अनुमितिके प्रति कारण नहीं कहसकते, किन्तु व्याप्यतावच्छेदक 'धूमत्व' प्रकारक जो 'पर्वतो धूमवान्' इत्याका-

रक पक्षधर्मताज्ञान तादृश ज्ञानत्वेन कारणता उभयवादी सिद्ध नितपूर्ववृत्ति होनेसे अवश्य माननेयोग्य है" ऐसे स्थलमें "वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः" इत्याकारक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि तृतीयज्ञानकी कल्पना करनी उपस्थितिकृत गौरवभी है,–इति ।

व्याप्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानादनुमित्युत्पत्तेर्लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वम् । किंच धूमवान् पर्वत इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः, व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात् ।

समाधान–"अयमालोको धूमो वा" इत्याकारक सन्देह स्थलमें व्याप्यतावच्छेदक प्रकार 'धूमत्व' प्रकारक निर्णय न होनेसेभी "वह्न्यभाववदवृत्तिमानयमालोको धूमो वा" इत्याकारक ज्ञानसे अनुमिति उत्पन्न होती है इसलिये व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक पक्षधर्मताज्ञानको वहां व्यभिचारी होनेसे हरएक स्थलमें कारण नहीं मान सकते किन्तु 'व्याप्यतावच्छेदक प्रकारकत्व' की अपेक्षासे व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वेन कारणता माननेमें अवच्छेदक उपस्थिति अभावप्रयुक्त लाघव है. मीमांसक–आपने अवच्छेदकका लाघव दिखलाया परन्तु पूर्वोक्त ज्ञानद्वयसे अनुमिति मानना मध्यमें परामर्शात्मक ज्ञानको न स्वीकार करना तो हमारे मतमें परमलाघव है. नैयायिक–किञ्च व्याप्यतावच्छेदकादि अनवगाहि "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानसे अनुमिति होनी चाहिये; क्योंकि आपके कथनानुकूल यह ज्ञानभी व्याप्यतावच्छेदकीभूत धूमत्वप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञानरूपही है.

न च गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानस्य हेतुत्वमिति वाच्यम् । चैत्रस्य व्याप्तिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमितिः स्यादिति ।

मीमांसक–अनुमितिज्ञानके अव्यवहित पूर्व वर्तमान कालमें नेत्रादि इन्द्रियोंसे ज्ञात हुए जो व्याप्यतावच्छेदकादि तादृश व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वेन हेतुता है इसलिये कालान्तरीय तादृश ज्ञानको लेकर दोष नहीं है. नैयायिक–तथापि महानसादिकोंमें चैत्रके व्याप्ति ग्रहण करनेसे और उसके भाई मैत्रको "पर्वतो धूमवान्" इत्याकारक व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान होनेसे "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमिति होनी चाहिये.

यदि तु तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते। तदाऽनन्तकार्यकारणभावः।

मीमांसक–दूसरे पुरुषके व्याप्तिज्ञानसे तथा दूसरे पुरुषके पक्षधर्मताज्ञानसे दूसरेको अनुमिति नहीं हो सकती इसलिये जिस पुरुषको व्याप्तिज्ञान हुआ है तथा जिस पुरुषको व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक पक्षधर्मताज्ञान हुआ है वह ज्ञान उसी पुरुषके अनुमितिज्ञानमें हेतु होसकता है. नैयायिक–ऐसा कहनेसे आपको प्रतिपुरुषभेदसे अनन्त कार्यकारणभावकी कल्पना करनेमें महागौरव होगा.

मन्मते तु समवायेन व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं समवायेनानुमितिं जनयतीति नानन्तकार्यकारणभावः।

मीमांसक–प्रतिपुरुषभेदसे कार्यकारणभेदकी कल्पना तो आपकेभी तुल्यही है, नैयायिक–मेरे मतमें तो समवायसम्बन्धसे व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान जहां होय वहां समवायसम्बन्धसे अनुमितिज्ञानको उत्पन्न करता है, इसलिये प्रतिपुरुषभेदसे अनन्त कार्य्यकारणभावरूप दोष मेरे मतमें नहीं है.

यदि तु व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते, तदा कार्यकारणभावद्वयम्।

मीमांसक–हमारे मतमें "वह्निव्याप्य" इत्याकारक व्याप्तिप्रकारके ज्ञानका (स्वतंत्र) जुदा कारणता है और "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक पक्षधर्मता ज्ञानको जुदा कारणता है; ऐसा कहनेसे तत्तत्पुरुषीयत्वके निवेशकरनेका भी कुछ काम नहीं क्योंकि मैत्रआत्मामें अनुमितिज्ञानके स्वतंत्र हेतुभूत व्याप्तिज्ञानका अभाव होनेसे चैत्रके व्याप्तिज्ञानकालमें उस व्याप्तिज्ञानसे शून्य मैत्रको अनुमित्यापत्ति होही नहीं सकती; इसलिये गौरवभी नहींहै. नैयायिक-ऐसा माननेसेभी व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वेन कारणताहै या पक्षधर्मताविषयक व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन कारणताहै? इस प्रकार विशेष्य विशेषणभावके विपर्य्यास करनेसे कार्य्यकारणभावद्वय सिद्ध होगा.

वह्निव्याप्यो धूमः, आलोकवान् पर्वतः इति ज्ञानादप्यनुमितिः स्यादिति। इत्थं च यत्र ज्ञानद्वयं तत्रापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति।

मीमांसक–इस प्रकारका कार्य्यकारणभावद्वय तो विनिगमनाविरहसे आपकोभी माननाही होगा. नैयायिक–यह कार्य्यकारणभावद्वय तो हमभी मानते हैं; परन्तु

आपके मतमें "वह्निव्याप्यो धूमः" तथा "आलोकवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानद्वयसे भी अनुमितिज्ञान होना चाहिये; क्योंकिं आपकी पूर्व कही रीतिसे व्याप्तिप्रकारक ज्ञान तथा पक्षधर्मता ज्ञान कारणरूपेण विद्यमानहै परन्तु ऐसे स्थलमें अनुमितिका होना अनुभवसिद्ध नहीं. मीमांसक–आपके मतमेंभी, पूर्वोक्त ज्ञानद्वयसे अनुमिति क्यों नहीं होती ? नैयायिक– हमारे मतमें तो व्याप्तिप्रकारतानिरूपित हेतुप्रकारता निरूपित जो पक्षनिष्ठ विशेष्यताशालि ज्ञान तादृश ज्ञानत्वेन ज्ञानको अनुमितिज्ञानके प्रति हेतुता विवक्षित है, इसलिये "वह्निव्याप्यो धूमः, आलोकवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानमें अथवा "धूमो वह्निव्याप्यः, धूमवान् पर्वतः' इत्याकारक ज्ञानसे अनुमितिकी आपत्ति नहीं होसकती; क्योंकि इन दोनों स्थलोंमें व्याप्तिप्रकारतानिरूपित धूमनिष्ठ विशेष्यताका पर्वतविशेष्यतानिरूपित प्रकारतारूपेण भान नहीं है, इसलिये जिस स्थलमें ज्ञानद्वय है वहां भी परामर्शात्मक विशिष्ट ज्ञानकी कल्पना अवश्य करनी चाहिये. फलमुखगौरव दोषके वास्ते नहीं होता अर्थात् कार्यकारणभावग्रहरूप फलके (मुख) अधीन होनेवाला गौरवज्ञान दोषकर नहीं है.

व्याप्यो नाम व्याप्त्याश्रयः, तत्र का व्याप्तिरित्यत आह, व्याप्तिरिति–

भाषा–व्याप्य पक्ष उभयवैशिष्ट्यावगाहि परामर्शात्मक ज्ञान स्वसिद्धिमें व्याप्ति ज्ञानकी अपेक्षा करता है,इसलिये'प्रकृतसिद्धार्थचिन्तन'रूपउपोद्घातसङ्गतिसे परामर्शके अनन्तर व्याप्तिस्वरूप निरूपणार्थ टीकाकार कहते हैं कि–'व्याप्य' नाम व्याप्तिके आश्रयका है परन्तु व्याप्य घटकीभूत व्याप्ति कैसी है, इसपर मूलकार कहता है–

व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ॥६८॥

भाषा–साध्यवालेसे भिन्नाधिकरणमें हेतुका सम्बन्ध न होनाही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतुका साध्यवद् भेदाधिकरणमें नियमसे वृत्तित्वाभाव होना चाहिये ॥ ६८ ॥

साध्यवदन्येति । वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः साध्यवान्महानसादिस्तदन्यो जलह्रदादिस्तदवृत्तित्वं धूमस्येतिलक्षणसमन्वयः । १ ।

भाषा–"वह्निमान् धूमात्" इत्यादिस्थलमें साध्य वह्नि है, साध्यवाले महानसादि हैं; साध्यवालोंसे भिन्नाधिकरण जल ह्रद्आदि हैं; उनसे अवृत्तित्वधूमरूप हेतुमें है इसलिये यह व्याप्तिका लक्षण संगत है । १ ।

धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिन्नयःपिण्डादौ वह्नेः सत्वान्नातिव्याप्तिः । २ ।

भाषा–और 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि असद्धेतुओंमें यह लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्तभी नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलमें साध्य धूम है, साध्यवाले महानसादि हैं. उनसे भिन्नाधिकरण तप्तलोहपिण्डादिकोंमें वह्निरूप वृत्तित्वही है किन्तु अवृत्तित्व नहीं इसलिये दोष नहीं । २ ।

अत्र येन सम्बन्धेन साध्यं तेनैव सम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः । अन्यथा समवायसम्बन्धेन वह्निमान् वह्नेरवयवस्तदन्यो महानसादिस्तत्र धूमस्य विद्यमानत्वादव्याप्तिप्रसङ्गात् । ३ ।

भाषा–यहां लक्षणमें जिस सम्बन्धसे साध्यकी विवक्षा की होय उसी सम्बन्धसे साध्यवालेकोभी जानना उचित है. (अन्यथा) जिस किसी एक सम्बन्धसे साध्यवत्वकी विवक्षा करेंगे तो पूर्वोक्त लक्षणकी ' वह्निमान् धूमात् ' इसी स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि समवायसम्बन्धसे वह्निरूप साध्यवाले वह्निके अवयव हैं; उन अवयवोंसे भिन्नाधिकरण पर्वत महानसादि हैं; उन अधिकरणोंमें धूमरूप हेतुको वृत्तित्वही है वृत्तित्वाभाव नहीं याते लक्षणमें अव्याप्तिरूप दोष हुआ परन्तु साध्य साध्यवान् दोनोंमें यदि एकही संयोगसम्बन्धकी विवक्षा होय तो पूर्वोक्त रीतिसे लक्षण संगत है. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि (साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न) जो साध्यवत् तादृश (साध्यवत् प्रतियोगिक) जो भेद तादृश (भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है । ३ ।

साध्यवदन्यश्च साध्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः । तेन यत्किञ्चिद्वह्निमान् महानसादिस्तद्भिन्ने पर्वतादौ धूमस्य सत्त्वेऽपि न क्षतिः । ४ ।

भाषा–साध्यवदन्य शब्दसेभी यावत्साध्यवालोंमें रहनेवाला जो 'साध्यवत्त्व रूप धर्म तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवाले जानने चाहिये. (अन्यथा) यदि साध्यवत्त्वधर्मसे यावत् साध्याधिकरणका ग्रहण नहीं करें तो " वह्निमान् धूमात् " इसी स्थलमें फिर अव्याप्ति होगी; क्योंकि ' यत् किञ्चित्' शब्दसे कोई एक वह्निका अधिकरण पर्वत या महानसादि हैं; उनमें भिन्न दूसरे पर्वत गोष्ठादि हैं; उनमें धूम-

---

१ यदि संस्कृतमात्र लक्षण याद करना होय तो केवल इन कोष्ठोंके भीतरके हिस्सोंको आपसमें मिलायकर बांचो.

रूप हेतुको वृत्तित्वही है; वृत्तित्वाभाव नहीं; याते अव्याप्तिरूप दोष हुआ और 'साध्यवत्त्व' रूप धर्मावच्छिन्नके देनेसे साध्यवाले यावत् अधिकरणोंका ग्रहण होसकता है उनसे भिन्न जल ह्रदादिही मिलेंगे उनमें वृत्तित्वाभाव धूमरूप हेतुमेंभी सिद्ध है, याते अव्याप्तिरूप दोष नहीं. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न) जो साध्यवत् तादृश (साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक) जो भेद, तादृश (भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ॥ ४ ॥

येन सम्बन्धेन हेतुस्तेनैव सम्बधेन साध्यवदन्यावृत्तित्वं बोध्यम् । तेन साध्यवदन्यस्मिन् धूमावयवे धूमस्य समवायसम्बन्धेन सत्त्वेऽपि न क्षतिः । ५ ।

भाषा-प्रकृतमें जिस सम्बन्धसे हेतुकी विवक्षा करी होय, साध्यवद् भिन्नाधिकरणमें अवृत्तित्वभी उस हेतुको उसी सम्बन्धसे विचारणा उचित है; अन्यथा फिर ' वह्निमान् धूमात्' इसी स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि वृत्तितामें हेतुतावच्छेदक सम्बन्धका निवेश न करनेसे साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाधिकरण धूमरूप हेतुके अवयवभी होसकते हैं; उनमें धूमरूप हेतु समवायसम्बन्धसे वृत्तिही है, अवृत्ति नहीं याते अव्याप्तिरूप दोष हुआ, और यदि साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तितामें हेतुतावच्छेदक सम्बन्धका निवेश करें तो प्रकृतमें हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध संयोग है परन्तु संयोगसम्बन्धसे रूपरूप हेतु न अपने अवयवोंमें रहताहै और न जलह्रदादिमें रहता है, किंतु स्वसाध्यवह्निके साथ पर्वतादिहीमें रहता है. इसलिये अव्याप्तिरूप दोष नहीं एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक) जो भेद तादृश (भेदाधिकरण निरूपिता) जो (हेतुतावच्छेदक संबन्धावच्छिन्ना) वृत्तिता तादृश (वृत्तित्वाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है । ५ ।

साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः, तेन धूमवान् वह्नेरित्यत्र साध्यवदन्यजलह्रदादिवृत्तित्वाभावेऽपि नातिव्याप्तिः । ६ ।

भाषा-यहां हेतुनिष्ठ साध्यवद् भेदाधिकरणसे अवृत्तिता भी साध्यवद् भेदाधिकरणत्वावच्छिन्नाधिकरणसे अपेक्षित है. अन्यथा साध्यवद् भेदाधिकरण यावत् नहीं लेंगे तो 'धूमवान् वह्नेः' इसी स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि भेदाधिकरणत्वावच्छिन्न अधिकरणका ग्रहण न करनेसे साध्यवत् पर्वतादिसे भिन्न जलह्रद है.

उसमें वह्निरूप हेतु अवृत्तिभी है अलक्षअसद्धेतुमें लक्षण संगत हुआ याते अतिव्याप्तिरूप दोष हुआ और यदि भेदाधिकरणत्वावच्छिन्नाधिकरणका ग्रहण करे तो साध्यवद् भेदाधिकरण जैसे जलह्रद है वैसे तप्त लोहपिण्डभी होसकता है. उसमें वह्निरूप हेतुको वृत्तित्वही है, वृत्तित्वाभाव नहीं, याते अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(साध्यतावच्छेदक संबन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिक) जो भेद तादृश (भेदाधिकरणत्वावच्छिन्न भेदाधिकरणनिरूपित) जो (हेतुतावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्ना) वृत्तिता तादृश (वृत्तिताकाभाव) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ॥ ६ ॥

अत्र यद्यपि द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ विशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्तायाश्चैक्यात् साध्यवदन्यस्मिन् गुणादाववृत्तित्वं नास्ति। तथापि हेतुतावच्छेदकरूपेणावृत्तित्वं वाच्यम्। हेतुतावच्छेदकं तादृशवृत्तितानवच्छेदकमिति फलितोऽर्थः ॥ ६८ ॥

भाषा–यहां साध्यवद् भेदाधिकरणमें हेतुको हेतुतावच्छेदकरूपसे अवृत्तित्व होना चाहिये. तात्पर्य यह कि, हेतुतावच्छेदक धर्म्मं तादृश साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तिताका अनवच्छेदक होना चाहिये. यदि ऐसा नहीं कहें तो 'द्रव्यं द्रव्यत्ववत् गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' इस स्थलमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि 'विशिष्ट पदार्थ शुद्धसे जुदा नहीं होता' यह युक्तियुक्त अनुभव है. एवं गुणकर्म भेदविशिष्ट सत्ता जो कि केवल द्रव्यमें ही रहती है और शुद्धसत्ता जो कि द्रव्य गुण कर्म्म तीनोंमें रहती है उस दोनोंका परस्पर भेदभी नहीं कहसकते. ऐसे साध्यवत् जो द्रव्य तत्प्रतियोगिक भेदाधिकरण गुणकर्मादि उनमें वृत्तिताही है. विशिष्टसत्ताको वृत्तित्वाभाव नहीं याते अव्याप्ति हुई, और यदि हेतुतावच्छेदक धर्म्मको साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तिताका अनवच्छेदक मानें तो अव्याप्तिरूप दोष नहीं क्योंकि प्रकृतमें हेतुतावच्छेदकधर्म 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्व' है. यह धर्म साध्यवद् भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तिताका अनवच्छेदक इस रीतिसे है कि यद्यपि गुणकर्मभेदविशिष्ट सत्ता तथा शुद्धसत्ताको एक होनेसे हेतु अधिकरणगुणकर्मभी हो सकते हैं तथापि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन विशिष्टसत्ता गुणकर्ममें नहीं रहती है किन्तु द्रव्यहीमें रहती है. ऐसे साध्यवद् भेदाधिकरण गुणकर्मादिकोंमें वृत्तिता गुणत्व कर्मत्वादि धर्मोंको है, वृत्तिताके अवच्छेदक गुणत्वत्वादि धर्म हैं. अनवच्छेदक गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वरूप धर्म है याते पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(साध्यतावच्छेदक संबन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताका)

जो भेद तादृश (भेदाधिकरणत्वावच्छिन्न भेदाधिकरणनिरूपित) जो (हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्ना) वृत्तिता तादृश (वृत्तितानवच्छेदक) जो (हेतुतावच्छेदकधर्म्म) तादृश (धर्म्मवत्त्व) ही हेतुनिष्ठ व्याप्ति है ॥ ६८ ॥

ननु केवलान्वयिनि ज्ञेयत्वादौ साध्ये साध्यवदन्यस्याप्रसिद्धत्वादव्याप्तिः, किंच सत्तावान् जातेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिन् सामान्यादौ हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिश्चात आह, अथ वेति—

शंका--पूर्वोक्त समग्रलक्षणकी 'वाच्यं वाच्यत्ववत् ज्ञेयत्वात्' इत्यादि केवलान्वयि हेतुक स्थलमें अव्याप्ति होगी क्योंकि 'वाच्य' नाम "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः" इत्याकारक ईश्वरीय इच्छाविषयभूत पदार्थोंका है और 'ज्ञेय' नाम ईश्वरके ज्ञानके विषय होनेवाले पदार्थोंका है, ईश्वरीय ज्ञानको तथा इच्छाकी विषयता पदार्थमात्रमें रहती है; इसीसे वाच्य तथा ज्ञेय पदार्थमात्रको कह सकते हैं और उनमें रहनेवाले वाच्यत्व तथा ज्ञेयत्व आदिधर्मभी पदार्थमात्रमें रहसकते हैं इस रीतिसे यावत् पदार्थको वाच्यत्वधर्मवाला होनेसे वाच्यत्ववद् भेदाधिकरण कोई पदार्थ नहीं; भेदाधिकरणके अप्रसिद्ध होनेसे उसमें वृत्तिता अप्रसिद्धा. वृत्तिताके अप्रसिद्ध होनेसे हेतुनिष्ठ अवृत्तित्वभी अप्रसिद्ध हुआ इस रीतिसे लक्षणकी अव्याप्ति हुई और यहां यदि ऐसा कहें कि केवलान्वयि ज्ञानकालमें साध्यसंशयरूप पक्षताके अभाव होनेसे यहां अनुमितिकी योग्यताही नहीं और यदि केवलान्वयिक ज्ञान नहीं हुआ तो भ्रमात्मक व्याप्तिज्ञानसे अनुमिति होही सकती है. इसलिये 'वाच्यं वाच्यत्ववत् ज्ञेयत्वात्' इस स्थलमें लक्षणकी अव्याप्ति कहनी योग्य नहीं तो 'सत्तावान् जातेः' इस स्थलमें पूर्वोक्त लक्षणकी अव्याप्ति पूर्णरूपसे है क्योंकि यहां साध्यवाले द्रव्य, गुण, कर्म, तीन हैं, और साध्यवद् भेदाधिकरण सामान्यविशेषादि हैं उनमें हेतुतावच्छेदक समवायसंबन्धसे यदि किसीको वृत्तित्व होवे तो वृत्तित्वाभाव जातिरूप हेतुपर आवे. परन्तु उनमें समवायसंबन्धावाच्छिन्नावृत्तिता अप्रसिद्ध है; इसलिये पूर्वोक्त लक्षणकी उस स्थलमें अव्याप्ति है. समाधान—मूलकार 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थसे एतद् लक्षसाधारण अनुगत लक्षणान्तर करते हैं-

अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना ॥
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते ॥ ६९ ॥

भाषा-हेतुमन्निष्ठ जो (विरह) अभाव उस अभावका अप्रतियोगि जो साध्य तादृश साध्यके साथ हेतुका एकाधिकरणत्वही हेतुके सिरपर वह्निनिरूपित व्याप्ति है ॥ ६९ ॥

हेतुमति निष्ठा वृत्तिर्यस्य स तथा विरहोऽभावस्तथा च हेत्वधिकरणवृत्तियोंऽभावस्तदप्रतियोगिना साध्येन सह हेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यत इत्यर्थः । १ ।

भाषा-अर्थात् हेतुवाले पक्षमें (निष्ठा) वृत्ति होवे जिसकी एवंभूत जो अभाव ऐसा अर्थ करनेसे हेत्वधिकरणमें वर्तनेवाला जो अभाव उस अभावका अप्रतियोगि जो साध्य उस साध्यके साथ हेतुका जो एकाधिकरणवृत्तित्व, वही हेतुके शिरपर व्याप्ति है. इस लक्षणकी पूर्वोक्त "सत्तावान् जातेः" इस स्थलमें अव्याप्ति नहीं है; क्योंकि यहां जातिरूप हेतुके अधिकरण द्रव्य गुण कर्म तीन हैं; उनमें उन पदार्थोंहीका अभाव रहेगा जो पदार्थ उनमें नहीं रहेंगे ऐसे घटपटादि हैं.और जो पदार्थ उनमें रहेगा उसका अभाव नहीं कहसकते ऐसा पदार्थ सत्ता है; जिनका अभाव रहेगा वही पदार्थ उस अभावके प्रतियोगि कहे जावेंगे. हेतुअधिकरणमें घटपटादिका अभाव है; इसलिये घटपटादि अभावके प्रतियोगि हैं, सत्ताका अभाव नहीं; इसलिये सत्ता उस अभावका अप्रतियोगि है,वही साध्यभी है.एतादृश अप्रतियोगिसाध्यके साथ जातिरूप हेतुका एकाधिकरणवृत्तित्व है याते लक्षण संगत है. इसी रीतिसे "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि पूर्वोक्त सब स्थलोंमें लक्षणसमन्वय जानलेना ॥१॥

अत्र यद्यपि वह्निमान् धूमादित्यादौ हेत्वधिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्वह्न्योदरस्तीत्यव्याप्तिः । २ ।

शंका-यह लक्षणभी "वह्निमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्त है क्योंकि हेतु अधिकरण पर्वतादिमें महानसीय वह्निका अभाव तथा महानसमें चत्वरीयवह्निका अभाव तथा चत्वरमें गोष्ठीय वह्निका अभाव; एवं गोष्ठमें पर्वतीय वह्निका अभाव पासकते हैं; उस अभावका अप्रतियोगि वह्निरूप साध्य नहीं हुआ किन्तु प्रतियोगिही हुआ है. इसलिये इस लक्षणकी यहां अव्याप्ति है । २ ।

न च समानाधिकरणवह्निधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यम् । ३ ।

सिद्धान्ती-हमारे इस लक्षणका भाव यह है कि 'तद्धेत्वधिकरणवृत्ति' जो अत्यन्ताभाव उस 'अत्यन्ताभाव' का 'अप्रतियोगि' जो 'तत् साध्य' तादृश साध्यके संग 'सामानाधिकरण्य' रूप व्याप्ति है अर्थात् पर्वतीय धूमके साथ पर्वतीय वह्निकी

व्याप्ति एवं महानसीय धूमके साथ महानसीय वह्निकी व्याप्ति है, एवं हेतु आधिकरण पर्वतादिमें महानसीयादि वह्निका अभाव लेनेसेभी अभावका प्रतियोगि महानसीय वह्नि होगी. अप्रतियोगि पर्वतीयवह्निके साथ पर्वतीय धूमका सामानाधिकरण्य है याते अव्याप्तिरूप दोष नहीं । ३ ।

तद्वह्न्यादेरप्युभयाभावसत्त्वादेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीतेः।४।

शंका–तथापि 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें अव्याप्तिका वारण नहीं होसकता; क्योंकि ' एकसत्त्वेपि द्वयं नास्ति' इस प्रतीतिसे एकवस्तुसत्त्व स्थलमें वस्तुद्वयका अभाव कह सकते हैं. जैसे घटवत्स्थलमें"घटपटौ न स्तः" यह कह सकते हैं; वैसेही "पर्वते पर्वतीयवह्निसत्त्वेऽपि वह्निघटद्वयं नास्ति" यह कह सकते हैं. इस अभावका पर्वतीय वह्निभी प्रतियोगि है.अप्रतियोगि साध्यके न होनेसे अव्याप्तिरूप दोष तादवस्थ्य रहा. समा०–इस दोषके वारणार्थ यह कहसकते हैं कि–हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना होनी चाहिये उभय व्यक्ति वृत्तिधर्मका नाम व्यासज्यवृत्तिधर्म है. प्रकृतमें हेत्वाधिकरणमें "वह्निघटद्वयं नास्ति" इत्याकारक अभावकी प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना नहीं है; किन्तु वह्नि घट उभयमें रहनेवाला जो वह्नि घट उभयत्वरूप व्यासज्यवृत्तिधर्म तदवच्छिन्नाही है,इसलिये वह्निघट उभयका अभाव लेकर लक्षण दूषित करना उचित नहीं किंतु शुद्ध घटाभाव लेकर लक्षण संगत होसकता है. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(हेत्वधिकरणवृत्ति) जो (व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्न प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव) उस अभावका (अप्रतियोगि) जो (साध्य) तादृश साध्यके साथ हेतुका (सामानाधिकरण्य) ही व्याप्ति है। ४ ।

गुणवान् द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तिश्च । तथापि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम् । ५ ।

शंका–तथापि इस लक्षणकी "घटो गुणवान् द्रव्यत्वात्" इस स्थलमें अव्याप्ति है; क्योंकि हेत्वधिकरण रक्तघटमें पीतगुणका अभाव एवं पीतघटमें श्वेतगुणका अभाव लेसकते हैं. उस अभावका प्रतियोगि गुणरूप साध्यही है, इसलिये अप्रतियोगि साध्यके साथ सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिका लक्षण यहां अव्याप्त है. समा०–तथापि 'साध्य हेत्वधिकरणवृत्त्यभावका अप्रतियोगि होना चाहिये' ऐसा अब हम नहीं कहते किन्तु"साध्यतावच्छेदकधर्म हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक होना चाहिये" ऐसा कहतेहैं. एवं "गुणवान् द्रव्यत्वात्" इस स्थलमें

अव्याप्तिरूप दोष नहीं है; क्योंकि यहां साध्यतावच्छेदकधर्म गुणत्व है. वह हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक इसलिये है कि-हेत्वधिकरण घटमें "गुणत्वेन गुणो नास्ति" ऐसा अभाव नहीं कह सकते; क्योंकि घट द्रव्य है उसमें कोई न कोई गुण अवश्यही रहेगा. एवं यदि हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव नीलगुणाभाव पीतगुणाभावभी लेंगे तो अभावीय प्रतियोगिता नीलपीतगुणनिष्ठा होगी. उस प्रतियोगिताके अवच्छेदक धर्म नीलगुणत्व पीतगुणत्वादि होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक, शुद्धगुणत्व होगा इसी रीतिसे लक्षण संगत है. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि-(हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिता) का (अनवच्छेदक) जो (साध्यतावच्छेदक, तदवच्छिन्नसाध्य) के साथ (सामानाधिकरण्य) रूप हेतुपर व्याप्ति है । ५ ।

ननु रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथिवीत्वादित्यादौ साध्यतावच्छेदका रूपत्वव्याप्यजातयस्तासां च शुक्लत्वादिस्वरूपाणां नीलघटादिवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमस्तीत्यव्याप्तिरिति चेत् । न । तत्र परम्परया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव साध्यतावच्छेदकत्वात् । न हि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वापि पृथिव्यामस्ति । रूपत्वव्याप्यजातिमान् नास्तीति बुद्ध्यापत्तेः । ६ ।

शंका-इस लक्षणकीभी ' घटो रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथ्वीत्वात्'इस स्थलमें अव्याप्ति होगी. क्योंकि रूपत्वव्याप्य जातिवाले नीलपीतादि गुण यहां साध्य हैं और नीलपीतादिगुणोंमें रहनेवाली नीलत्वपीतत्वादि जातियां यहां साध्यतावच्छेदक हैं. एवं हेत्वधिकरण रक्तश्वेतादि गुणयुक्त घटपटादिमें सप्तविध रूपमेंसे नीलपीतादि किसी न किसी एक रूपका अभावभी पासकते हैं. अभावीय प्रतियोगिता नीलपीतादि गुणनिष्ठा होगी और प्रतियोगिताकी अवच्छेदक नीलत्व पीतत्वादि जातियां होंगी. एवं नलित्व पीतत्वादि जातियोंको अभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदकरूप धर्म न होनेसे अव्याप्ति हुई. समाधान-ऐसे स्थलोंमें हम ' स्वाश्रयसमवाय ' रूप परंपरासम्बन्धसे रूपत्वव्याप्यजातियोंमें रहनेवाले 'जातित्वधर्म ' हीको साध्यतावच्छेदक मानते हैं. 'स्व' शब्दसे यहां रूपत्वव्याप्य जातित्वका ग्रहण है, उसका'आश्रय'रूपत्व व्याप्य नीलत्वपीतत्वादिजातियां हैं उन जातियोंका नीलपीतादिगुणोंमें समवाय है.आगे नीलपीतादिगुण द्रव्यमें समवायसंबन्धसे साध्य हैं. एवं रूपत्वव्याप्यजातित्वरूप धर्म 'स्वाश्रयसमवाय'सम्बन्धसे नीलपीतादिगुणोंमें रहकर साध्यतावच्छेदक हो सकता है. एवं हेत्वाधिकरणद्रव्यवृत्त्यभाव

नीलत्वजातिमदभाव पीतत्वजातिमदभाव लेसकते हैं. एतादृश अभावीय प्रतियोगिता नीलपीतादिगुणोंमें रहेगी. उस प्रतियोगिताके अवच्छेदक नीलत्वपीतत्वादि धर्म होंगे यही धर्म्म रूपत्वकी व्याप्यजातियां हैं. इन सबमें रहनेवाला 'रूपत्वव्याप्यजातित्वरूपधर्म' साध्यतावच्छेदक है, यही धर्म अभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदकभी है क्योंकि सप्तविधरूप किसीएक पृथिवीमें एक जगह कहीं नहीं रहता; इसलिये रूपत्वव्याप्यजातिमदभाव तो हेत्वधिकरण पृथिवीमें कह सकते हैं; परन्तु रूपत्वव्याप्य जातित्वावच्छिन्नवदभाव किसी पृथिवीमें नहीं कहसकते. तात्पर्य यह कि — ऐसा अभाव नीरूप पृथिवीमें रहसकता है, परन्तु नीरूप पृथिवी संसारमें दुर्लभ है कोई न कोई रूप पृथिवीमें रहताही है, यदि नीरूप पृथिवीभी कोई होवे तो "रूपत्वव्याप्य जातिमान् नास्ति" इत्याकारक बुद्धि किसी एक घटपटादिमें होनी चाहिये; परन्तु होती तो नहीं इस रीतिसे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदक तथा परंपरासम्बन्धसे साध्यतावच्छेदक 'रूपत्वव्याप्यजातित्व' रूप धर्म है याते पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं । ६ ।

एवं दण्डयादौ साध्ये परम्परासम्बद्धं दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकं, तच्च प्रतियोगितानवच्छेदकमिति । साध्यादिभेदेन व्याप्तेर्भेदात् तादृशस्थले साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षणघटकमित्यपि वदन्ति । ७ ।

भाषा–एवं "मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगात् " इत्यादि स्थलोंमें भी परंपरासम्बन्धका आश्रय करनेसे अव्याप्तिरूप दोषवारण जानलेना. यहां यदि परंपरासम्बन्ध न स्वीकार करें तो दण्डिसंयोगरूप हेतुका अधिकरण अनुयोगितासम्बन्धसे मठ है. उस मठरूप हेत्वधिकरणमें "वृद्धदण्डी नास्ति, युवादण्डी नास्ति, गौरदण्डी नास्ति, श्यामदण्डी नास्ति" इत्याकारक तत्तद्दण्ड्यभाव पासकते हैं; उस अभावकी प्रतियोगिता तत्तद्दण्डिनिष्ठ होगी और प्रतियोगिताका अवच्छेदक धर्म दण्ड होगा वही तो साध्यतावच्छेदक था इसलिये अव्याप्ति हुई; परन्तु यदि 'स्वसमवायिसंयोग ' रूप परम्परासम्बन्धसे 'दण्डत्व' रूप धर्मको साध्यतावच्छेदक माने तो दोष नहीं. यहां 'स्व' शब्दसे दण्डत्वधर्मका ग्रहण है; उसका समवायि दण्ड है; उस दण्डका पुरुषमें संयोग है. एतादृश सम्बन्धसे दण्डत्वधर्म साध्यतावच्छेदक हो सकता है और अभावीय प्रतियोगिताका अनवच्छेदकभी है; याते पूर्वोक्तरीतिसे

अव्याप्तिरूप दोष नहीं. यहां कईएक विद्वानोंकी यहभी सम्मति है कि-साध्यसाधनके भेदसे लक्षण भिन्न२ होसकते हैं, इसलिये परम्परासम्बन्धसे अवच्छेदक माननेका कुछ काम नहीं किन्तु ऐसे स्थलोंके लिये लक्षणान्तर करना उचित है, एवं ऐसे स्थलोंमें ऐसा लक्षण करना कि- (हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं तदवच्छिन्नावच्छिन्न साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः) "अर्थात् हेत्वधिकरणवृत्ति जो अभाव तादृश अभावनिरूपित जो प्रतियोगिता तादृश प्रतियोगिताका जो अवच्छेदक उस अवच्छेदकमें रहनेवाली जो अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकताका अनवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदकताका अवच्छेदकधर्म तद्धर्मावच्छिन्नावच्छिन्न साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति हेतुपर है 'रूपत्वव्याप्यजातिमद्वान् पृथिवीत्वात्, दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इत्यादिस्थलोंमें यह लक्षण सार्थक है, यहां पूर्वोक्तरीतिसे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय प्रतियोगितारूपत्वव्याप्यजातिमत् तत्तत् नीलपीतादिरूपपर और तत्तत् दण्डिपर रहेगी, उस प्रतियोगिताके अवच्छेदक रूपत्वव्याप्य नीलत्वपीतत्वादिजातियां और दण्ड होगा और अभावीयप्रतियोगिताकी अवच्छेदकताका अनवच्छेदक तथा साध्यतावच्छेदकताका अवच्छेदक 'रूपत्वव्याप्यजातित्व' तथा 'दण्डत्व' होंगे; तदवच्छिन्न 'रूपत्वव्याप्यजातियां' तथा 'दण्ड' तदवच्छिन्न 'नीलपीतादिगुण' तथा 'दण्डी' यही दोनों यथाक्रम समवायसे तथा संयोगसे साध्य हैं, एतादृश साध्योंके साथ पृथिवीत्वरूप हेतुका तथा दण्डिसंयोगरूप हेतुका सामानाधिकरण्यभी है; याते व्याप्तिका लक्षण संगत है ७।

हेत्वधिकरणं च हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यम् । तेन द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ शुद्धसत्त्वाधिकरणगुणादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि द्रव्यत्वस्य नाव्याप्तिः ॥ ८ ॥

भाषा--"हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" इत्याकारक लक्षणमें हेत्वधिकरणभी हेतुतावच्छेदक जो धर्म तद्धर्मविशिष्ट हेतुका अधिकरण जानना, अन्यथा "द्रव्यं द्रव्यत्ववत् गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि विशिष्टवस्तु शुद्धसे जुदा नहीं होती. इस अनुभवसे विशिष्टसत्ता शुद्धसत्ताको एकरूप होनेसे उसके अधिकरण गुणकर्म्मभी हुए. तद्वृत्तिअभाव "द्रव्यत्वं नास्ति" इत्याकारक अभाव एतादृश अभावीय प्रतियोगिता द्रव्यत्वरूप साध्यनिष्ठा प्रतियोगिता एतादृश प्रतियोगिताका अवच्छेदकही 'द्रव्यत्वत्व' रूप साध्यतावच्छेदकधर्म हुआ है, अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक नहीं हुआ. एवं अव्याप्ति हुई, परन्तु यदि हेत्वधिकरणता

हेतुतावच्छेदक विशिष्टाधिकरणता लेते हैं तो अव्याप्तिरूप दोष नहीं; क्योंकि यद्यपि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता शुद्धसत्तासे जुदी नहीं तथापि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन विशिष्टसत्ता भिन्न है, उसका अधिकरण केवल द्रव्य है. उसमें द्रव्यत्वरूप साध्यका अभाव नहीं पासकते किन्तु घटादिका अभाव लेकर लक्षण संगत करनेसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है । ८ ।

एवं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरणं बोध्यम् । तेन समवायेन धूमाधिकरणतदवयवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि वह्नेर्नाव्याप्तिः । ९ ।

भाषा–एवं प्रकृतलक्षणमें हेतुका अधिकरणभी हेतुतावच्छेदक सम्बन्धसे जानना योग्य है, अन्यथा "वह्निमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि समवायसम्बन्धसे धूमरूप हेतुके अधिकरण धूमके अवयवभी हैं; उनमें वर्तनेवाले अभावका प्रतियोगी वह्निरूप साध्यभी है, प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्वधर्म होगा. एवं 'वह्नित्व' धर्मको अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक न होनेसे अव्याप्ति हुई परन्तु यदि हेतुकी हेतुतावच्छेदक सम्बन्धसे स्वाधिकरणमें विवक्षा करे तो हेत्वधिकरण पर्वतही होगा; क्योंकि हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध यहां संयोग है और संयोगेन धूम पर्वतहीमें रहता है, अपने अवयवोंमें नहीं रहता. एवं पर्वतमें वह्निका अभाव लक्षणघटक नहीं हो सकता, क्योंकि पर्वतमें वह्निभी संयोगेन रहता है; किन्तु घटाद्यभाव लक्षणघटक होगा. एवं अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक 'घटत्वादि' धर्म होंगे; अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदकं 'वह्नित्वरूप' धर्म होगा तदवच्छिन्न वह्निरूप साध्यके साथ धूमरूप हेतुका सामानाधिकरण्यही व्याप्ति है याते पूर्वोक्त अव्याप्तिरूप दोष नहीं. एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः)। ९ ।

अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः । तेन कपिसंयोग्येतद्वृक्षत्वादित्यत्र मूलावच्छेदेनैतद्वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वेऽपि कपिसंयोगस्य नाव्याप्तिः ।

भाषा–इस प्रकृत लक्षणघटित जो हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव है वह अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण होना चाहिये अर्थात् अभाव तथा अभावका प्रतियोगि दोनों एकाधिकरणमें नहीं रहने चाहिये. अन्यथा "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थलमें

अव्याप्ति होगी;क्योंकि यहां हेतुतावच्छेदकीभूत स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न एतद्वृक्षत्व-त्वावच्छिन्न एतद्वृक्षत्वका अधिकरण 'एतद्वृक्ष' है, एतादृश हेत्वधिकरणमें वर्तमान जो अभाव "मूलावच्छेदन कपिसंयोगो नास्ति" इत्याकारकाभाव एतादृश अभावीय प्रतियोगिताका अवच्छेदकही 'कपिसंयोगत्व' रूप साध्यतावच्छेदक धर्म है, अनव-च्छेदक नहीं है, याते अव्याप्ति हुई परन्तु यदि हेत्वधिकरणवृत्त्यभावमें प्रतियोगिव्य-धिकरणकी विवक्षा करें तो दोष नहीं है; क्योंकि ऐसा कहनेसे कपिसंयोगरूप साध्याभाव प्रतियोगिव्यधिकरण न होनेसे लक्षणघटक नहीं है किन्तु घटाद्यभावप्र-तियोगिव्याधिकरण होनेसे लक्षणघटक है. एवम् अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप धर्म हुआ, याते अव्या-प्तिरूप दोष नहीं है.

न च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं यदि प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वं तदा तथैवाव्याप्तिः।प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्यानधिकरणे गु-णादौ वर्त्तते योऽभावस्तस्यैव वृक्षेऽपि मूलावच्छेदेन सत्त्वात् । यदि तु प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं तदा संयोगी सत्त्वादित्या-दावतिव्याप्तिः । सत्त्वाधिकरणे गुणादौ यः संयोगाभावस्तस्य प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति वाच्यम् ।

शंका-आपने कहा कि-'लक्षणघटक अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण होना चाहिये' सो इस कथनका क्या भाव है ? यदि ऐसा कहो कि-लक्षणघटक अभाव सर्वदा 'अपने प्रतियोगिके अधिकरणसे भिन्नाधिकरणमे रहना चाहिये ' तब तो " वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इसी स्थलमें फिर अव्याप्तिरूप दोष तादवस्थ्य है; क्योंकि यहांभी हम 'प्रतियोगि' शब्दसे कपिसंयोगरूप साध्यही ग्रहण करसकते हैं. उसके अधिकरण वृक्षादि हैं;अनधिकरण गुणकर्मादि हैं; उन गुणकर्मादिकोंमें वर्तने-वाला जो कपिसंयोगाभाव वही मूलावच्छेदन वृक्षमें भी रह सकता है; क्योंकि बहुत-विद्वान् लोक अधिकरणभेदसे अभावभेदका अंगीकार नहीं करते अर्थात् अनेकअधि-करणोंमें एकही अभाव रहसकता है. एवं गुणकर्मवृत्ति तथा मूलावच्छेदेन वृक्षवृत्ति कपिसंयोगाभावका प्रतियोगि कपिसंयोग है. अभावीय प्रतियोगिताका अवच्छेदक कपिसंयोगत्व होगा, एवं अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप धर्मके न होनेसे अव्याप्ति हुई और यदि एतद्दोषवारणार्थ 'प्रतियोगिव्याधिकरण ' इस अशंका 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व' अर्थ कहो अर्थात् हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव स्वप्रति-

योग्यधिकरणमें रहनेवाला नहीं होना चाहिये. यदि ऐसा कहो तो यद्यपि 'वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थलमें तो दोष नहीं; क्योंकि संयोगमात्रका यह स्वभाव है कि—यह वस्तुके किञ्चिदवयवावच्छेदेन उत्पन्न होता है. इसलिये दर्शनकारोंने इसको 'अव्याप्यवृत्ति' माना है. जिस वस्तुकी एकही कालमें स्वाधिकरणमें भावाभाव उभयावगाहिनी प्रतीति होजावे वह वस्तु नियमसे अव्याप्यवृत्ति होती है; प्रकृतमें ऐसा संयोग है. एवं कपिसंयोगभी अव्याप्यवृत्ति होनेसे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावका प्रतियोगि नहीं होसकता, किन्तु घटाद्यभावही लक्षणघटक होगा. अभावीय प्रतियोगिताके अवच्छेदक घटत्व पटत्वादि धर्म होंगे; अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप धर्म होगा. एवं पूर्वोक्तस्थलमें तो इसरीतिसे दोष नहीं, परन्तु तथापि 'प्रतियोगीव्यधिकरण' इस अंशका 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व' ऐसा अर्थ करनेसे "घटः संयोगवान् सत्त्वात्" इस स्थलमें अतिव्याप्तिरूप दोष होगा; क्योंकि यहां व्यभिचारस्थल हेत्वधिकरण गुणकर्म हैं. उनमें यद्यपि संयोगरूपसाध्यका अभावभी पासकते हैं तथापि संयोगरूप साध्यका अभाव पूर्वोक्तरीतिसे लक्षणघटक नहीं होसकता; क्योंकि संयोगरूप साध्यका अभाव पूर्वोक्तरीतिसे स्वप्रतियोग्यधिकरणावृत्ति नहीं है किन्तु अव्याप्यवृत्ति होनेसे स्वप्रतियोग्यधिकरण वृत्तिही है; इसलिये यह अभाव लक्षणघटक नहीं होसकता. एवं यहांभी हेत्वधिकरणवृत्ति घटाद्यभाव लेनेसे अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक संयोगत्वरूप धर्म होगा. एवम् अलक्षस्थलमें लक्षण संगत होनेसे अतिव्याप्ति हुई ।

हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य विवक्षितत्वात् । स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभाव इति निष्कर्षः । १० ।

समाधान—हेत्वधिकरणवृत्तिअभावके विशेषणीभूत 'प्रतियोगिव्यधिकरण' अंशका अर्थ हम पूर्वोक्त रीतिसे नहीं करते; किन्तु 'प्रतियोगिव्यधिकरण' कथनसे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्व विशिष्ट अभावकी हेत्वधिकरणमें विवक्षा करते हैं अर्थात् इसका भाव यह है कि—हेत्वधिकरण वृत्त्यभाव अपने प्रतियोगिके अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणमें वर्तनेवाला होना चाहिये. ऐसा अर्थ करनेसे पूर्वोक्त उभयस्थलमें दोष नहीं क्योंकि "वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" यहां अपने प्रतियोगिका अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण वृत्त्यभाव कपिसंयोगाभाव तो होही नहीं सकता. यद्यपि कपिसंयोगाभावभी मूलावच्छेदेन वृक्षमें रहता है तथापि वह अभाव अपने प्रतियोगिके अनधिकरणीभत हेत्वधिकरणमें नहीं है किन्तु अपने प्रतियोगिके अधि-

करणीभूत हेत्वधिकरणहीमें रहता है. इसलिये कपिसंयोगाभावको लक्षणघटक न होनेसे घटाद्यभाव लेकर लक्षण संगत करनेसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है. एवं "घटः संयोगवान् सत्त्वात्" इस स्थलमें सत्तारूप हेत्वधिकरण गुणकर्ममें संयोगरूप साध्यका अभाव अपने प्रतियोगिके अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणमें रहता है; इसलिये लक्षणघटक है, एवं तादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकही साध्यतावच्छेदक संयोगत्वरूप धर्म होगा. अनवच्छेदक न होनेसे लक्षण संगत नहीं है याते अतिव्याप्तिरूप दोषभी नहीं है. एवं लक्षणस्वरूप ऐसा हुआ कि (स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूत) जो (हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरण) तादृशहेत्वधिकरण (वृत्ति) जो अभाव तादृश (अभावीयप्रतियोगिताच्छेदकं यत् साध्यातानवच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः) १० ।

प्रतियोग्यनधिकरणं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणं बोध्यम् । तेन विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादौ जात्यधिकरणगुणादेर्विशिष्टसत्त्वाभावप्रतियोगिसत्ताधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः ११

भाषा—इस लक्षणमें प्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरण जानना, अन्यथा "घटो विशिष्टसत्तावान् जातेः" इस स्थलमें अतिव्याप्ति होगी. क्योंकि यहां जातिरूप हेतुका व्यभिचारस्थल गुणकर्म हैं उस हेत्वधिकरण गुणकर्ममें विशिष्टसत्ताभाव तो पा नहीं सकते, क्योंकि "विशिष्टवस्तु शुद्धवस्तुसे अतिरिक्त नहीं होती" इस न्यायसे विशिष्टसत्ताअभावका प्रतियोगी शुद्ध सत्ताभी होसकती है. उस शुद्धसत्ताका अभाव हेत्वधिकरण गुणकर्मोंमें नहीं है; एवं साध्याभावको लक्षणघटक न होनेसे घटाभाव लेकर लक्षण संगत करनेसे अतिव्याप्ति होगी. परन्तु यदि प्रतियोगका अनधिकरण हेत्वधिकरण प्रतियोगितावच्छेदक धर्मावच्छिन्नका अनधिकरण कहते हैं तो हेत्वधिकरण गुणकर्ममें विशिष्टसत्तात्वेन विशिष्टसत्ताका अभाव पासक्ते हैं.उस अभावका प्रतियोगी विशिष्टसत्ता होगी. प्रतियोगितावच्छेदक धर्म विशिष्टसत्तात्व होगा. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदकधर्मके न होनेसे अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है, एवं लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि— प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोग्यनधिकरणीभूत) जो (हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरण) तादृश हेत्वधिकरण (वृत्ति) जो अभाव (तादृशाभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानधिकरण्यं व्याप्तिः) । ११ ।

एवं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यम्

तेन ज्ञानवान् द्रव्यत्वादित्यादौ द्रव्यत्वाधिकरणघटादेर्विषयतासम्बन्धेन ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः । १२ ।

भाषा-एवं हेत्वधिकरणमें प्रतियोग्यनधिकरणताभी साध्यतावच्छेदकसम्बन्धसे विवक्षित है. अन्यथा " आत्मा ज्ञानवान् द्रव्यत्वात्" इस समवायेन साध्यहेतुक स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां द्रव्यत्वरूप हेतुका व्यभिचारस्थल घटादिक हैं. उन हेत्वधिकरणघटादिकोंमें ज्ञानरूप साध्यका अभाव तो नहीं पा सकते; क्योंकि ज्ञानरूप साध्य विषयतासम्बन्धसे यावत् घटपटादि विषयोंमें विद्यमान है; किंतु उदासीन घटादिका अभाव लक्षणघटक हो सकता है. एवं अभावीय प्रतियोगिताके अवच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक ज्ञानत्व धर्म होगा.तदवच्छिन्न साध्यके साथ द्रव्यत्वरूप हेतुका सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिका लक्षण संगत होनेसे अतिव्याप्तिरूप दोष हुआ परन्तु यदि साध्यतावच्छेदक सम्बन्धसे प्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण कहें तो यहां साध्यतावच्छेदक सम्बन्धसमवाय है. समवायसम्बन्धसे ज्ञानाधिकरण आत्माही है; घटादिक नहीं. एवं द्रव्यत्वरूप हेत्वधिकरण घटादिकोंमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक ज्ञानरूप साध्यभावभी लक्षण घटक हो सकता है. तादृशाभावीयं प्रतियोगितावच्छेदकही ज्ञानत्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म होगा. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक न होनेसे अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है । १२ ।

इत्थं च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाधिकरणे समवायेन वह्निविरहसत्त्वेऽपि न क्षतिः । १३ ।

भाषा–एवं प्रतियोग्यनधिकरणमें साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका निवेश करनेसे " पर्वतो वह्निमान् धूमात् " इस स्थलमें अव्याप्तिरूप दोषभी नहीं है. अन्यथा हेत्वधिकरण पर्वतमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकवह्निरूप साध्यका अभाव ही पासकते हैं. तादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्वधर्म होगा. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदकके न होनेसे लक्षण संगत नहीं है. एवम् अव्याप्ति दोष हुआ; परन्तु यदि प्रतियोग्यनधिकरणमें साध्यतावच्छेदक सम्बन्धकी विवक्षा करते हैं तो साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धसे हेत्वधिकरण पर्वतादिमें वह्निरूप साध्यका अभाव नहीं पासकते क्योंकि वह्नि वहां संयोगेन रहता है, किन्तु घटाद्यभाव लक्षणघटक होगा अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक वह्नित्वधर्म होगा. एवं लक्षणसंगत होनेसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है. एवं लक्षणका

स्वरूप ऐसा हुआ कि-(साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न) या प्रतियोगिता तादृश (प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोग्यनधिकरणं) यत् (हेतुतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्न) हेत्वधिकरणं तादृश (हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः)। १३।

ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित् प्रतियोगिनः तत्सामान्यस्य वाऽनधिकरणत्वम्, यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य वाऽनधिकरणत्वं विवक्षितम्।

शंका-"विशिष्टसत्तावान् जातेः" इत्यादि स्थलोंमें अतिव्याप्ति वारणार्थ आपने प्रतियोग्यनधिकरणमें प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणकी विवक्षा करी है; उसमें हम यह पूछते हैं कि-क्या प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यत्किञ्चित् प्रतियोगिका अनधिकरण कहते हो किंवा प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिका अनधिकरण विवक्षित है ? अथवा यत् किंचित् जो प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तदवच्छिन्नानाधिकरण कहते हो ?

आद्ये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादावेवाव्याप्तिः। कपिसंयोगाभावस्य हि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्तिरपि कपिसंयोगो भवति तदनधिकरणं च वृक्ष इति।

भाषा-इनमें यदि प्रथमपक्ष कहो तो "वृक्ष कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां साध्यतावच्छेदक समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदक धर्म कपिसंयोगत्वभी लेसकते हैं; तद्धर्मावच्छिन्न यत्किञ्चित् प्रतियोगी शब्दसे भूतलवृत्ति कपिसंयोगभी लेसकते हैं, तादृश भूतलवात्ति कपिसंयोगका अनधिकरण जो हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष तद्वृत्त्यभाव "वृक्षे भूतलवृत्तिकपिसंयोगो नास्ति" इत्याकारक अभाव, एतादृशाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकहीं कापिसंयोगत्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म है; अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक धर्मके न होनेसे अव्याप्तिरूप दोष हुआ, इस दोषके निवारणार्थ यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगीके अनधिकरणकी विवक्षा करें तो यद्यपि "वृक्षः कापिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्" इत्यादि स्थलमें दोषवारण होसकता है; क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक कापिसंयोगत्वावच्छिन्न यावत् कपिसंयोगका अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष नहीं है किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वाद्यवच्छिन्न यावत घटादिका अन-

धिकरण हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष हो सकता है. एवं अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म होंगे. अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व धर्म्म होगा. ऐसे अव्याप्तिरूप दोष नहीं है.

द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः । सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसामानाधिकरणत्वात् ।

भाषा—तथापि द्वितीयपक्षमें कहे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिके अनधिकरणकी विवक्षा करनेसे "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि सद्धेतुमात्रमें लक्षणका असम्भव है क्योंकि यहां पूर्वोक्तरीतिसे लक्षणघटक घटाद्यभाव हो सकता है; परन्तु वहभी प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिके अनधिकरणमें नहीं रहसकता किन्तु स्वाभावात्मक प्रतियोगिके समानाधिकरणहीमें रहता है. तात्पर्य यह कि—हेत्वधिकरण पर्वतमें घटाभाव और पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभाव ये दोनों एक रूप हैं. उस एकरूपापन्न अभावके प्रतियोगि दो हुए; एक घट और दूसरा घटाभावाभाव. वह यद्यपि घटात्मक प्रतियोगिके साथ समानाधिकरण नहीं है तथापि स्वाभावात्मक प्रतियोगिके साथ एकाधिकरणवृत्ति है. यहां यह भाव है कि जिस आधिकरणमें घटाभाव रहेगा उसी अधिकरणमें घटाभावका अभाव नहीं रहसकता, क्योंकि "अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता" इस आचार्यके वचनानुरोधसे घटाभावका अभाव घटस्वरूप होता है. एवं प्रतियोगि तथा उसका अभाव दोनों एकाधिकरणमें नहीं रहसकते. इसलिये घटाभावमें 'पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट' यह विशेषण दिया. एवं घटाभावके अधिकरणमें यद्यपि घट नहीं रहता तथापि पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्ट घटाभावके अभावका अभाव पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावस्वरूप होगा और विशिष्टवस्तुका शुद्धसे भेद नहीं होता. इस न्यायसे विशिष्टघटाभाव शुद्ध घटाभाव स्वरूप हुआ, उस अभावके प्रतियोगि घट तथा स्वाभाव ये दो हुए. एवं यद्यपि उसको घटात्मक प्रतियोगिके साथसमानाधिकरण नहीं है, तथापि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यावत् प्रतियोगिअन्तर्गत स्वाभावात्मक प्रतियोगिके साथ घटाभावादिका समानाधिकरण हो सकता है, एवं रीतिसे प्रतियोगिव्यधिकरणाभावकी अप्रसिद्धी है.

न च वह्निमान् धूमादित्यादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेस्तथापि

साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वमस्त्येवेति कथं प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति वाच्यम् । घटाभावे यो वह्न्यभावस्तस्य घटाभावात्मकतया घटाभावस्य वह्निरपि प्रतियोगी तदधिकरणं च पर्वतादिरित्येवं क्रमेण प्रतियोगिव्यधिकरणस्याप्रसिद्धत्वात् ।

सिद्धान्ती–"वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थलमें घटाभावादिको पूर्वोक्त रीतिसे यद्यपि पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मक प्रतियोगिके साथ पर्वतादिमें समानाधिकरण है तथापि "ज्ञानवान् द्रव्यत्वात्" इत्यादि स्थलमें अतिव्याप्ति वारणार्थ साध्य तावच्छेदक सम्बन्धसे प्रतियोग्यनधिकरणत्व विवक्षित है. प्रकृतमें साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध संयोग है. एवं संयोगसम्बन्धसे घटका तथा स्वाभावात्मक प्रतियोगिका अनधिकरण हेत्वधिकरण है इसलिये प्रतियोगि व्यधिकरणाभावाप्रसिद्धि निबन्धन दोष नहीं. वादी–यही दोष प्रकारान्तरसेभी होसकता है. जैसे–हेत्वधिकरण पर्वतमें जो घटाभाव उस घटाभावात्मकाधिकरणमें लिया वह्न्यभाव वह वह्निका अभाव घटाभावस्वरूप हुआ; क्योंकि अभावाधिकरणमें रहनेवाले अभावको विद्वान् लोग अधिकरणस्वरूपही मानते हैं. एवम् उस अभावका प्रतियोगी वह्नि तथा घट दोनों होंगे, उनमें वह्निरूप प्रतियोगिके अधिकरण पर्वतादिमें वह अभावप्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है. एवं प्रतियोगि व्यधिकरणाभावाप्रसिद्धि पुनरपि तादवस्थ्य है ।

यदि च घटाभावादौ वह्न्यभावादिर्भिन्न इत्युच्यते, तथापि धूमाभाववान् वह्न्यभावादित्यादावव्याप्तिः । तत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धस्तेन च सम्बन्धेन सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्येति ।

सिद्धांती–हम लोग अभावाधिकरणके अभावको अधिकरणस्वरूप नहीं मानते; इसलिये घटाभावमें रहनेवाला वह्न्यभाव घटाभावात्मक कभी नहीं होसकता; किन्तु पृथक् होनेसे स्वप्रतियोग्यधिकरणसे भिन्नाधिकरणमेंही नियमसे रहेगा. एवं प्रतियोगि व्यधिकरणाभावकी अप्रसिद्धि नहीं है. वादी–आपके ऐसे कथनसे यद्यपि "वह्निमान् धूमात्"इत्यादि स्थलमें प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिनिबन्धन असम्भवरूप दोष नहीं है तथापि "ह्रदो धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" इत्यादि स्थलमें

अव्याप्तिरूप दोष अवश्य है, क्योंकि यहां साध्यतावच्छेदक सम्बन्धस्वरूप है और स्वरूपसम्बन्धसे वस्तुमात्रका अभाव पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट स्वाभावात्मक प्रतियोगिके साथ हेत्वधिकरणमहृदादिकोंमें एकाधिकरणमें वृत्ती है एवम् अभावसाध्यक स्थलमें प्रतियोगिव्यधिकरणअभावाप्रसिद्धहोनेसे अव्याप्तिरूप दोष नियत है. एतद्दोषपरिहारार्थ यदि 'यत्किञ्चित् जो प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तदवच्छिन्न यावत् प्रतियोगिका अनाधिकरण' इस तृतीयपक्षका आश्रयण करो तो यद्यपि "हृदो धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" इत्यादि स्थलमें दोष नहींहै क्योंकि यहां यत्किञ्चित् प्रतियोगितावच्छेदक धर्मसे घटत्वादि धर्मोंका ग्रहण होसकता है. तदवच्छिन्न यावत् प्रतियोगि घटादिही होंगे तदनधिकरण हेत्वधिकरण जलहृद तद्वृत्त्यभावीय प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि धर्म अनवच्छेदकसाध्यतावच्छेदक धूमाभावत्व तदवच्छिन्नधूमाभाव उसके साथ हृदात्मकाधिकरणमें वह्न्यभावरूप हेतुका समानाधिकरण है एवम् अव्याप्तिरूप दोष नहीं.

तृतीये तु कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वादित्यादावव्याप्तिः । तत्रात्मवृत्तिकपिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगः, तस्य च गुणत्वात् तत्प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वमपि तदवच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्यात्मन इति ।

भाषा–तथापि यत्किञ्चित् प्रतियोगितावच्छेदक धर्मके ग्रहण करनेसे "आत्मा कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्" इस स्थलमें अव्याप्तिरूप दोष होगा. यद्यपि यहां घटाभावीय यत्किञ्चित् प्रतियोगिताके अवच्छेदक घटत्वधर्मावच्छिन्नका अनधिकरण हेत्वधिकरण आत्मा होसकता है; इसलिये प्रतियोगि व्यधिकरणाभावकी अप्रसिद्धिनिबन्धन अव्याप्तिरूप दोष नहीं है तथापि यत्किञ्चित् प्रतियोगितावच्छेदक धर्मसे साध्यतावच्छेदक धर्मका व्यापकीभूत धर्मभी लेसकते हैं. इस तात्पर्यसे अव्याप्ति है. उसका प्रकार यह है कि-हेत्वधिकरण आत्मवृत्ति जो कपिसंयोगाभावाभाव वह कपिसंयोग स्वरूप हुआ और संयोगकी गणना दशसंख्यादि सामान्यगुणोंमें है. एवं साध्याभावरूप कपिसंयोग गुणसामान्यस्वरूपभी हुआ, उसकी प्रतियोगिता जैसे कपिसंयोगाभावमें है वैसे गुणसामान्याभावमेंभी रही. एवम् अभावीय प्रतियोगिताका अवच्छेदक धर्म्म कपिसंयोगाभावत्वका व्यापकीभूत गुणसामान्याभावत्वभी हो सकता है; क्योंकि हेत्वधिकरण आत्मामें "सामान्यगुणो नास्ति" इत्याकारक अभाव नहीं पासकते किन्तु गुणसामान्यभावाभाव पासकते हैं. उसकी प्रतियोगिता गुणसामान्याभावमें रहेगी, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म गुणसामान्याभावत्व होगा, उसीको यत्किञ्चित् प्रतियोगितावच्छेदक धर्मसे ग्रहण करे तो तदवच्छिन्न

गुणसामान्याभाव होगा. उस गुणसामान्याभावका अनधिकरणहेत्वधिकरण आत्मा है, एवम् अव्याप्ति हुई. तात्पर्य यह है कि कपिसंयोगको सामान्यगुण अन्तःपाति होनेसे कपिसंयोगाभावमें कपिसंयोगाभावत्व और गुणसामान्याभावत्व ये दो धर्म रहते हैं. हम यत्किञ्चित् प्रतियोगितावच्छेदक धर्मसे गुणसामान्याभावत्वरूप धर्महीका ग्रहण करेंगे तदवच्छिन्नगुणसामान्याभावका अनधिकरण हेत्वधिकरण आत्मा होगा. भाव यह कि–यद्यपि कपिसंयोगाभावत्वेन कपिसंयोगाभावाभाव हेत्वधिकरण आत्मामें नहीं पासकते तथापि गुणसामान्याभावत्वेन कपिसंयोभावाभाव पासकते हैं. इस रीतिसे गुणसामान्याभावत्वेन कपिसंयोगाभावका अनधिकरण हेत्वधिकरण आत्मा हुआ अर्थात् यत्किञ्चित् धर्म पुरस्कारेण गृहीत जो साध्य उसका अभाव हेत्वधिकरणमें पानेसे अव्याप्तिरूप दोष हुआ.

मैवम् । यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य विवक्षितत्वात् । १४ ।

समाधान–यादृशीप्रतियोगिताके अवच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरण हेत्वधिकरण होय तादृशी प्रतियोगिताका अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक धर्म विवक्षित है. प्रकृतमें "कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्" यहां 'यादृशी प्रतियोगिता' शब्दसे गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्न गुणसामान्याभावनिष्ठप्रतियोगिताका ग्रहण करना योग्य है. एवं गुणसामान्याभावनिष्ठ प्रतियोगिताका अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक धर्म कपिसंयोगाभावत्व होसकता है. इसलिये अव्याप्ति नहीं है. एवम् यहां लक्षणका स्वरूप ऐसा हुआ कि–(साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोग्यनधिकरणं यत् हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरणं तद्वृत्त्यभावीयतादृशप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः–इति) इस लक्षणका प्रकृतमें संगत करनेका प्रकार यह है कि, साध्यतावच्छेदकीभूतस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना गुणसामान्याभावाभावीया जो गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्ना गुणसामान्याभावनिष्ठा प्रतियोगिता उस प्रतियोगिताकावच्छेदकीभूत जो गुणसामान्याभावत्वरूप धर्म तदवच्छिन्न जो गुणसामान्याभाव उस गुणसामान्याभावका अनधिकरण जो हेतुतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्धावच्छिन्न आत्मत्वत्वावच्छिन्न आत्मत्वाधिकरणम् आत्मा उसमें रहनेवाले अभावसे निरूपित जो गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्न गुणसामान्याभावनिष्ठ प्रतियोगिता तादृश प्रतियोगिताका अनवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक धर्म कपिसंयोगाभावत्व तदवच्छिन्न कपिसंयोगाभावके साथ आत्मत्वरूप हेतुका आत्मरूपएकाधिकरणमें सामानाधिकरण्य है. एवं लक्षण संगत हुआ । १४ ।

ननु कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यत्र प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः, हेत्वधिकरणस्य महाकालस्य जगदाधारतया सर्वेषामभावानां साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कालिकविशेषणतया प्रतियोग्यधिकरणवृत्तित्वात् । अत्र केचित् । महाकालभेदविशिष्टघटाभावस्तत्र प्रतियोगिव्यधिकरणो महाकालस्य घटाधारत्वेऽपि महाकालभेदविशिष्टघटानाधारत्वात्, महाकाले महाकालभेदाभावात् । १५ ।

शंका—इस पूर्वोक्त समग्र लक्षणकी "कालो घटवान् कालपरिमाणात्" इस स्थलमें अव्याप्ति है, क्योंकि यहां कालिकसम्बन्धसे घट साध्य है और समवायेन कालपरिमाण हेतु है;हेत्वधिकरणीभूत महाकाल कालिकविशेषणतासम्बन्धसे जगत् मात्रका आश्रय है. एवं साध्यतावच्छेदक कालिकसम्बन्धसे यावद्वस्तुका अभाव स्वप्रतियोगिके अधिकरण महाकालमें रहताहै. इस रीतिसे यहां प्रतियोगि व्यधिकरणाभावही प्रसिद्ध नहीं होसकता. समाधान—यहां कईएक विद्वान् ऐसे कहतेहैंकि—हेत्वधिकरण महाकालमें अभावीय कालिकविशेषणताघटित सामानाधिकरण्य सम्बन्धसे महाकालभेदविशिष्ट घटका अभाव लेसकते हैं वही अभाव प्रतियोगि व्यधिकरणभी हो सकताहै, क्योंकि यद्यपि महाकाल घटका आधार है तथापि महाकाल भेदविशिष्ट घटका आधार नहीं होसकता; क्योंकि अभावीय विशेषणतासम्बन्धसे महाकालमें महाकालभेदका अभाव है. भाव यह कि—विशिष्टाधिकरणता वहांही मानी जातीहै जहां सामानाधिकरण्य घटकीभूत विशेषण विशेष्यके सम्बन्धोंसे विशेषण विशेष्य उभयका सत्त्वलाभ होवे. एवम् अभावीयविशेषणता सम्बन्धसे महाकालभेदके महाकालमें न रहनेसे महाकालभेदविशिष्ट घटभी 'विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव होनेसे नहीं रहसकता—इति । १५ ।

वस्तुतस्तु प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वाभयोभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं बोध्यम् । व्यापकसामानाधिकरण्यं च व्याप्तिः ।

भाषा-और वस्तुतः सिद्धांत तो यह है कि, यहां लक्षणका स्वरूप ऐसा कहना उचित है कि-प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धसे प्रतियोगीका अनधिकरणीभूत जो हेत्वधिकरण उस हेत्वधिकरणवृत्ति जो अभाव उस अभावकी जो प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता सामान्यमें यत् सम्बन्धावच्छिन्नत्व तथा यद्धर्मावच्छिन्नत्व उभयका अभाव है, तिस सम्बन्धसे तद्धर्म्मावच्छिन्नकी तिस हेतुके साथ व्यापकता जाननी चाहिये. तादृश व्यापकके साथ हेतुका सामानाधिकरण्यही व्याप्ति है.

यत्सम्बन्धः साध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः, यद्धर्मः साध्यतावच्छेदको धर्मः। तत्र यदि यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभावमात्रमुच्यते तदा समवायेन यो वह्न्यभावस्तस्य प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धः समवायस्तेन प्रतियोग्यनधिकरणपर्वतादिवृत्तिः स एव, तत्प्रतियोगितावच्छेदकं च वह्नित्वमित्यव्याप्तिः स्यात् । यदि च यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावमात्रमुच्यते तदा तादृशस्य संयोगेन घटाभावस्य प्रतियोगितायां संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वसत्त्वादव्याप्तिः स्यादत उभयमुपात्तम् ।

भाषा-यहां लक्षणमें यत्सम्बन्धसे साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका ग्रहण है और यद्धर्म्मसे साध्यतावच्छेदक धर्मका ग्रहण है. इन दोनोंमें किसी एकका निवेश न करनेसे अव्याप्ति होगी अर्थात् यदि साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका ग्रहण न करें किन्तु " प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनाधिकरणभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यद्धर्म्मावच्छिन्नत्वाभावः तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" एतावन्मात्र लक्षण करें तो " वह्निमान् धूमान् " इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि हेत्वधिकरण पर्वतमें संयोगेन वह्निसत्त्वेपि समवायेन वह्निर्नास्ति" इत्याकारक अभाव पासकते हैं; एतादृशाभावीय प्रतियोगितासमवायेन वह्निनिष्ठा हुई और प्रतियोगिता सामान्यका अर्थ है, यावत् प्रतियोगितामें अर्थात् हेत्वधिकरणमें जिस २ सम्बन्धसे जिस २ धर्म्मसे जो २ अभाव पासकें उस २ अभावकी प्रतियोगितामें उभयामात्र विवक्षित है, एवं समवायेन वह्निनिष्ठा प्रतियोगिताभी यावत् अन्तर्गत है, परन्तु इस प्रतियोगितामें यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभाव नहीं है किन्तु 'यद्धर्म' पदसे ग्राह्य साध्यतावच्छेदक वह्नित्वरूप धर्म विद्यमान है एवं अव्याप्ति हुई, इसके वारणार्थ यत् सम्बन्धका भी निवेश किया, यत् सम्बन्धसे साध्यतावच्छेदक सम्बन्धका ग्रहण है, एवम् अव्याप्ति नहीं है,

क्योंकि समवायेन वह्न्यभावीय प्रतियोगितामें यद्यपि साध्यतावच्छेदक-धर्मका अभाव नहीं तथापि साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धका अभाव है. एवं "एकसत्त्वेपि द्वयं नास्ति" इस प्रतीतिके बलसे उभयाभाव पासकते हैं याते दोष नहीं है. एवं अभावीय प्रतियोगितामें यदि साध्यतावच्छेदक धर्मका निवेश न करें किन्तु "प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनाधिकरणभूतहेत्वाधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावः तेन सम्बन्धेन तद्धेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" एतावन्मात्र लक्षण करें तो " वह्निमान् धूमात् " इसी स्थलमें फिर अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां हेत्वधिकरणवृत्तिसंयोगेन घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभाव नहीं है. किन्तु साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वही है. एवं लक्षण अव्याप्त हुआ परन्तु यदि पूर्वोक्त सम्बन्ध तथा धर्म उभयका निवेश करें तो दोष नहीं है; क्योंकि घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें यद्यपि साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व है तथापि साध्यतावच्छेदक वह्नित्व धर्मावच्छिन्नत्व नहीं है. एवं "एकसत्त्वेपि द्वयं नास्ति" इस प्रतीतिसे उभयाभाव पासकते हैं. प्रतियोगितामें उभयाभाव होनेसे पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणसमन्वय होसकता है. इसलिये प्रकृत लक्षणमें यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्व उभयका निवेश अवश्य करना उचित है.

इत्थं च कालो घटकान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसम्बंधेन यो घटाभावस्तत्प्रतियोगिनो घटस्यानधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावस्तस्य प्रतियोगितायां कालिकसंबंधावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः १६

भाषा—एवं "कालो घटवान् कालपरिमाणात्" इत्यादि स्थलमेंभी दोष नहीं, क्योंकि यहां संयोगेन घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें यद्यपि साध्यतावच्छेदक घटत्वधर्मावच्छिन्नत्व है तथापि साध्यतावच्छेदक कालिक विशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं है, एवं "एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति" इस प्रतीतिबलसे उभयाभावसंयोगेन घटाभावीय घटनिष्ठ प्रतियोगितामें रहसकता है. एवं "तेन कालिक विशेषणतासम्बन्धेन तद्घटत्वधर्मावच्छिन्नस्य तत् कालपरिमाणरूपहेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" यह व्याप्तिका लक्षण निर्दोष संगत होसकता है ॥ १६ ॥

धूमवान् वह्नेः इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय सामान्यपदमुपात्तम् १७।

शंका—इस लक्षणमें 'प्रतियोगितासामान्ये' क्यों कहा ? किन्तु " यत्किञ्चित्

प्रतियोगितायाम्' ऐसा कहा जाता तो उपस्थितिकृत लाघव होता. समाधान-'सामान्य' नाम यावत्‌का है. उसकी जगह यदि 'यत्किञ्चित्' का निवेश करें तो "पर्वतो धूमवान् वह्नेः" इस स्थलमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां 'यत्किञ्चित्' शब्दसे ग्राह्य घटनिष्ठ प्रतियोगितामें पूर्वोक्त रीतिसे उभयाभाव मिलनेसे लक्षण संगत होसकता है और अलक्ष्यमें लक्षण संगतहीका नाम अतिव्याप्ति है और यदि यावदर्थक 'सामान्य' पदका निवेश करें तो अतिव्याप्तिरूप दोष दूर होसकता है; क्योंकि यावदन्तर्गत संयोगेन धूमत्वेन धूमाभावीय धूमनिष्ठ प्रतियोगिताका भी ग्रहण होसकता है. तात्पर्य यह कि-संयोगेन धूमाभाव हेत्वधिकरण लोहपिण्डमें पासकते हैं परन्तु संयोगेन धूमनिष्ठप्रतियोगितामें उभयाभाव नहीं है किंतु उभयही है इसलिये अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है ॥ १७ ॥

ननु प्रमेयवह्निमान् धूमादित्यादौ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्धम् । गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वादिति चेत् । न । कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीत्या कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयीकरणेन गुरुधर्म्मस्याप्यवच्छेदकत्वस्वीकारा दिति संक्षेपः । १८ ॥ ६९ ॥

शंका-पूर्वोक्त समस्त लक्षणोंकी "पर्वतः प्रमेयवह्निमान् धूमात्" इस स्थलमें अव्याप्ति होगी; क्योंकि यहां साध्यतावच्छेदक धर्म प्रमेय वह्नित्वही मानना होगा, सो वह अवच्छेदक हो नहीं सकता, भाव यह कि-प्राचीन विद्वानोंका यह संकेत है कि-"सम्भवति लघुधर्मे गुरौ तदभावात्-अर्थात् यदि समनियत लघुधर्म अवच्छेदक मिलसके तो गुरुधर्ममें अवच्छेदकता माननी उचित नहीं" प्रकृतमें प्रमेयवह्नित्वके समनियत तथा लघुवह्नित्वरूप धर्म है, वही अवच्छेदक होना चाहिये; परन्तु वह साध्यतावच्छेदक धर्म नहीं, साध्यतावच्छेदक धर्म प्रमेयवह्नित्वरूप है परन्तु वह गुरुधर्म होनेसे अवच्छेदक नहीं होसकता और साध्यतावच्छेदक धर्मका निवेश पूर्वोक्त सभी लक्षणोंमें है एवं अवच्छेदक अप्रसिद्धि निबन्धन अव्याप्तिरूप दोष होगा. समाधान-पदार्थोंकी सिद्धि प्रतीति अनुरोधसे होती है किन्तु स्वमन्तव्यमात्रसे नहीं होसकती 'अत्र कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' इस प्रतीतिसे कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव प्रतीत होताहै और अभावीय प्रतियोगिताभी कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नाही प्रतीत होती है. इसलिये प्रतीत्यनुरोधसे गुरु धर्ममेंभी अवच्छेदकता अंगीकार करनी उचित है-इति । यह संक्षेपसे व्याप्तिलक्षणका निरूपण किया है ॥ १८ ॥ ६९ ॥

पक्षवृत्तित्वमित्यत्र पक्षत्वं किं तदाह, सिषाधयिषयेत्यादि-

भाषा-पीछे "व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते" इस परामर्शके लक्षणमें 'पक्षवृत्तित्व' यह कहा उसमें पक्षत्व क्या है इसी वार्ताको 'सिषाधयिषया' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार कहते हैं-

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ॥
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥ ७० ॥

भाषा-साध्यके सिद्ध करनेकी इच्छाका नाम 'सिषाधयिषा' है, उस सिषाधयिषासे शून्य जो सिद्धि अर्थात् सिषाधयिषाविरहविशिष्ट प्रत्यक्षात्मक ज्ञान जहां नहीं है वह 'पक्ष' है; उसमें हेतुकी वृत्तिताके ज्ञानसे अनुमिति होती है ॥ ७० ॥

सिषाधयिषाविरहविशिष्टायाः सिद्धेरभावः पक्षता, तद्वान् पक्ष इत्यर्थः । सिषाधयिषामात्रं न पक्षता,विनापि सिषाधयिषां घनगर्जितेन मेघानुमानात् । अत एव साध्यसंदेहोऽपि न पक्षता, विनापि संदेहं तदनुमानात् ।

भाषा-सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो सिद्धि उस सिद्धिका अभाव 'पक्षता' है; उस पक्षतारूप धर्मवालेका नाम 'पक्ष' है "गगनं मेघवत् गर्जनात्" इत्यादि स्थलोंमें सिषाधयिषासे विनाभी पुरुषोंको अनुमिति होती है. इसालिये साध्य सिद्ध करनेकी इच्छा मात्रका नाम 'पक्षता' नहीं कह सकते. इसलिये "साध्यसन्देहः पक्षता" इत्याकारक प्राचीनोंका लक्षणभी सम्यक् नहीं है; क्योंकि विनापि मेघरूप साध्यके सन्देहसे गर्जनेसे गगनाधिकरणमें मेघकी अनुमिति होती है.

सिद्धौ सत्यामपि सिषाधयिषासत्त्वेऽनुमितिर्भवत्येव, अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धौ विशेषणम् ।

भाषा-'सिद्धि' नाम इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञानका है. उसके होते सन्तेपि अर्थात् पर्वतादि पक्षोंमें 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक चाक्षुष ज्ञान हुएभी "पर्वते वह्निविषयकानुमितिर्मे स्यात्" इत्याकारक इच्छा होनेसे अनुमिति होती है. इसलिये 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व' सिद्धिमें विशेषण दिया है. भाव यह कि-यद्यपि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अनुमितिज्ञानका प्रतिबन्धक है, इसलिये सिद्धि होत संते अनुमितिज्ञानका होना सम्भव नहीं तथापि सिषाधयिषाको विद्वानोंनें उत्तेजक मानाहै.प्रतिबन्धक होतेभी सामग्रीकी सहकारतासेकार्यजनकका नाम 'उत्तेजक' है. एवं सिषाधयिषारूप उत्तेजकके बलसे सिद्धरूप प्रतिबन्धकके सत्त्वकालमेंभी अनुमितिरूप कार्य होता है.

इससें यह सिद्धान्त हुआ कि–सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो केवल सिद्धि वह अनुमितिके प्रति प्रतिबन्धक है. उसीका अभाव जहां तहां पक्षता है. प्रकृतमें जहां सिद्धि और सिषाधयिषा दोनों हैं वहांभी सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो देशान्तरीय; कालान्तरीय सिद्धि उसका अभाव वहां विद्यमान है.इसलिये पक्षताकी क्षति नहीं. है.ऐसे स्थलमें विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव जानना चाहिये;क्योंकि'सिषाधयिषाविरह' विशेषण है और 'सिद्धि'विशेष्य है. जहां सिषाधयिषाका विरह नहीं किन्तु सिषाधयिषा विद्यमान है वहां सिषाधयिषाविरहरूप विशेषणके न होनेसे तद्विशिष्ट सिद्धिका अभावभी कहसकते हैं यातें सिद्धि सिषाधयिषाउभय सत्त्वस्थलमें पक्षता निर्दोष है.

तथाच यत्र सिद्धिर्नास्ति तत्र सिषाधयिषायां सत्यामसत्यामपि पक्षता। यत्र च सिषाधयिषाऽस्ति तत्र सिद्धौसत्यामसत्यामपि पक्षता। यत्र च सिद्धिरस्ति सिषाधयिषा च नास्ति तत्र न पक्षता, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः सत्त्वात्।

भाषा–(तथाच) एवं जिस स्थलमें (सिद्धि) प्रत्यक्षज्ञान नहीं है वहां सिषाधयिषा होय तो उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव जानना चाहिये अर्थात् सिषाधयिषाके होनेसे सिषाधयिषाविरहरूप विशेषणभी नहीं है और सिद्धिके न होनेसे सिद्धिरूप विशेष्यभी नहीं है. इसलिये विशेषणविशेष्य उभयके अभावसे विशिष्टका अभाव कहना उचित है. ऐसे स्थलमेंभी पक्षता निर्दोष है. एवं जहां सिद्धि सिषाधयिषा दोनोंही हैं वहां विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव जानना चाहिये अर्थात् सिषाधयिषाके न होनेसे सिषाधयिषाविरहरूप विशेषण तो है परन्तु सिद्धिरूपविशेष्यके न होनेसे विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव कह सकते हैं; ऐसे स्थलमेंभी पक्षता निर्दोष है एवं जहां सिषाधयिषा विद्यमान है वहां सिद्धि होय तो पूर्ववत् विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावसे पक्षता जाननी चाहियें और सिद्धि न होय तो पूर्ववत् उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावसे पक्षता जाननी चाहिये; परंतु जिस स्थलमें केवल (सिद्धि) प्रत्यक्षात्मक ज्ञानही है, किन्तु अनुमित्सारूप उत्तेजक नहीं है, वहां पक्षता नहीं क्योंकि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट (सिद्धेः) प्रत्यक्षात्माक ज्ञानको वहां अनुमिति तत्सामग्रीके प्रति प्रतिबन्धकता है इसीसे यह सिद्ध हुआ कि अनुमित्साविराविशिष्ट (सिद्धिः) प्रत्यक्षात्मकज्ञान् अनुमितिज्ञानका; सर्वथा प्रतिबन्धक है. ऐसे स्थलमें पक्षता नहीं है.

ननु यत्र परामर्शानन्तरं सिद्धिस्ततः सिषाधयिषा,तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शनाशान्नानुमितिः,यत्र सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषाः

क्रमेण भवन्ति तत्र सिषाधयिषाकाले सिद्धेर्नाशात् प्रतिबन्धकाभावदेवानुमितिः, यत्र सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शाः सन्ति तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषैव नास्ति, एवमन्यत्रापि सिद्धिकाले परामर्शकाले वा न सिषाधयिषा,योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यानिषेधात्, तत् कथं सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणमिति चेत् । न ।

शंका—सिद्धिमें सिषाधयिषाविरहविशिष्टता आपको एककालावच्छेदेन एकात्मवृत्तित्व सम्बन्धसे विवक्षित है परन्तु परामर्शरूप करणके सत्त्वकालमें और सिद्धिरूप विरोधिके सत्त्वकालमें यदि सिषाधयिषाका होना सम्भव होय तो सिषाधयिषाको उत्तेजकता और तद्विरहविशिष्ट सिद्धिको प्रतिबन्धकता आप कहसके सो विचारसे यह वार्ता बन नहीं सकती; क्योंकि जिस पुरुषको प्रथम क्षणमें परामर्शात्मक ज्ञान हुआ है उसके पीछे द्वितीय क्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ और तृतीय क्षणमें सिषाधयिषा हुई तो सिषाधयिषाकालमें अनुमिति कारणीभूत परामर्शात्मक ज्ञानका क्षणिकत्वेन नाश होनेसे अनुमिति नहीं होगी १। और जिस आत्मामें प्रथम क्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ है, द्वितीयक्षणमें परामर्शात्मक ज्ञान हुआ है और तृतीय क्षणमें सिषाधयिषा हुई है वहां सिषाधयिषकालमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान क्षणिक होनेसे नाश होचुका है,इसलिये प्रतिबन्धकके अभावसेही अनुमितिज्ञान निर्बाध होगा २ । और जिस आत्मामें प्रथमक्षणमें सिषाधयिषा हुई, द्वितीय क्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ, तृतीयक्षणमें परामर्श हुआ वहाँ परामर्शकालमें सिषाधयिषाही क्षणिक होनेसे नाश होचुकी है; सिषाधयिषाके न होनेसे अनुमितिज्ञान नहीं होगा ३।(एवमन्यत्रापि) ऐसे और स्थलोंमेंभी जहां प्रथमक्षणमें परामर्शात्मक ज्ञान हुआ है.द्वितीयक्षणमें सिषाधयिषा हुई है, तृतीयक्षणमें सिद्ध्यात्मक ज्ञान हुआ है. वहां अनुमितिकारणीभूत परामर्शात्मक ज्ञान नहीं है इसलिये अनुमिति न होगी ४। एवं जहां प्रथमक्षणमें सिद्धिहै द्वितीयक्षणमें सिषाधयिषा है तृतीयक्षणमें परामर्श है वह तृतीयक्षणमें प्रतिबन्धकके अभावसेही अनुमिति होसकतीहै ५, एवं जिस आत्मामें प्रथमक्षणमें सिषाधयिषा हुई है, द्वितीयक्षणमें परामर्श हुआ है,तृतीयक्षणमें सिद्ध्यात्मकज्ञान हुआ है वहां सिद्धिकालमें सिषाधयिषा ज्ञान नहीं है इसलिये अनुमिति नहीं होगी ६ । एवं प्रत्यक्षके योग्य विभुके विशेषगुणोंको एककालावच्छेदेन अनुत्पन्न होनेसे सिद्धिकालमें अथवा परामर्शकालमें सिषाधयिषाका होना सम्भव नहीं है इसलिये सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व सिद्धिमें विशेषण देना व्यर्थ है किन्तु "सिद्ध्यभावः पक्षता" इतना मात्र कहनेसे निर्वाह होसकता है ।

यत्र वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षं स्मरणं वा,

ततः सिषाधयिषा तत्र पक्षतासम्पत्तये सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वविशेषणस्यावश्यकत्वात् ।

समाधान-जिस आत्मामें "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक अथवा स्मरणात्मक ज्ञान हुआ हो और उसके पीछे द्वितीयक्षणमें "पर्वते वह्न्यनुमितिर्मे जायताम्" इत्याकारक इच्छा उत्पन्न होय तो ऐसे स्थलमें पक्षतासम्पत्तिके लिये सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व सिद्धिमें विशेषण देना आवश्यक है. भाव यह कि-ऐसे स्थलमें सिषाधयिषाके पूर्वपक्षमें होनेवाला ज्ञान सिद्धिविशिष्टपरामर्शात्मक है. द्वितीयक्षणमें सिषाधयिषारूप उत्तेजकके होनेसे यही ज्ञान परामर्शत्वेन अनुमितिका कारण हो जाता है और सिषाधयिषाके न होनेसे यही ज्ञान सिद्धिरूपेण प्रतिबन्धक होय जाता है एवं यदि सिद्धिमें सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वरूप विशेषण न दिया जाय तो ऐसे स्थलमें पक्षताभी न बनसके; क्योंकि यह केवल सिद्ध्यभाव तो नहीं है किंतु सिद्ध्यात्मक परामर्शही बैठा है और जब विशेषण देते हैं तो पक्षता बसनकती है; क्योंकि यहां यद्यपि केवल सिद्ध्यभाव नहीं है तथापि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो सिद्धि उसका अभाव यहांपर है, इसलिये पक्षता निर्बाध है.

अत्रेदं बोध्यम् । यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यल्लिङ्गकानुमितिस्तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्तल्लिङ्गकानुमितौ पक्षता । तेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वेऽपि यत्किंचिज्ज्ञानं जायतामितीच्छायामपि नानुमितिः ।

भाषा-यहां यहभी जानना उचित है कि-जैसी २ सिषाधयिषाके सत्त्वकालमें तथा सिद्धिके सत्त्वकालमें यद्धेतुक अनुमिति होती है वैसी २ सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धिका अभाव उसी प्रकृत हेतुके अनुमितिमें पक्षता है, (तेन) एवं वह्निव्याप्यधूमवान् "पर्वतो विह्नमान्" इत्याकारक सिद्ध्यात्मक परामर्शसत्त्वकालमेंभी "यत्किंचित् ज्ञानं मे जायताम्" इत्याकारक इच्छाके होनेसे अनुमितिकी आपत्ति नहीं है, क्योंकि इस इच्छाको यत्किंचित् ज्ञान विषयक होनेसे प्रकृतानुमिति सामग्रीमें उत्तेजकता नहीं है.

वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानितिप्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्यक्षादिभिन्नं वह्निज्ञानं जायतामितीच्छायां तु भवत्येव । एवं धूमपरामर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायामपि नानुमितिः ।

भाषा—और यदि "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक परामर्शसत्त्वकालमें "प्रत्यक्षादिभिन्नं वह्निज्ञानं मे जायताम्" इत्याकारक इच्छा उत्पन्न होय तो अनुमिति होय सकती है; क्योंकि यह इच्छा प्रत्यक्षादिभिन्न वह्निअनुमिति ज्ञानमें उत्तेजकरूपेण विद्यमान है, (एवम्) प्रकृतानुगममें यद्हेतुकका निवेश करनेसे "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक धूम परामर्शसत्त्वकालमें "आलोकेन हेतुना अनुमितिर्मे जायताम्" इत्याकारक इच्छासे भी अनुमितिकी आपत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यह इच्छा यद्हेतुक परामर्श है तद्हेतुक नहीं है इसलिये प्रकृतपरामर्शमें उत्तेजक भी नहीं है.

सिषाधयिषाविरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमितिस्तादृशी सिद्धिर्विशिष्यैव तत्तदनुमितिप्रतिबन्धिका वक्तव्या।

भाषा—सिषाधयिषाके अभावकालमें जैसी सिद्धिके होत संते अनुमिति नहीं होती वह २ सिद्धि विशेषरूपसे उसउस अनुमितिमें प्रतिबन्धक कहनी चाहिये अर्थात् "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमितिमें पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारताशालिनिश्चयत्वेन सिद्ध्यात्मक ज्ञानको प्रतिबन्धकता कहनी उचित है.

तेन पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमानिति ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः।

भाषा—इससे "पर्वतः तेजस्वी" अथवा "पाषाणमयो वह्निमान्" इत्याकारक सिद्ध्यात्मक ज्ञान होनेसेभी "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमितिज्ञान रुक नहीं सकता; क्योंकि यह नियम है कि—ताद्विशेष्यक तत्प्रकारक अनुमितिज्ञानके प्रति ताद्विशेष्यक तत्प्रकार सिद्ध्यात्मक ज्ञानको प्रतिबन्धकता है, इतरको नहीं, और प्रकृतमें अनुमितिज्ञान तो पर्वतत्वावच्छिन्न विशेष्यतानिरूपित वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारताशालि है परन्तु सिद्धिज्ञान प्रथम तो प्रकारतामें विपरीत है अर्थात् तेजस्त्वावच्छिन्न प्रकारक है और द्वितीयविशेष्यतामें विपरीत है अर्थात् पाषाणमयत्वावच्छिन्न विशेष्यक है इसलिये यह ज्ञानप्रतिबन्धक नहीं होसकता.

परंतु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिरेव प्रतिबन्धिका, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितिंप्रति तु सिद्धिमात्रं विरोधि।

भाषा-परन्तु प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भावस्थलमें यहभी ख्याल रखना चाहिये कि पक्षतावच्छेदक समानाधिकरणमें अर्थात् पर्वतके किसी एक शिखरमें, वह्निरूप साध्यकी सिद्धि होनेसेभी (तदवच्छेदेन) पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् पर्वतके यावत् शिखरोंमें अनुमिति होय सकती है इसलिये " पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् पर्वतके यावत् शिखरोंमें होनेवाली अनुमितिके प्रति "पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिः-अर्थात् पर्वतके यावत् शिखरोंमें वह्निविषयक चाक्षुष ज्ञानही प्रतिबन्धक होयसकता है और पर्वतके शिखरमें होनेवाली अनुमितिके प्रति तो सिद्धिज्ञानमात्र प्रतिबन्धका है अर्थात् एकशिखरमें होनेवाली अनुमितिके प्रति एकशिखरमें होनेवाला सिद्धिज्ञानभी प्रतिबन्धक है और यावत् शिखरमें होनेवाला सिद्धिज्ञानभी प्रतिबन्धक है. भाव यह कि-ज्ञानोंका प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव समानविषयकत्वेन किंवा अधिक विषयकत्वेन होताहै; परन्तु प्रतिबध्य ज्ञानसे न्यून विषयावगाहिज्ञान कदापि प्रतिबन्धक नहीं होय सकता; इसीलिये यावत् शिखरमें होनेवाली अनुमितिके प्रति एक शिखरनिष्ठ सिद्धि ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं है.

इदं तु बोध्यम् । यत्र अयं पुरुषो न वेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञानं तत्रासत्यामनुमित्सायां पुरुषत्वस्य प्रत्यक्षं भवति, न त्वनुमितिः । अतोऽनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत् स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका ।

भाषा-(इदं तु बोध्यम्) इतना यहां औरभी विशेष जानने योग्य है कि-जिस स्थलमें दोषवशसे पुरुषविषे " अयं पुरुषो न वा " इत्याकारक संशय हुआ पश्चात् सम्यक् चक्षुःसंप्रयोग होनेसे "पुरुषत्वव्याप्यकरणादिमानयम्" इत्याकारक परामर्श हुआ ऐसे स्थलमें संशयपक्षताविशिष्ट परामर्शरूप अनुमितिकी सामग्रीभी विद्यमान है और चक्षुःसंप्रयोगरूप प्रत्यक्षकी सामग्रीभी विद्यमान है परन्तु ऐसे स्थलमें यदि अनुमिति सामग्रीकी अनुमित्सा सहकारिणी न होवे तो पुरुषविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानही होता है;अनुमिति नहीं होती. इसलिये अनुमित्साविरहविशिष्ट अनुमितिसामग्रीके प्रति(समानविषयक) तुल्यविषयणी अर्थात् यद्विषयक अनुमितिसामग्री है तद्विषयक प्रत्यक्षसामग्री (कामिनी) सुंदरस्त्रीकी जिज्ञासाकी तरह स्वाभाविक प्रतिबन्धक है अर्थात् जैसे आसक्त वियोगी पुरुषको सुंदरस्त्रीके मिलापकी इच्छा कार्यमात्रमें प्रतिबन्धिका है क्योंकि वियोगिका किसी कार्य्यमें मन नहीं लगता;

वैसेही अनुमित्साविरहविशिष्ट प्रत्यक्षज्ञानकी सामग्रीभी समानविषयक अनुमिति सामग्रीके प्रति स्वाभाविक प्रतिबन्धक जाननी चाहिये.

एवं परामर्शानन्तरं विनापि प्रत्यक्षेच्छां पक्षादिप्रत्यक्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री भिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिकेति ॥ ७० ॥

भाषा–एवम् " वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः " इत्यादि परामर्शानन्तरं यदि " पक्षादिविषयकं प्रत्यक्षं मे जायताम् " इत्याकारक प्रत्यक्ष इच्छा उत्तेजक न होय तो पक्षादि विषयक प्रत्यक्ष नहीं होता किंतु " पर्वतो वह्निमान् " इत्याकारक समुदित अनुमितिज्ञानही होता है इसलिये अनुमितिके विषयसे भिन्नविषयक प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नके प्रति प्रत्यक्ष इच्छाविरहविशिष्ट अनुमिति सामग्री भी प्रतिबन्धक माननी उचित है–इति ॥ ७० ॥

प्रसङ्गसङ्गत्या हेत्वाभासान् विभजते, अनैकान्त इत्यादि-

भाषा–वादिविजयरूप एककार्यकारित्वरूप प्रसंगसंगतिसे मूलकार "अनैकान्तः" इत्यादिग्रंथसे हेत्वाभासोंका विभाग करते हैं–

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ॥
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा ॥ ७१ ॥

भाषा–अनैकान्त, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष; कालात्ययापदिष्ट यह पांच हेत्वाभास बोलेजाते हैं ॥ ७१ ॥

तल्लक्षणं तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वम् ।

भाषा–हेत्वाभासका लक्षण तो 'यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वम्' इतना मात्र है असद्हेतु मात्र इस लक्षणका लक्ष है; (यद्विषयकत्वेन) व्यभिचारादिविषयकत्वेन (ज्ञानस्य) 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् इत्यादौ अयं हेतुर्व्यभिचारी' इत्यादि ज्ञानस्य "पर्वतो वह्निमान्" इत्यादि अनुमिति विरोधित्व है वही हेत्वाभासमें हेत्वाभासत्व है अर्थात् ' जिन 'प्रमेयत्वादि' हेतुओंमें व्यभिचारादि दोषोंका निश्चय होजाता है उनसे "पर्वतो वह्निमान्" इत्यादि अनुमिति ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होती. एवं "ह्रदो वह्निमान् धूमात्" इत्यादि बाधित स्थलमें वह्न्यभाव प्रयुक्त ह्रदादि विषयकत्वेन " ह्रदो वह्न्यभाववान् " त्याकारक ज्ञानको " ह्रदो वह्निमान् " इत्यादि अनुमिति प्रतिबन्धकत्व है; वही उसमें बाधितत्वरूप हेत्वाभासत्व है.

तथाहि । व्यभिचारादिविषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात्ते दोषाः। यद्विषयकत्वं च यादृशविशिष्टविषयकत्वं बोध्यम् । तेन बाधभ्रमस्यानुमितिविरोधित्वेऽपि न क्षतिः तत्र पर्वतो वह्न्यभाववानिति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वान्न हेतुदोषः ।

भाषा–'तथाहि' इस ग्रन्थसे लक्षणको स्वयं स्फुट करते हैं कि–व्यभिचारादि दोष विषयकत्वेन "अयं हेतुः व्यभिचारी" इत्यादि ज्ञानको व्यभिचारहेतुक यावत् अनुमिति विरोधिता है इसलिये व्यभिचारादि दोष हैं. लक्षणघटित 'यद्विषयक' पदका"यादृश विशिष्टविषयक"विवरण जानना चाहिये.एवम्"पर्वतो वह्निमान्"इत्यादि सत्स्थलमें अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि यद्यपि वह्न्यभावप्रयुक्त पर्वतविषयकत्वेन पर्वतो वह्न्यभाववान्" इत्याकारक ज्ञानको " पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक सद्अनुमितिके प्रतिविरोधिता होसकती है इसलिये अतिव्याप्ति होनी चाहिये तथापि 'यादृशविशिष्ट' शब्दसे प्रकृतमें वह्न्यभावविशिष्ट पर्वतका ग्रहणहै सो वह संसारमात्रमें अप्रसिद्ध है इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है भाव यह कि–पक्षमें वास्तवसे साध्याभाव होय तो बाध होता है और यदि वास्तवसे साध्याभाव पक्षमें न रहे किन्तु पक्षमें साध्याभावका भ्रम हो जावे तो उससे प्रकृत हेतु दुष्ट नहीं होय सकता है.

न च वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वत इति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्याभासत्वं न स्यात्, तत्र वह्न्यभावव्याप्यवान् पक्ष इति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वादिति वाच्यम् । इष्टापत्तेः ।

शंका–जिस कालमें जिस स्थलमें सिद्धान्तीको "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्याकारक हेतुसे "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श हुआहै. उसकालमें उसी स्थलमें वादीको "पर्वतो वह्न्यभाववान् पाषाणमयत्वात्" इत्याकारक हेतुसे "वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श होता है. यहां द्वितीय परामर्शसे प्रथम परामर्श कुक्षिप्रविष्ट धूमरूप हेतु सत्प्रतिपक्षत्वेन हेत्वाभास गिना जाता है, अब आपके 'यादृशविशिष्टविषयक' कथनानुसार उसमें हेत्वाभासत्वव्यवहार करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसमें आभासत्वका सम्पादक जो "वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक विरोधी परामर्श है इसमें वह्न्यभावविशिष्ट पर्वतअंश अप्रसिद्ध है; अर्थात् पाषाणमयत्वरूप हेतुमें वह्न्यभावनिरूपित व्याप्यता नहीं है. इसालिये पाषाणमयत्व हेतुसे धूमरूप

हेतुका आभास होना युक्तियुक्त नहीं है. समाधान–हमको यह वार्ता इष्ट है. हमभी धूमादि सद्हेतुओंमें विरोधि हेतुके होनेसेभी दुष्टव्यवहार नहीं कर सकते.

अन्यथा बाधस्याप्यनित्यादोषत्वापत्तिः । तस्मात्तत्र वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् इति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधमस्य नाभासत्वं भ्रमादनुमितिप्रतिबन्धमात्रं, हेतुस्तु न दुष्ट इति ।

भाषा–अन्यथा यदि प्रतिबन्धकीभूत भ्रमविषयकोभी दोषत्वेन ग्रहण किया जाय तो बाधभी अनित्य दोषही होय जावेगा. भाव यह कि–पक्षमें साध्याभावका भ्रम होनेसे सद्हेतु वास्तवमें दुष्ट नहीं होय सकता; परन्तु यदि पूर्वोक्त रीतिसेभी हेतुमें सत्प्रातिपक्षता स्वीकार हो तो पक्षमें साध्याभावका भ्रम होनेसे भी सद्हेतुमें बाधदोषसे दुष्ट व्यवहार कर लेना चाहिये;परन्तु यह वार्ता किसी विद्वानको समंत नहीं है. इसलिये वहांभी यही मानना उचित है कि–"वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्शकालमें वह्निव्याप्य धूमरूप हेतुको आभासत्व नहीं है किन्तु भ्रमसे अनुमिति प्रतिरोध मात्र है; परन्तु हेतु दुष्ट नहीं है.

इत्थंच साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं दोषः, तद्वत्ता च हेतौ येन केनापि सम्बन्धेनेति नव्याः ।

भाषा–(इत्थम्) इस रीतिसे जब यादृशविशिष्ट विषयत्वेन ज्ञानको प्रतिबन्धकता है तादृश विशिष्टका दोषत्वेन ग्रहण किया तो वास्तवसे साध्याभाववालेमें वर्तनेवाले हेत्वादिकही दोष हैं, यहां 'आदि' पदसे साध्याभावविशिष्ट पक्षकोभी दोष जानना चाहिये.एतादृश दोषवत्ता हेतुमें व्यभिचारादि स्थलोंमें तो तादात्म्येन है और बाधादि स्थलोंमें " साध्याभाववान् पक्षो हेतुश्च" इत्याकारक एकज्ञानविषयत्वेन है, एवं यथासम्भव जिस किसी सम्बन्धसेभी जानलेनी चाहिये यह नव्य नैयायिक लोगोंका कथन है इनके सिद्धान्तसे " हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः" इस व्युत्पत्तिसे ' हेत्वाभास ' शब्द दुष्ट हेतुपर है.

परे तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तद्वत्त्वं हेत्वाभासत्वम्, सत्प्रतिपक्षे विरोधिव्याप्त्यादिकमेव तथा, तद्वत्त्वं च हेतोर्ज्ञानरूपसम्बन्धेन ।

भाषा–और कईएक विद्वान्लोग सत्प्रतिपक्षादिदोषोंको अनित्य दोष मानते हैं, उनके मतसे 'हेतोराभासा हेत्वाभासाः'इस व्युत्पत्तिसे 'हेत्वाभास' शब्द दोषपर है

एवं दोषवत्ता हेतुमें एकज्ञानविषयत्व सम्बन्धसे सर्वत्र रहती है. एवं ' यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वम्'यह लक्षण उनके मतमें दोषकाहै तादृश दोषवालेमें एक ज्ञानविषयत्वसम्बन्धसे हेत्वाभासत्वव्यवहार होता है. सत्प्रतिपक्षादि स्थलोंमें विरोधिव्याप्त्यादिकोंकाही दोषरूपेण ग्रहण कियाजाताहै; तादृश दोषवत्ता हेतुमें " अयं विरुद्धव्याप्तिविशिष्टो हेतुः" इत्याकारक एकज्ञानविषयत्व सम्बन्धसे जाननी चाहिये.

न चैवं वह्निमान् धूमादित्यादौ पक्षे बाधभ्रमस्य साध्याभावविषयकत्वेनानुमितिविरोधित्वात् ज्ञानरूपसम्बन्धेन तद्वत्त्वस्यापि सत्त्वात् सद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिरिति वाच्यम् । तत्र ज्ञानस्य सम्बन्धत्वाकल्पनात् ।

शंका-इस 'रीतिसे सत्प्रतिपक्षको अनित्य दोष माननेवालेके मतमें बाधभी अनित्य दोष होना चाहिये; क्योंकि "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि सद्हेतुस्थलमें पक्षमें साध्याभावके न होनेसे यद्यपि बाध नहींहै तथापि"पर्वतो वह्न्यभाववान्"इत्याकारक बाधका भ्रम हो सकता है; वह भ्रमज्ञानही साध्याभाव विषयकत्वेन "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमितिका विरोधीभी होसकताहै और "वह्न्यभाववान् पर्वतो धूमश्च" इत्याकारक भ्रमात्मक एक ज्ञान विषयत्वसम्बन्धसे धूमरूप हेतुकोभी दोषवत्ता हो सकती है, एवं धूमादि सद्हेतुओंकेभी बाधित होना चाहिये, समाधान-सत्प्रतिपक्षको अनित्य दोष माननेवाले इसका समाधान यह कहते हैं कि-(तत्र) बाधकालीन धूमादि सद्हेतुओंमें हम एकज्ञानविषयत्वरूप सम्बन्धकी कल्पना नहीं करसकते; क्योंकि सद्हेतुमें " अयं हेतुर्बाधितः " यह व्यवहार नहीं होता ।

अत्र सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारेण तत्कल्पनात् । अत्र च बाधित इति व्यवहाराभावादित्याहुः ।

भाषा और (अत्र) यहां प्रतिपरामर्शकालीन धूमादि सद्हेतुओंमें " अयं हेतुः सत्प्रतिपक्षितः"इत्याकारक व्यवहार होनेसे पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानमें सम्बन्धत्वकी कल्पना हो सकती है, याते सत्प्रतिपक्षको अनित्य दोष माननेमें कुछ दोष नहीं-इत्याहुः ।

अनुमितिविरोधित्वं चानुमितितत्कारणान्यतरविरोधित्वम्, तेन व्यभिचारिणि नाव्याप्तिः दोषज्ञानं च यद्धेतुविषयकं तद्धेतुकानुमितौ प्रतिबन्धकम् ।

भाषा-लक्षणनिष्ठ अनुमितिविरोधित्व इस भागको अनुमिति तत्कारण अन्यतर विरोधित्व अर्थ करना अर्थात् 'यादृशविशिष्टविषयकत्वेन ज्ञानस्य अनुमितितत्कार-

णान्यतरविरोधित्वं तत्त्वम् " ऐसा लक्षणका स्वरूप जानना. ऐसा लक्षण करनेसे अनुमितिकारणीभूत व्याप्तिज्ञानके विरोधि व्यभिचार्यादिहेतुओंका भी ग्रहण हो सकता है; अन्यथा " अयं हेतुर्व्यभिचारी " इत्याकारक ज्ञानको साक्षात् अनुमिति-विरोधित्व न होनेसे व्यभिचार्य्यादि हेतुओंमें हेत्वाभास लक्षणकी अव्याप्ति अवश्य होती; परन्तु ' अनुमिति ' शब्दसे अनुमिति तत्कारण अन्यतर ग्रहण करनेसे अव्याप्ति नहीं है. जिस हेतुविषयक दोषज्ञान होता है वह उसी हेतुसे उत्पन्न होनेवाली अनुमितिका प्रतिरोधक होता है अर्थात् " पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् " इत्यादि स्थलमें प्रमेयत्वरूप हेतुमें व्यभिचाररूप दोषज्ञान हुआ है इसलिये इसी हेतुसे उत्पन्न होनेवाली अनुमितिका प्रतिबंधक हो सकता है यदि इसी स्थलमें धूमरूप हेत्वंतरसे अनुमिति होवे तो वह दोषज्ञान उसका प्रतिबन्धक नहीं है ।

तेनैकहेतौ व्यभिचारग्रहे हेत्वन्तरेणानुमित्युत्पत्तेस्तदभावाद्यन-वगाहित्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति संक्षेपः ।

भाषा—एवं एकहेतुविषयक व्यभिचारज्ञान होय तो हेत्वन्तरसे अनुमिति होनेमें कोई बाधक नहीं है और व्यभिचार ज्ञानको साध्याभावादिकोंका अनवगाहन कर-नेवाला होनेसे अनुमितिका विरोधि न होनेसेभी अव्याप्तिरूप दोषप्रयुक्त हानि नहीं है. भाव यह कि—साध्याभावका अवगाहन करनेसे बाधादिदोष साक्षात् अनुमितिके प्रतिबन्धक हो सकते हैं व्यभिचारादि दोष साक्षात् साध्याभावावगाही नहीं हैं; इसलिये साक्षात् अनुमितिके प्रतिबन्धकभी नहीं हैं किन्तु पूर्वोक्त रीतिसे अनुमि-तिकारण व्याप्तिज्ञानादिके प्रतिबन्धक हैं; इसलिये इनमें परंपरया प्रतिबन्धकता है परंतु पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणमें ' अन्यतरका ' निवेश करनेसे अव्याप्ति नहीं है, यह संक्षेपसे हेत्वाभासमात्रका सामान्य लक्षण दिखलाया है ।

यादृशपक्षसाध्यहेतौ यावन्तो दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वा-भासत्वम् । पञ्चकथनं तु तत्सम्भवस्थलाभिप्रायेण । एवं च साधारण्याद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम् ॥ ७१ ॥

भाषा—इस संसारमात्रमें जितने पक्षसाध्य हेतुओंकी रचना होसकती है तथा उनमें जितने दोष आसकते हैं, उन सबसे भिन्न—भिन्नत्वरूप 'हेत्वाभासत्व' समझना चाहिये अर्थात् हेत्वाभासत्वरूप धर्म असंख्यात हेत्वाभासोंमें रहता है और आचार्य लोगोंका पंचहेत्वाभास कहनेका यह भाव है कि—व्यभिचारादि पांचों दोष

"वायुः गन्धवान् स्नेहात्" इस एकही स्थलमें आसकते हैं. यहां गन्धाभाववद् जलमें वृत्ति होनेसे स्नेहरूप हेतु व्यभिचारी है १। गन्धरूप साध्यवाली पृथ्वीमें नहीं रहता इसलिये स्नेहरूप हेतु विरुद्ध भी है २। स्नेहरूप हेतुके गन्धरूप साध्यके अभावका साधक 'अपृथिवीत्व' रूप विरोधिहेतु विद्यमान है; इसलिये यह हेतु सत्प्रतिपक्षभी है ३। स्नेहरूप हेतु वायुका विशेषण नहीं होसकता तथा वायुरूप पक्षमें नहीं रहता तथा 'पाकजगुणवत्त्व' रूप उपाधिसे सोपाधिक है इसलिये असिद्धभी है ४। स्नेहरूप हेतुके गन्धरूप साध्यका पक्षमें अभाव है इसलिये यह हेतु बाधितभी है ५। इस रीतिके संभवस्थल तात्पर्य्यसे आचार्य्यलोगोंने पांच हेत्वाभास लिखे हैं. ऐसेही साधारणादि तीनसे भिन्न संसारमात्रको छोड़कर साधारणादि तीनहीमें 'अनैकान्तिकत्व' रूप धर्म रहता है ॥ ७१ ॥

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ॥ ७२ ॥

भाषा–प्रथमका नाम साधारण है, द्वितीयका नाम असाधारण है और तृतीयका नाम अनुपसंहारी है. इसरीतिसे अनैकान्तिक तीन प्रकारका है ॥ ७२ ॥

साधारणःसाध्यवदन्यवृत्तिर्हेतुः,तेन चव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धःक्रियते१

भाषा–साध्यवालेसे अन्यमें वर्तनेवाला हेतु साधारण कहाता है. ऐसा हेतु व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक होता है अर्थात् साध्यवदन्यावृत्तित्वरूपा या साध्यसामानाधिकरण्यरूपा व्याप्ति साध्यवालेसे अन्यमें वर्तनेवाले व्यभिचारी हेतुसे नहीं होसकती इस साधारण हेतुके उदाहरणस्थल "पर्वतो वह्निमान्" प्रमेयत्वात् इत्यादि अनेक हैं १।

असाधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः, तेन साध्यसामानाधिकरण्यग्रहः प्रतिबध्यते। तथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादावसाधारण्यं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ त्वसाधारण्यभ्रमः। अन्ये तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः। सपक्षश्च निश्चितसाध्यवान्। इत्थं च शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ पक्षे यदा साध्यनिश्चयस्तदा नासाधारण्यं तत्र हेतुनिश्चयादिति वदन्ति। २।

भाषा–साध्यके साथ एकाधिकरणमें जो कहीं न रहे वह हेतु असाधारण होता है. ऐसा हेतु केवल साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक होता है.

उदाहरणस्थल इसके "शब्दो नित्यः शब्दत्वात्" इत्यादि अनेक होसकते हैं. कई एक मीमांसक लोग "शब्दो नित्यः शब्दत्वात्" इत्यादि स्थलकोभी इसी असाधारणका उदाहरण मानते हैं, परन्तु यह उनका मानना उचित नहीं क्योंकि कार्यत्वरूप हेतुसे जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध होचुका तो अनित्यत्वके समानाधिकरणमें रहनेवाला शब्दत्वरूप हेतु साध्यसमानाधिकरण नहीं होसकता; इसलिये ऐसे स्थलमें असाधारण्यका भ्रम समझना चाहिये. कई एक प्राचीन लोग सपक्षमें न रहनेवाले हेतुको असाधारण कहते हैं, निश्चित साध्यवालेका नाम सपक्ष है. इस रीतिसे "शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्" इत्यादिस्थलमें यदि शब्दरूप पक्षमें अनित्यत्वरूप साध्यका निश्चय है तो शब्दत्वरू हेतु असाधारण नहीं है; क्योंकि; (तत्र) वहां निश्चित साध्यवाले पक्षमें हेतुकाभी निश्चयही है. एवं वह हेतु सपक्षावृत्ति नहीं है किन्तु सपक्षवृत्तिही है. इसलिये असाधारणभी नहीं है २।

अनुपसंहारी चात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः, तेन च व्यतिरेकव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः क्रियते । ३ ।

भाषा—जिस स्थलमें पक्ष साध्य तथा हेतु अत्यन्ताभावके प्रतियोगि न होवें अर्थात् केवलान्वयि होवे उस स्थलमें अनुपसंहारी अनैकान्तिक होता है.ऐसे हेतुका 'साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व' रूप व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानके साथ विरोध है और यही हेतु अन्वयव्याप्तिज्ञानसे अनुमितिका जनकभी है. उदाहरणस्थल इसके " सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात् " इत्यादि अनेक हैं ३ ।

विरुद्धस्तु साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी, अयं च साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकः । सत्प्रतिपक्षे प्रतिहेतुः साध्याभावसाधकोऽत्र तु हेतुरेवेति विशेषः । १ ।

भाषा—साध्यके सामनाधिकरणमें व्यापक होकर रहनेवाले अभावका प्रतियोगी हेतु विरुद्ध होता है.यह हेतु साध्याभावकी ग्राहिका जो सामग्री ताहश सामग्रीरूपसे अनुमितिका प्रतिबन्धक है अर्थात् स्वयं हेतुही साध्याभावके ग्रहण करनेवाली सामग्रीरूप होजाता है. उदाहरणस्थल इसके " शब्दो नित्यः कृतकत्वात्"इत्यादि अनेक होसकते हैं. शंका—ऐसे विरुद्धसाध्याभाव साधक हुआ और सत्प्रतिपक्षभी साध्याभाव साधकही हुआ तो इन दोनोंका आपसमें भेद क्या है ? समा०—सत्प्रतिपक्षस्थलमें दूसरा विरोधी हेतु साध्याभावका साधक होता है और यहां विरुद्धस्थलमें तो वही एकही हेतु अपने साध्यके अभावका साधक होजाता है; इतनाही इन दोनोंका आपसमें भेद है १ ।

साध्याभावसाधक एव हेतुः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इत्यशक्तिविशेषोपस्थापकत्वाच्च विशेषः । २ ।

भाषा-दूसरा, इन दोनोंका परस्पर यह भेद है कि-अपनी अनुमानरचनामें जिस पण्डितने विरुद्धहेतुका प्रयोग किया है वही हेतु उस पण्डितकी अशक्तिका सूचकभी है अर्थात् साध्याभावके सिद्ध करनेवाला हेतु साध्यसिद्धिके लिये सभामें जो पण्डित बोले उसकी अनभिज्ञताको दूसरे विज्ञलोग उसीवक्त जान लेते हैं परन्तु सत्प्रतिपक्ष स्थलमें यह बात नहीं है इससे दोनोंका परस्पर भेद है २ ।

सत्प्रतिपक्षः साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः । अगृहीताप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वेनोपस्थितिकालीनागृहीताप्रामाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्त्वेनोपस्थितिविषयस्तथेत्यन्ये । अत्र च परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञानात् परस्परानुमितिप्रतिबन्धः फलम् ।

भाषा-"साध्याभावस्य व्याप्यः साध्याभावव्याप्यः स यस्मिन् वर्तते स साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः" अर्थात् साध्याभावके साथ व्याप्तिविशिष्ट जो हेतु तादृश हेतुमान् पक्षमें सत्प्रतिपक्ष व्यवहार हो सकताहै. उदाहरणस्थल इसके "ह्रदो वह्निमान् धूमात्, ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्" इत्यादि अनेक होसकते हैं यहां दोनों हेतुओंको परस्पर विरोधि होनेसे दोनोंहीमें सत्प्रतिपक्षव्यवहार होता है इसी सत्प्रतिपक्षका लक्षण कईएक ऐसा कहते हैं कि-साध्यव्याप्यवेन उपस्थितिकालमें जिस हेतुमें अप्रमाणता गृहीत नहीं हुई उसी कालमें उसी स्थलमें उसी हेतुमें यदि साध्याभावव्याप्यत्वेन उपस्थितिभी किसीतरहसे अप्रमाणिका न होवे तो वह हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है; परन्तु यह वार्ता किसीभी हेतुमें प्रतिहेतु विना दुर्घट है इसलिये सत्प्रतिपक्षस्थलमें परस्पर साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानसे उभय हेतुसे परस्पर अनुमितिका प्रतिबन्ध होनाही फल समझना चाहिये.

अत्र केचित् । यथा घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञाने विद्यमानेऽपि घटचक्षुःसंयोगे सति घटवत्ताज्ञानं जायते ।

भाषा-रत्नकोशकार नैयायिक सत्प्रतिपक्षको अनुमितिका प्रतिबन्धक नहीं मानता, किन्तु सन्देहउत्पादनद्वारा इसमें दूषकता मानता है. इसको स्वसिद्धान्तसे विरुद्ध जानकर खण्डनार्थ 'अत्र केचित्' इत्यादि ग्रन्थका ग्रन्थकार उपन्यास करते हैं-रत्नकोशकार यह कहता है कि-ज्ञानोंका परस्पर प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव अनुभवानुरोधसे जैसा जहां हो वैसा ही मानना उचित है; जैसे यदि कहीं शिर

विनाशि दोषवशसे घटवाली जगहमें घटाभावव्याप्यवत्ता ज्ञान होनेसे भी पश्चात् सम्यक् चक्षुःसम्बन्धसे वहां ही घटवत्ताका ज्ञान होता है. यह अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसं स्थलमें दोषसे चक्षुःसंप्रयोगरूप गुण प्रबल होता है.

यथा च शंखे सत्यपि पीतत्वाभावव्याप्यशंखत्ववत्ताज्ञाने पित्तादिदोषेण पीतः शंख इति धीर्जायते । एवं कोटिद्वयव्याप्यवत्तादर्शनेपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति तथा सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव ।

भाषा—एवं जैसे अदूषितनेत्र पुरुषको शंखमें पीतत्वाभावव्याप्य शंखत्ववत्ता ज्ञान होनेसे भी पश्चात् पित्तादि दोषवशसे "पीतः शंखः" इत्याकारक बुद्धि हों जाती है, यह भी अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसे स्थलमें गुणसे दोषकी प्रबलता है. एवं जैसे मन्द अन्धकारमें पुरुषको स्थाणुमें या पुरुषमें "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इत्याकारक कोटिद्वयावगाहि यदि प्रत्यय हो तो ऐसे स्थलमें 'स्थाणुत्वव्याप्यवक्रकोटरादिमत्त्व' तथा 'पुरुषत्वव्याप्यकरचरणादिमत्त्व' रूप कोटिद्वय व्याप्यवत्ता दर्शनसेभी कोटिद्वयका प्रत्यक्षात्मक संशयही होता है. यह अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसें स्थलमें गुण या दोष कोई निर्बल सबल नहीं है. किन्तु दोनों समबल हैं, वैसेही सत्प्रतिपक्षस्थलमें भी दोनों हेतुओंको समबल होनेसे संशयात्मिक अनुमिति हो सकती है.

यत्र चैककोटिव्याप्यदर्शनं तत्राधिकबलतया द्वितीयकोटिभानप्रतिबन्धान्न संशयः । फलबलेन चाधिकसमबलभावः कल्प्यत इति वदन्ति । तन्न । तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानविशेषशाब्दबोधादेरनुदयाल्लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे तस्य प्रतिबन्धकता लाघवात् ।

भाषा—और जहां एककोटिव्याप्यवत्ता ज्ञान निःसंदेह हो चुका है वहां वह कोटि अधिक बलवाली होनेसे द्वितीय कोटिका प्रतिबन्धक अवश्य होगी; इसलिये ऐसे स्थलमें संशय नहीं हो सकता. कोटियोंके अधिक समबलभावकी कल्पना फलानुरोधसे हरएक स्थलमें हो सकती है; (तन्न) यह कथन रत्नकोशकारका युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ज्ञानोंका परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव जहांतक हो सके लाघवानुरोधसे मानना उचित है और यह वार्ता विद्वान् लोगोंके अनुभवसिद्ध है कि जिस स्थलमें साध्याभावव्याप्यवत्ताका ज्ञान साक्षात्कारात्मक हुआ है उसी स्थलमें उसी

साध्यविषयक (उपनीत) अलौकिक संन्निकर्ष विशेषद्वारा भान अथवा अनुमिति उपमिति या शाब्दबोध कुछभी नहीं होता और प्रतिवध्य कोटिक ज्ञानोंका भिन्न भिन्न नामनिर्देश करनेसे नियमका शरीरभी गुरुभूत होता है इसलिये कोई लघुभूत नियम करना चाहिये. वह यही हो सकता है कि "साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानत्वावच्छिन्ने प्रतिबन्धकत्वम्" अर्थात् साक्षात्कारात्मक साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानको लौकिकसन्निकर्षनिष्ठ जनकतानिरूपित जन्यताशून्य ज्ञानमात्रके प्रति तथा दोषविशेषनिष्ठ जनकतानिरूपित जन्यताशून्य ज्ञानमात्रके प्रति प्रतिबन्धकता है. भाव यह कि--शाब्दबोधादिज्ञान लौकिकसन्निकर्षजन्य नहीं किन्तु पदज्ञानादि जन्य है; एवं 'पीतः शंखः' यह ज्ञान दोष विशेषाजन्य नहीं किन्तु पित्तादि दोषविशेषसेही जन्य है. एवं साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानको शाब्दबोधादिज्ञानोंके प्रति प्रतिबन्धकता और 'पीतः शंखः' इत्यादिज्ञानोंके प्रति अप्रतिबन्धकता अतिलघुभूत नियमसे सिद्ध हुई.

न तूपनीतभानविशेषे शाब्दबोधे च पृथक्प्रतिबन्धकता गौरवात्, तथा च प्रतिबन्धकसत्त्वात् कथमनुमितिः। न हि लौकिकसन्निकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयानुमितिः प्रामाणिकी, येनानुमितिभिन्नत्वेनापि विशेषणीयम्।

भाषा-इसलिये साध्याभावव्याप्यवत्ता ज्ञानकी उपनीत भानविशेषमें और शाब्दबोधादिमें जुदी जुदी प्रतिबन्धकता माननी उचित नहीं क्योंकि गौरव होता है. इस रीतिसे सत्प्रतिपक्षस्थलमें भी साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानरूप प्रतिबन्धकके विद्यमान होनेसे अनुमिति कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती. क्योंकि साध्याभाव व्याप्यवत्ताज्ञाननिष्ठ प्रतिबन्धकता निरूपित प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि प्रविष्टत्व अनुमिति ज्ञानको भी स्वतःसिद्ध है और रत्नकोशकारके अभिप्रायसे हम प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव नियमके शरीरमें (अनुमितिभिन्नत्वेन) प्रतिबध्यताका निवेश भी नहीं करसकते; क्योंकि लौकिक सन्निकर्षस्थलमें प्रत्यक्षकी तरह सत्प्रतिपक्षस्थलें संशयात्मिका अनुमिति प्रामाणिकलोगोंने प्रामाणिकी नहीं मानी अर्थात् प्रामाणिकलोग लौकिक सन्निकर्षस्थलमें प्रत्यक्षमें प्रमाणता मानते हैं और सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयानुमिति अप्रामाणिकी मानते हैं.

यत्र कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं तत्रोभयत्राप्रामाण्यज्ञानात्संशयो नान्यथा, अगृहीताप्रामाण्यकस्यैव विरोधिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति। ३।

भाषा—और रत्नकोशकारने जो " स्थाणुर्वा पुरुषो वा " इत्याकारक प्रत्यक्ष संशयका उदाहरण देकर सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयात्मक अनुमितिका स्थापन किया है वहभी ठीक नहीं, क्योंकि संशय नियमसे वहांही हुआ करताहै. जहां उभयकोटिव्याप्यवत्ता ज्ञानमें अप्रमाणता गृहीत हो प्रकारान्तरसे कभी नहीं होता और इतर ज्ञाननिष्ठ प्रतिवध्यतानिरूपित प्रतिबन्धकता उसी ज्ञानमें रहती है, जिसमें किसी तरहसे अप्रमाणता गृहीत न हुई हो; इसलिये संशयस्थलमेंभी यही समझना चाहिये कि, जबतक उभय कोटिक निश्चयमें किसी एक निश्चयमें प्रामाण्य ग्रहण नहीं हुआ तबतक संशयज्ञानका कोई अंश निर्बल या सबल होकर अपनेमें प्रत्यक्षरूपताका भाव नहीं दिखला सकता और संशयज्ञानमें प्रमाणताभी किसीने नहीं मानी. संशयस्थलमें जब एक कोटिमें प्रमाणताका निश्चय होगा तब संशय आपही नहीं रहेगा इसलिये इसके निदर्शनसे सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयात्मिक अनुमिति माननीभी केवल मनोरथमात्र है ३ ।

आश्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वमसिद्धित्वम् । आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः । यत्र च काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति साध्यते तत्र पर्वतो न काञ्चनमय इति ज्ञाने विद्यमाने काञ्चनमयपर्वते परामर्शप्रतिबन्धः फलम् । १ ।

भाषा—आश्रयासिद्ध्यादि भेदाभाववाले हेतुसमुदायका नाम आश्रयासिद्ध है अर्थात् ' आश्रयासिद्ध्यादि ' पदसे स्वरूपसिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध साध्यासिद्ध आदि सबका ग्रहण है. इनका भेद इन सबको त्यागकर संसारमात्रमें है. उस भेदका अभाव इन सबमें है; एवं लक्षण संगत हुआ. जिस हेतुके पक्षमें पक्षतावच्छेदक धर्म न रहे वह हेतु आश्रयासिद्ध कहाता है. उदाहरणस्थल इसके ' काञ्चनमयपर्वतो वह्निमान् धूमात् " इत्यादि अनेक हैं. "पर्वत काञ्चनमय नहीं है " इत्याकारक ज्ञानके विद्यमान होनेसे काञ्चनमय पर्वतमें "वह्निव्याप्यधूमवान् काञ्चनमयः पर्वतः" इत्याकारक परामर्शका प्रतिबन्ध होना अर्थात् परामर्शको उत्पन्न न होना यही इसका फल है १ ।

स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः । अत्र च ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्यहेतुमत्त्वज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम् । २ ।

भाषा—व्याप्यत्वेन अर्थात् हेतुत्वेनाभिमत हेतु यदि पक्षमें न रहे तो वह स्वरूपासिद्ध कहा जाता है; उदाहरणस्थल इसके " ह्रदो द्रव्यं धूमात् " इत्यादि अनेक

हैं, यहां भी ह्रदादि पक्षमें व्याप्यत्वेनाभिमत धूमरूप हेतुके अभावका ज्ञान होनेसे "द्रव्यव्याप्यधूमवान् ह्रदः" इत्याकारक ज्ञानरूप परामर्शका प्रतिबन्ध होनाही फल है २।

साध्याप्रसिद्धिरपि व्याप्यत्वासिद्धिः। सा च साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावः। तथा च काञ्चनमयवह्निमानित्यादौ साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावे ज्ञाते साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम्।

भाषा–साध्याप्रसिद्धिकी गणना भी व्याप्यत्वासिद्धिकेही अन्तर्भूत है जिस स्थलमें साध्यमें साध्यतावच्छेदक धर्मकी सम्भावना न हो वहां साध्याप्रसिद्धि होती है; उदाहरणस्थल इसके "पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् धूमात्" इत्यादि अनेक होसकते हैं यहांभी 'काञ्चनमय वह्नित्व' रूप साध्यतावच्छेदक धर्मके अभावका ज्ञान होनेसे "काञ्चनमयवह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानरूप परामर्शका प्रतिबन्ध होनाहीं फल है.

एवं हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावः साधनाप्रसिद्धिः। यथा च काञ्चनमयधूमादित्यादौ। अत्र हेतुतावच्छेदकाविशिष्टहेतोर्ज्ञानाभावात्तद्धेतुकव्याप्तिज्ञानादेरभावः फलम्। एवं वह्निमान् नीलधूमादित्यादौ गुरुतया नीलधूमत्वं हेतुतानवच्छेदकमिति व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति। ३। ४।

भाषा–ऐसेही जिस स्थलमें हेतुमें हेतुतावच्छेदक धर्मका सम्भव न हो वहां साधनाप्रसिद्धि होतीहै; उदाहरणस्थल इसके "पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमात्" इत्यादि अनेक होसकते हैं, ऐसे स्थलमें काञ्चनमयधूमत्वरूप हेतुतावच्छेदकविशिष्ट 'काञ्चनमयधूम' रूप हेतुके ज्ञानको न होनेसे उस हेतुसे उत्पन्न होनेवाले व्याप्तिज्ञानकी अनुत्पत्तिही फल है, ऐसेही गुरुधर्ममें अवच्छेदकताके न माननेवाले कई एक विद्वान् लोग "पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इत्यादि स्थलकोभी व्याप्यत्वासिद्धिका उदाहरण मानते हैं ऐसे स्थलमें 'नीलधूमत्व' रूप धर्म समनियत लघुभूत धूमत्वरूप धर्मसे गुरुभूत होनेसे हेतुतावच्छेदक धर्म नहीं होसकता इसीसे तद्विशिष्ट व्याप्ति ज्ञानभी नहीं होसकता. यही उनके कथनका भाव है; परन्तु यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं है ३। ४।

बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः । एतस्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम् । तद्धर्मकतदभावनिश्चयो लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे विरोधीति ।

भाषा–जिस स्थलमें पक्षमें साध्य न रहे वहां बाधदोष होता है. वही 'एकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन' हेतुके सिरपर जाता है तो हेतुमें बाधित व्यवहार होता है. उदाहरणस्थल इसके "वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्" इत्यादि अनेक होसकते हैं. साक्षात् अनुमितिके प्रतिरोधक होना इस बाधरूप दोषका फल है. तद्धर्म्मिक तदभावनिश्चय अर्थात् अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानाऽनास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावनिश्चय लौकिकसन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्मिक तज्ज्ञानमात्रके प्रति विरोधी होता है.इस नियममें प्रथम 'तत्' पदसे प्रकृतोपयोगि धर्मका ग्रहण है; द्वितीय 'तत्' पदसे धर्मीका ग्रहण है और बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञानका नाम आहार्यज्ञान है. 'शालग्रामशिलामें ईश्वरबुद्धि करनी, प्रतिमामें देवबुद्धि करनी' इत्यादि इस ज्ञानके उदाहरणस्थल हैं. इस प्रकारका आहार्य्य जो न हो वह कहावे अनाहार्य्य; एवं संशयादि ज्ञानोंका नाम 'अप्रमाण ज्ञान'है 'स्कन्दित' नाम संमिश्रितका है. अप्रामाण्यज्ञानसे स्कन्दित अर्थात् मिश्रित जो नहीं है उसका नाम 'अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित है' ऐसे अनाहार्याप्रामाण्यज्ञाननास्कान्दित तद्धर्मिक तदभावनिश्चयको लौकिक सन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्मिक तज्ज्ञानमात्रके प्रति प्रतिबन्धकता है, प्रत्यक्षभिन्न ज्ञानमात्र लौकिकसन्निकर्षाजन्य है उन लौकिक सन्निकर्षाजन्यज्ञानोंमेंसे एक दोषविशेषसे जन्य 'पीतः शंखः' इत्यादि ज्ञानको छोडकर यावत् ज्ञानके प्रति तद्धर्मिक तदभावनिश्चयको विरोधिता है. एवं प्रकृतमें वह्न्यात्मक पक्षमें अनुष्णत्वधर्मिक अनुष्णाभाववत्ता निश्चयको अर्थात् 'वह्निरुष्णः' इत्यादि स्पार्शनिक साक्षात्कारकोभी अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कान्दित तद्धर्मिक तदभावनिश्चयरूप होनेसे 'वह्निरनुष्णः' इत्यादिक अनुमितिके प्रति प्रतिबन्धकता होसकती है; क्योंकि अनुमित्यात्मक ज्ञानभी लौकिकसन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्मिक तज्ज्ञानरूप प्रतिबध्य कोटिके अंतर्भूतही है–इति.

न तु तत्र संशयसाधारणं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमितिकारणं तद्विरोधितया च बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्वमिति युक्तम् । अप्रसिद्धसाध्यकानुमित्यनापत्तेः, साध्यसंशयादिकं विनाऽप्यनुमित्युत्पत्तेश्च ।

भाषा–किसीएक विद्वान्‌का यह मत है कि–पक्षमें संशय साधारण साध्यसम्बन्धका ज्ञान अनुमितिका कारण है और अनुमिति करणीभूत साध्यसंसृष्टत्व ज्ञानके

विरोध होनेसे बाधसत्प्रतिपक्षको हेत्वाभासता है, परन्तु यह कथन उसका युक्तियुक्त नहीं है. क्योंकि यदि ऐसा हो तो "पृथिव्यामितरभेदः" इत्याकारक अप्रसिद्ध साध्यक अनुमिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिये भाव यह कि-ऐसे स्थलमें अनुमितिसे पहिले पक्षमें साध्यसंसृष्टत्वका ज्ञान किसी तरहसेभी नहीं है और घनगर्जनादि स्थलोंमेंसे साध्यसंशय आदिसे विनाही अनुमितिज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है इसलिये पक्षमें संशयसाधारणसाध्यसंसृष्टत्वज्ञानको अनुमितिके प्रति कारण मानना उचित नहीं.

एवं साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानमपि न प्रतिबन्धकम्, प्रमाणाभावात्, गौरवाच्च ।

भाषा-एवं प्राचीन लोग साध्याभावज्ञानमें प्रमात्वबुद्धिको प्रतिबन्धक मानते हैं अर्थात् "ह्रदो वह्निमान्" इत्यादि अनुमितिज्ञानके प्रति "ह्रदो वह्न्यभाववान्" इत्यादिज्ञानमें इदं ज्ञानं प्रमा इत्याकारक ज्ञानको प्रतिबन्धकता मानते हैं परन्तु ऐसा मानना उनका प्रमाणशून्य होनेसे समीचीन नहीं है. भाव यह है कि-ज्ञाननिष्ठा प्रतिबन्धकता ग्राह्याभावमुद्रिया होती है और "इदं ज्ञानं प्रमा" इत्याकारक ज्ञान तो ग्राह्याभावानवगाहि है क्योंकि प्रकृतमें ग्राह्य वह्निरूप साध्य है; ग्राह्याभाव वह्न्यभाव है; उसके अवगाहन करनेवाला ज्ञान "ह्रदो वह्न्यभाववान्" इत्याकारकही होसकता है इसलिये यही प्रतिबन्धक है. किन्तु "इदं ज्ञानं प्रमा" इत्याकारक नहीं और पक्षविशेष्यक साध्याभाव ज्ञानमें प्रमात्वनिश्चयत्वेन गुरुभूत प्रतिबन्धकता कल्पना करनेकी अपेक्षया संशय निश्चय साधारणअप्रामाण्यज्ञानाभावत्वेन प्रतिबन्धकता माननीही लाघव है.

अन्यथा सत्प्रतिपक्षादावपि तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वविषयकत्वेन प्रतिबन्धकतापत्तेः । किंतु भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दितबाधादिबुद्धेः प्रतिबन्धकता, तत्र भ्रमत्वशङ्काविघटनेन प्रामाण्यज्ञानं क्वचिदुपयुज्यते ।

भाषा-(अन्यथा यदि साध्याभावज्ञानमें प्रमात्वज्ञानही प्रतिबन्धक माने तो सत्प्रतिपक्षादि स्थलोंमेंभी अनुमितिज्ञानके प्रति साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानमें प्रमात्व विषयकत्वेन प्रतिबन्धकता होनी चाहिये; परन्तु यह वार्ता किसी विद्वान्के स्वीकृत नहीं है, किन्तु भ्रमत्वशून्य बाधज्ञानको प्रतिबन्धकता विद्वान्लोगोंके अभिमत है. एवं (तत्र) बाधादि स्थलमें भ्रमत्वशंकानिवारणके लिये किसी एक स्थलमें प्रामाण्यज्ञानकाभी उपयोग होता है; अन्यथा नहीं.

नच बाधस्थले पक्षे हेतुसत्त्वे व्यभिचारः, पक्षे हेत्वभावे तु स्वरूपासिद्धिरेव दोष इति वाच्यम्।बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात् । किंच यत्र परामर्शानन्तरं बाधबुद्धिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेरकिञ्चित्करत्वाद्बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ।

शंका–जिस स्थलमें आप बाधरूप दोषको मानते हैं वहां हम यह पूछते हैं कि उस स्थलमें पक्षमें हेतु रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो साध्याभाववद्वृत्ति होनेसे साधारणानैकान्तिक हुआ और यदि नहीं रहता तो पक्षे हेत्वभाव होनेसे स्वरूपासिद्ध हुआ; एवं बाधदोषप्रयुक्त बाधित हेतुको पञ्चम हेत्वाभास मानना अयुक्त है. समाधान–व्यभिचारादि ज्ञानोंसे बाधज्ञानका भेद है अर्थात् प्रतीतिभेदसे भिन्न २ व्यवहार होता है. (किञ्च) जब कहीं व्याप्तिज्ञानपक्षधर्मितापरामर्श ज्ञानके पीछे पोल खुलनेसे बाधबुद्धि होवे तो वहां व्यभिचारज्ञान या स्वरूपासिद्धि ज्ञान कुछ नहीं करसकता; क्योंकि यह ज्ञान तो परामर्शद्वारा अनुमितिके प्रतिबन्धक है, स्वतंत्र नहीं; सो परामर्श तो हो ही चुका है. इनमें प्रतिबन्धकताकी योग्यताही नहीं, ऐसे स्थलमें बाधज्ञानही प्रतिबन्धक मानना होगा और व्यभिचारादि दोषोंसे असंकीर्णभी बाधस्थल हो सकता है.

एवं यत्रोत्पत्तिक्षणावच्छिन्ने घटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ।

भाषा–जैसे "उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्" इस स्थलमें उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नघटात्मक पक्षमें पृथ्वीत्वरूपहेतुके विद्यमान होनेसे पक्षे हेत्वभाव रूप स्वरूपासिद्ध दोषभी नहीं है और प्रतियोगिव्यधिकरणसाध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचार दोषभी नहीं है. एवं ऐसे स्थलमें गन्धव्याप्य पृथ्वीत्ववत्ताज्ञानका केवल "उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धाभाववान् " इत्याकारक बाधज्ञानही प्रतिबन्धक हो सकता है.

नच पक्षे घटे गन्धसत्त्वात् कथं बाध इति वाच्यम् । पक्षतावच्छेदकदेशकालावच्छेदेनानुमितेरनुभवसिद्धत्वादिति ।

शंका–घटात्मक पक्षमें गन्ध तो रहता ही है, फिर बाधज्ञान कैसा ? समाधान–पक्षतावच्छेदक देशकालावच्छेदेन अनुमितिका होना विद्वानोंके अनुभवसिद्ध है अर्थात् देशकाल भी पक्षताके अवच्छेदक होते हैं. एवं घटरूप पक्षका उत्पत्तिक्षणात्मक कालभी अवच्छेदक है उस घटरूप पक्षमें गन्ध यद्यपि सर्वदा विद्यमान है तथापि कार्यकारणानुरोधसे उत्पत्तिक्षणमें गन्धाभाव भी अवश्यही है इस रीतिसे यह असंकीर्ण बाधस्थल है.

बाधसत्प्रतिपक्षभिन्ना ये हेत्वाभासव्याप्यास्ते तन्मध्य एवान्तर्भवन्ति, अन्यथा हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गात् । बाधव्याप्यसत्प्रतिपक्षस्तु भिन्न एव, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुपादानात् । सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धक इति प्रघट्टकार्थः ॥७२॥

भाषा—बाधसत्प्रतिपक्षसे भिन्न सव्यभिचारादि हेत्वाभासोंके व्याप्य साधारणानैकान्तिकादि हेत्वाभासभी उनहींके मध्यपाती गिने जाते हैं अर्थात् सव्यभिचारको साधारणादिभेदसे दूषकता तीन प्रकारसे है परन्तु सव्यभिचार दोष एकही है ऐसेही असिद्धकोभी जानना उचित है. यदि ऐसा नहीं माने तो हेत्वाभासोंकी गणना अधिक होजायगी और बाधदोषका व्याप्यरूप सत्प्रतिपक्ष दोष तो भिन्नही मानना उचित है; क्योंकि स्वतंत्र इच्छावाले गौतममुनिने इसको पृथक्ही ग्रहण किया है, एवं सत्प्रपक्षके व्याप्य दोषोंकोभी पृथक् प्रतिबन्धकता नहीं है किन्तु प्रबल होनेसे ऐसे स्थलमें सत्प्रतिपक्षदोषही प्रतिबन्धक होता है यह संक्षेपसे समुदायार्थका निरूपण है. ७२

यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः ॥

भाषा—जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनोंमें रहे वह साधारण कहा जाता है.

यः सपक्ष इति । सपक्षविपक्षवृत्तिः साधारण इत्यर्थः। सपक्षो निश्चितसाध्यवान्, विपक्षः साध्याभाववान् । विरुद्धवारणाय सपक्षवृत्तित्वमुक्तम् । वस्तुतो विपक्षवृत्तित्वमेव वाच्यम् । विरुद्धस्य साधारणत्वेऽपि दूषकताबीजस्य भिन्नतया तस्य पार्थक्यात् ।

भाषा—जो हेतु निश्चित साध्यवाले तथा निश्चित साध्याभाववालेमें रहे वह साधारण होता है; निश्चित साध्यवाले स्थलका नाम 'सपक्ष' है निश्चित साध्याभाववाले स्थलका नाम 'विपक्ष' है केवल विपक्षमात्रमें वर्तनेवाला हेतु विरुद्ध होता है; एवं साधारणके लक्षणमें यदि 'सपक्षवृत्तित्व' रूप विशेषण न दिया जाय किन्तु केवल 'विपक्षवृत्तिरसाधारणः' ऐसा कहा जाय तो विरुद्धमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी; उसके वारणार्थ 'सपक्षवृत्ति' यह विशेषण सफल है. वास्तवसे यदि 'विपक्षवृतित्व' इतनामात्रभी साधारणका लक्षण किया जाय तो दोष नहीं, एवं लक्षणसे यद्यपि विरुद्धको साधारणता प्रतीत होगी तथापि दूषकता बीजके भेदसे भेदही रहेगा भाव यह कि—साधारण तो अव्यभिचारज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक है और विरुद्धसामानाधिकरण्य ग्रहका है; इसलिये दोनों परस्पर भिन्न हैं.

यस्तूभयस्माद्व्यावृत्तः स त्वसाधारणो मतः ॥७३॥

भाषा–जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनोंमें नहीं रहता किंतु केवल पक्षमात्रवृत्ति है वह असाधारण कहा जाता है ॥ ७३ ॥

यस्तूभयस्मादिति । सपक्षविपक्षव्यावृत्त इत्यर्थः । सपक्षः साध्यवत्तया निश्चितः, विपक्षः साध्यशून्यतया निश्चितः । शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा शब्देऽनित्यत्वसन्देहस्तदा सपक्षत्वं घटादीनामेव, तद्व्यावृत्तं च शब्दत्वमिति तदा तदसाधारणम् । यदा तु शब्देऽनित्यत्वनिश्चयः तदा नासाधारणः । इदं च प्राचां मतम्, नवीनमतं तु पूर्वमुक्तम् ॥ ७३ ॥

भाषा–सपक्षविपक्षसे व्यावृत्तहेतुका नाम ' असाधारण है' यहां साध्यवत्त्वेन निश्चितका सपक्षरूपसे ग्रहण है तथा साध्याभाववत्त्वेन निश्चित स्थलका विपक्षरूपसे ग्रहण है; यहां निश्चयका विशेषरूपसे निवेश है. फल इसका यह है कि–"शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्" इत्यादि स्थलमें यदि शब्दात्मक पक्षमें अनित्यत्वरूप साध्यका संदेह होगा तो सपक्ष घटपटादि होंगे; क्योंकि वह अनित्यत्वरूप साध्यवत्त्वेन निश्चित हैं. विपक्ष गगनादि होंगे; इन दोनोंसे व्यावृत्त केवल शब्दपक्षमात्रमें रहनेवाला शब्दत्वरूप हेतु तौ असाधारण हो सकता है, परन्तु यदि शब्दमें कृतकत्वेन अनित्यत्वका निश्चय होचुका है तौ शब्दत्वरूप हेतु असाधारण नहीं कहासकता. यह व्यवस्था प्राचीनसिद्धान्तसे है और नवीन सिद्धान्त तौ वही है जो किं, हम "साध्यासमानाधिकरणो हेतुरसाधारणः" इत्यादि लक्षणसे पूर्व कह चुकेहैं ॥ ७३ ॥

तथवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः ।

भाषा–एवं जिस हेतुका पक्ष केवलान्वयि हो वह अनुपसंहारी कहाजाता है.

केवलान्वयिपक्षक इति । केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षक इत्यर्थः । सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वात् सामानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावान्नानुमितिः । इदं तु न सम्यक् । पक्षैकदेशे सहचारग्रहेऽपि क्षतेरभावात् । अस्तु वा सहचाराग्रहस्तावताप्यज्ञानरूपाऽसिद्धिरेव न तु हेत्वाभासत्वं तस्य, तथापि केवलान्वयिसाध्यकत्वं तत्त्वमित्युक्तम् ।

भाषा–अर्थात् केवलान्वयि धर्मावच्छिन्न पक्षस्थलमें अनुपसंहारी दोष होता है, वह पूर्वोक्त सम्बन्धसे हेतुमें भान होता है " सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् " इत्यादि स्थल

इसके लक्ष हैं. यहां वस्तुमात्रको पक्ष होनेसे साध्यके साथ हेतुका सामानाधिकरण्य ग्रहण करनेके लिये कोई स्थल शेष नहीं है. एवं सामानाधिकरण्य ग्रहरूप कारणीभूत व्याप्तिज्ञानके न होनेसे अनुमितिरूप कार्यभी ऐसे स्थलमें नहीं होता. यह प्राचीन विद्वानोंका मन्तव्य है, परन्तु सम्यक् नहीं है; क्योंकि सामानाधिकरण्य ग्रहणके लिये स्थलान्तर न भी हो तोभी पक्षके एकदेशमें साध्यहेतुके सहचारग्रहणसे अनुमिति होसकती है; अथवा साध्यके साथ हेतुके सहचारका ग्रहणाभावही रहे तौभी ऐसे स्थलमें अज्ञानरूपा असिद्धिही माननी उचित है. किंतु ऐसे हेतुको हेत्वाभासत्व नहीं तथा केवलान्वयि साध्यस्थलीय हेतुमें 'अनुपसंहारी' यह व्यवहार होता है, ऐसा कहना आवश्यक है ।

यः साध्यवति नैवास्ति स विरुद्ध उदाहृतः ॥ ७४ ॥

भाषा-जो हेतु साध्यवाले स्थलमें न रहे वह विरुद्ध कहा जाता है ॥ ७४ ॥

यः साध्यवतीति । एवकारेण साध्यवत्त्वावच्छेदेन हेत्वभावो बोधितः । तथा च साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं तदर्थः ७४

भाषा-मूलकारिकामें होनेवाले 'एव' कारसे यह जानना चाहिये कि, साध्यवत्त्वावच्छेदेन कहींभी न रहनेवाला हेतु विरुद्ध कहा जाता है. एवं साध्यका व्यापकीभूत जो अभाव तादृशाभावप्रतियोगित्वही विरुद्धत्व समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

असिद्धिं विभजते, आश्रयासिद्धिरित्यादि-

भाषा-'आश्रयासिद्धि' इत्यादि ग्रंथसे मूलकार असिद्धिका विभाग करते हैं-

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ ॥
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७५ ॥

भाषा-प्रथमका नाम आश्रयासिद्धि है; द्वितीयका नाम स्वरूपासिद्धि है; और तीसरीका नाम व्याप्यत्वासिद्धि है इस भेदसे असिद्धि तीन प्रकारकी है ॥ ७५ ॥

पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयो गिरिः ॥

पक्षासिद्धिरिति । आश्रयासिद्धिरित्यर्थः ।

भाषा-"मणिमयपर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थलमें आश्रयासिद्धि है.

ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा ॥ ७६ ॥

अपरेति । स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः ।

भाषा-'ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वात्' इत्यादि स्थलमें स्वरूपासिद्धि है ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिरपरा नीलधूमादिके भवेत् ॥

भाषा–"पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्" इत्यादि स्थलमें व्याप्यत्वासिद्धि है.

नीलधूमादिक इति। नीलधूमत्वं गुरुतया न हेतुतावच्छेदकम्, स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकधर्म्मान्तराघटितस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वात्।

भाषा–ऐसे स्थलमें 'नीलधूमत्व' रूप धर्म गुरुभूत होनेसे हेतुताका अवच्छेदक नहीं हो सकता; क्योंकि 'स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित धर्मही व्याप्यतावच्छेदक होता है. यह नियम है इसमें 'स्व' पदसे विवक्षित व्याप्यतावच्छेदक धर्मका ग्रहण है. प्रकृतमें वह धर्म 'नीलधूमत्व' है 'स्व' पदसे उसीका ग्रहण होगा. एवं नीलधूमत्वसमानाधिकरण व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तर शुद्धधूमत्वरूप धर्म भी हो सकता है. उस शुद्धधूमत्वरूप धर्मसे घटितही नीलधूमत्वरूप धर्म है, अघटित नहीं है, इसलिये नीलधूमत्वरूप धर्म अवच्छेदक होनेके योग्य नहीं है. किन्तु 'धूमत्व' धर्म व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित होनेसे पूर्वोक्त व्याप्यतावच्छेदकके लक्षणका लक्ष होसकता है.

धूमप्रागभावत्वसंग्रहाय स्वसमानाधिकरणेति।

भाषा–यहां व्याप्यतावच्छेदकके लक्षणमें 'स्वसमानाधिकरण' भागका निवेश "यज्ञशाला वह्निमती भविष्याति धूमप्रागभावात्" इत्यादि स्थलमें धूमप्रागभावत्व रूप धर्मके संग्रहके लिये समझना चाहिये अर्थात् यदि केवल 'व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटितत्व' मात्र कहेंगे तो 'धूमप्रागभावत्व' रूप धर्म व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तराघटित नहीं है; किन्तु व्याप्यतावच्छेदकीभूत 'धूमत्व' रूप धर्मसे घटितही है. एवं अवच्छेदक नहीं होसकेगा, परन्तु यदि लक्षणमें 'स्वसमानाधिकरण' भागका निवेश करते हैं तो दोष नहीं. क्योंकि 'धूमप्रागभावत्व' रूप धर्म धूमप्रागभावमें रहता है और धूमत्व धूममें रहता है, एवं इन दोनोंका परस्पर समानाधिकरण नहीं है हमको स्वसमानाधिकरणवृत्ति धर्मान्तराघटितत्व व्याप्यतावच्छेदकमें विवक्षित है; व्यधिकरणवृत्ति धर्मान्तर चाहो व्याप्यतावच्छेदककी कुक्षिमें रहेभी तो हानि नहीं है.

विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता ॥ ७७ ॥

भाषा–परस्पर विरोधि हेतुओंके परामर्शस्थलमें सत्प्रतिपक्ष होता है ॥ ७७ ॥

विरुद्धयोरिति। कपिसंयोगतदभावव्याप्यवत्त्वपरामर्शेऽपि न सत्प्रतिपक्षितत्वमत उक्तं विरुद्धयोरिति। तथा च स्वसाध्यवि-

रुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीन साध्यव्याप्यवत्ताध-
रामर्शविषय इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

भाषा-वृक्षत्वादि हेतुमें कपिसंयोग तथा कपिसंयोगाभाव व्याप्यवत्त्वपरामर्श होनेसेभी सत्प्रतिपक्षत्वव्यवहार नहीं होता क्योंकि ऐसे स्थलमें किसी हेतुका परस्पर विरोध नहीं है, एवं स्वसाध्यसे विरुद्ध जो साध्य उस साध्यके अभावव्याप्यवत्ता परामर्शकालहीमें साध्यव्याप्यवत्ता परामर्शका विषय सत्प्रतिपक्ष होताहै. "ह्रदो वह्निमान् धूमात् ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्" इत्यादिस्थलमें 'स्व' पदसे जलरूप है उसका जो वह्न्यभाववरूप साध्य उससे विरुद्ध जो वह्निरूप साध्य उस साध्यका जो अभाव एतादृशाभाव व्याप्यवत्ता परामर्शकालहीमें स्वसाध्यव्याप्यवत्ता परामर्शका विषय जलरूप हेतु है, ऐसेही हरएक सत्प्रतिपक्षस्थलमें जान लेना ॥ ७७ ॥

साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः ॥
उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८ ॥

भाषा-जिस स्थलमें पक्षमें साध्य न हो वहां बाधदोष होता है, जैसे-कोई 'उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटः गन्धवान् पृथ्वीत्वात्' ऐसी अनुमानरचना करे तो ऐसे स्थलमें बाधदोष समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

साध्यशून्य इति । पक्षः पक्षतावच्छेदकविशिष्ट इत्यर्थः । तेन घटे गन्धसत्त्वेऽपि न क्षतिः । एवं मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगीत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्त-
मुक्तावल्यामनुमानखण्डम् ॥ २ ॥

भाषा-'पक्ष'शब्दसे पक्षतावच्छेदक देशकालविशिष्ट पक्षका ग्रहण करना चाहिये एवं कालान्तरमें घटमें गन्ध रहेभी तो बाधलक्षणकी अव्याप्ति नहीं है किंवा यह स्थल बाधलक्षणका अलक्ष नहीं होसकता, ऐसेही 'मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" इत्यादि स्थलमें भी बाध समझना चाहिये पूर्वोक्त स्थलमें कालकी तरह यहां देश अवच्छेदक है अर्थात् यद्यपि वृक्षमें शाखावच्छेदेन कपिसंयोग विद्यमान है एवं पक्षमें साध्याभावरूप बाधदोष बन नहीं सकता तथापि मूलावच्छेदेन कपिसंयोग नहीं है एवं मूलरूप देशके अवच्छेदक होनेसे यहां बाधदोष हो सकता है ॥ ७८ ॥

इति श्रीगोविंदसिंहसाधुकृते आर्य्यभाषाविभूषितन्यायसिद्धान्त-
मुक्तावलीप्रकाशे अनुमानपरिच्छेदः ॥ २ ॥

श्रीः ।

अथोपमानपरिच्छेदः ३.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

किं लोके, वेदशास्त्रेऽपि दुर्लभा यस्य चोपमा ॥
सच्चिदानन्दरूपेण वन्द्योऽसौ नानको गुरुः ॥१॥

उपमितिं व्युत्पादयति, ग्रामीणस्येति–

भाषा–अवसर सङ्गतिके अभिप्रायसे ग्रन्थकार ' ग्रामीणस्य ' इत्यादि ग्रन्थसे उपमितिका निरूपण करते हैं–

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् ॥
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम् ॥७९॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते ॥
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम् ॥ ८० ॥

भाषा–वनस्थ गवयादि पशुके प्रति प्रथमही देखनेवाले ग्रामीण पुरुषको जो गवयादि विषयक गोनिरूपित सादृश्यदर्शन वह प्रकृतोपमितिका करण है ॥ ७९ ॥ अतिदेश वाक्यार्थका स्मरण मध्यमें व्यापार है.इस रीतिसे गवयादि शब्दोंकी व्यक्ति-विशेषमें शक्तिग्रहण करनी उपमितिका फल है. अर्थात् एतद्रूपही अनुमिति है ८०.

यत्रारण्यकेन केनचिद्ग्रामीणं प्रत्युक्तं गोसदृशो गवयपदवाच्य इति । पश्चाच्च ग्रामीणेन क्वचिदरण्ये गवयो दृष्टस्तत्र गोसादृश्यज्ञानं यत्तदुपमितिकरणम् । तदनन्तरं गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं जायते तदेव व्यापारः ।

भाषा–जहां कहीं जंगलमें रहनेवाला पुरुष शहरमें रहनेवाले पुरुषको कदाचित् मिलकर यह कहे कि–जंगलमें एक ' गवय ' नामक पशु गौ जैसा होता हैं उसके पीछे कभी दैवयोगात् कार्यवशसे वही शहरमें रहनेवाला पुरुष जंगलमें जावे और उस ' गवय' नामक पशुको देखे तो ऐसे स्थलमें उस गवयमें जो गोसादृश्यका दर्शन वह होनेवाले उपमितिज्ञानका करण है. उस सादृश्यदर्शनके पीछे उसी पुरुषको " गोसदृशो गवयपदवाच्यः " इत्याकारक जो अतिदेशका वाक्य अर्थात्

जाङ्गली पुरुषका कहा हुआ वचन उस वचनके अर्थका स्मरण उस पुरुषको होता है वह स्मरणही होनेवाली उपमितिके प्रति मध्यमें व्यापार है।

तदनन्तरं तत्र गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं जायते तदुपमितिः, न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः, गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ॥ ७९ ॥ ८० ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यामुपमानखण्डम् ॥ ३ ॥

भाषा–उसके पीछे उस पुरुषको "गवयपदवाच्यः–अर्थात् ऐसे पशुका नामही 'गवय' है" इत्याकारक ज्ञान होता है. इसीका नाम 'उपमितिज्ञान' है. यहां "अयं गवयपदवाच्यः" इत्याकारक उपमितिका मानना अर्थात् उपमितिके विषयको इदन्ताविशिष्ट करना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे अन्य गवय व्यक्तियोंमें 'गवय' पदकी शक्ति ग्रहण नहीं होसकती और वही पुरुष प्रत्येक गवयव्यक्तिमें उपमितिसेही शक्तिग्रहण कराकरे यह वार्ताभी अनुभवविरुद्ध है।

इति श्रीगोविंदसिंहसाधुकृते आर्य्यभाषाविभूषितन्यायसिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशे उपमानपरिच्छेदः ॥ ३ ॥

श्रीः ।

अथ शब्दपरिच्छेदः ४.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिकारकं क्लेशहारकम् ॥
वाचामगोचरं देवं वन्दे श्रीगुरुनानकम् ॥ १ ॥

शाब्दबोधप्रकारं दर्शयति, पदज्ञानं त्विति-

भाषा-शब्दोपमानकी परस्पर उपजीव्योपजीवक भावरूप संगतिके अभिप्रायसे मूलकार 'पदज्ञानं तु' इत्यादि ग्रन्थसे शाब्दबोधका प्रकार दिखलाते हैं-

पदज्ञानं तु करणं-

भाषा-शाब्दबोधमें पदज्ञान करण है.

न तु ज्ञायमानं पदं करणं पदाभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात् ।

भाषा-शाब्दबोधमें पदका 'ज्ञानही' करण है, किन्तु ज्ञात हुआ पद 'करण' नहीं क्योंकि पदोंके न होनेसेभी मौनिपुरुषनिर्मित श्लोकोंसे शाब्दबोध होता है. भाव; यह कि-शब्दमात्रका श्रोत्रहीसे ज्ञान होना स्वभाव है और 'पद' भी शब्दविशेषहीका नाम है. वहभी यदि ज्ञात होगा तो श्रोत्रहीसे हुआचाहिये, परन्तु जहां मौनि पुरुषने अक्षर लेखसे या हस्तादिचेष्टासे दूसरे पुरुषको कुछ बोधन किया है वहां पदके न होनेसेभी लिपी या चेष्टाद्वारा केवल पदके ज्ञानमात्रसे शाब्दबोध होता है; इसलिये ज्ञातहुआ पद 'करण' नहीं, किन्तु पदका ज्ञानही 'करण' है.

-द्वारं तत्र पदार्थधीः ॥
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ ८१ ॥

भाषा-पदजन्यपदार्थोपस्थितिबुद्धिमध्यमें व्यापार है पदशक्ति ज्ञान सहकारी कारण है. ऐसे स्थलमें शाब्दबोधात्मक फल होताहै ॥ ८१ ॥

पदार्थधीरिति । पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः, अन्यथा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः । तत्रा-

पि वृत्त्या पदजन्यत्वं बोध्यम् । अन्यथा घटादिपदात्समवायस-म्बन्धेनाकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शाब्दबोधापत्तेः ।

भाषा-एवं पदजन्य पदार्थस्मरणमध्यमें व्यापार है. (अन्यथा) यदि पदज-न्यपदार्थस्मरणको व्यापार नहीं मानें, किन्तु पदजन्यपदार्थज्ञानहीको मानें, वह ज्ञान चाहो जैसाभी हो तौ पदज्ञानवाले पुरुषको प्रत्यक्षादि प्रमाणसे पदार्थ उपस्थिति होनेसेभी शाब्दबोध होना चाहियें; परंतु ऐसा होता कभी नहीं. यहां पदजन्यपदार्थ स्मरणभी पदकी वृत्तिद्वारा समझना चाहिये. (अन्यथा) येनकेन सम्बन्धेन कहेंगे तो घटादि पदोंसे समवायसम्बन्धसे आकाशका स्मरण हुए घटादि पदोंसे आका-शका शाब्दबोध होना चाहिये.

वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः सम्बन्धः । अत्रैव शक्तिज्ञानस्योप-योगः । पूर्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्सम्बन्धेन स्मरणानुप-पत्तेः । पदज्ञानस्य च एकसम्बन्धिज्ञानविधयाऽर्थस्मारकत्वम् ।

भाषा-'वृत्तिं' नाम पदपदार्थके परस्परसम्बन्धका है वह सम्बन्ध वाच्यवाचक बोध्यबोधक ज्ञाप्यज्ञापक भावादि अनेक प्रकारका है वह वृत्ति शक्ति तथा लक्षणा-भेदसे दोप्रकारकी है. (अत्रैव) यहां पदजन्यपदार्थउपस्थितिहीमें शक्तिज्ञानका उपयोग है; क्योंकि यदि पहले पदशक्तिका ग्रहण न हो तो पदज्ञान होनेसेभी उसके सम्बन्धसे पदार्थका स्मरण नहीं होता. एवं पदज्ञानको " एक सम्बन्धिज्ञानविधया" अर्थात् "एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्" इस नियमसे जैसे हाथीको देखकर हाथिवान् महावतका तथा महावतको देखकर हाथीका स्मरण होता है वैसेही पदज्ञा-नकोभी सम्बन्धिज्ञानविधया अर्थस्मारकता है.

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः, स चास्माच्छब्दादय-मर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः । आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव । एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यादितीश्वरेच्छायाः सत्त्वात् । आ-धुनिके तु संकेते न शक्तिरिति सम्प्रदायः । नव्यास्त्वीश्वरेच्छा न शक्तिः, किंत्विच्छैव । तेनाधुनिकसंकेतेऽपि शक्तिरस्त्येवेति वदन्ति । शक्तिग्रहश्च व्याकरणादितः ।

भाषा-पदके साथ पदार्थके सम्बन्धविशेषका नाम 'शक्ति' है. वह सम्बन्धविशेष "अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः" अर्थात् "इस पदसे यह अर्थ जानना चाहिये"

इत्याकारक ईश्वरकी इच्छारूपही है और माता पिता आदि करके संकेतित चैत्र मैत्रादि आधुनिक नामोंमें भी वही शक्ति विद्यमान है; क्योंकि वहां भी "एकादशेऽहनि नाम कुर्यात्" अर्थात् "ग्यारादिन पीछे पिता अपने पुत्रका नाम रक्खे" इस ईश्वरसंकेतसे वह शक्ति सामान्यरूपसे विद्यमान है और आधुनिक संकेतित 'नदी वृद्धि' आदि पदोंमें वह शक्ति नहीं है, ऐसा साम्प्रदायिक लोग मानते हैं और नवीन लोगोंका यह कथन है कि ईश्वरकी इच्छारूप पदमें शक्ति नहीं है किन्तु केवल इच्छा रूपा है, वह इच्छा चाहो किसीकी हो. एवम् आधुनिक संकेतित पदोंमें भी शक्ति हो सकती है उस शक्तिके ग्राहक व्याकरणादि आठ हैं.

तथाहि । "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः" ॥

भाषा-(तथाहि) वही लिखते हैं कि-पदशक्तिका ग्रहण व्याकरणसे, उपमानसे, कोशसे, आप्तवाक्यसे, व्यवहारसे, वाक्यशेषसे, विवरणसे और प्रसिद्ध पदके सान्निध्यसे विद्वान् वृद्ध लोग कहते हैं.

धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति, क्वचित्तु सति बाधके त्यज्यतेऽपि । यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरुच्यते । चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्याभेदान्वयः, तच्च गौरवात् त्यज्यते, किंतु कृतौ शक्तिर्लाघवात् । कृतिश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते ।

भाषा-धातुप्रकृति प्रत्यय आदिकी शक्तिका ग्रहण "भूसत्तायाम्, वर्तमाने लट्" इत्यादि व्याकरणसे होता है; परन्तु यहभी किसी एक स्थलमें गौरवादि दोषके बाधक होनेसे त्यागना पड़ता है. जैसे वैयाकरण लोग आख्यातकी शक्ति कर्तामें मानते हैं "चैत्रः पचति" इत्यादि स्थलमें आख्यातवाच्यकर्ताके साथ चैत्रका अभेदान्वय है अर्थात् "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ३।४।६९" इत्यादि व्याकरणानुशासनसे आख्यात वाच्य चैत्रही कर्ता है, परन्तु इस प्रकारका व्याकरणसे शक्तिग्रह गौरवभयसे त्यागना पड़ता है; किन्तु लाघवानुरोधसे आख्यातकी कृतिमें शक्ति माननी ही उचित है, भाव यह कि-यदि आख्यातकी कर्तामें शक्ति होगी तो शक्यतावच्छेदक कर्तृनिष्ठ धर्मविशेष कृतिकोही मानना होगा. वह कृति प्रतिकर्तृ भिन्न २ है, एवं शक्यतावच्छेदक भी नानाही होंगे, ऐसे नाना अवच्छेदक धर्मके उपस्थित होनेसे उपस्थितिकृत महागौरव होगा इसलिये लाघवसे आख्या-

तकी कर्तृनिष्ठ धर्मविशेषकृतिहीमें शक्ति माननी उचित है. एवं शक्यतावच्छेदक धर्म यावत् कृतिओंमें रहनेवाली ' कृतित्वरूपा ' जाति होगी वह यावत् कृतिके शिरपर एक है; इसलिये परमलाघव है–इति । न्यायसिद्धान्तमें जिसमें आख्यातकी शक्ति मानी गई है वह कृति चैत्रादि कर्तामें प्रकारीभूत होकर प्रतीत हुआ करती है.

न च कर्तुरनभिधानाच्चैत्रादिपदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यम् । कर्तृसंख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात् ।

शंका–आपके कथनानुसार लाघवानुरोधसे यदि आख्यात प्रत्ययका अर्थ कृतिही मान लिया जाय तो अनुक्तकर्तामें " अनभिहिते २–३–१ " इस अधिकारसे "कर्तृकरणयोस्तृतीया २–३–१८" इस सूत्रसे तृतीयाविभक्ति अर्थात् "चैत्रेण पचति" इत्याकारक प्रयोगकी साधुता होनी चाहिये. समाधान–आख्यातप्रत्ययके कृति संख्या कालादि अनेक अर्थ विद्वान्लोगोंके अनुभवसिद्ध हैं. एवं जिस स्थलमें कर्तृगतसंख्या आख्यातप्रत्ययसे अनुक्त होगी वहां तृतीयाका होना सम्भव है; अन्यथा नहीं.

संख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वाद्यनवरुद्धः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः । कर्मत्वादीत्यस्य इतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वमर्थः ।

शंका–यही कैसे जाना जाय कि–कर्तृगत संख्या कहां उक्त है और कहां अनुक्त है ? समाधान–कर्मत्वाद्यनवरुद्ध और प्रथमान्तपदबोध्य कर्ता संख्याभिधानयोग्य होता है. ' कर्मत्वाद्यनवरुद्ध ' इस भागका इतर विशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वरूप सांकेतिक अर्थ समझना चाहिये. एवम् "इतर विशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वविशिष्टप्रथमान्तपदोपस्थाप्यः कर्ता संख्याभिधानयोग्यः " इत्याकारक समुदित नियमका स्वरूप है.

तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यादौ न चैत्रे संख्यान्वयः । यत्र कर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यं तद्वारणाय प्रथमान्तेति ।

भाषा–एवं " चैत्र इव मैत्रो गच्छति " इत्यादिस्थलोंमें (गच्छति) उत्तरवर्ति आख्यात वाच्य संख्याका चैत्रमें अन्वय नहीं हो सकता, किन्तु मैत्रहीमें होगा; क्योंकि चैत्रपदार्थ इवपदार्थसादृश्यमें विशेषणत्वेन तात्पर्यका विषय है. एवं ऐसे स्थलमें "चैत्रनिरूपितं यत् सादृश्यं तादृशसादृश्येन यत् गमनं तादृशगमनानुकूला वर्तमानकालिका या कृतिः तादृशकृत्याश्रय एकत्वसंख्याविशिष्टो मैत्रः" इत्याकारक शाब्दबोध होता है एवं " तण्डुलं पचति " इत्यादिस्थलमें आख्यातार्थ

संख्याका तण्डुलमें अन्वयबोधवारणके लिये तथा 'चैत्रेण सुप्यते' इत्यादि स्थलमें धात्वर्थस्वापादिकमें संख्यान्वय बोधवारणके लिये "प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः" इस भागका निवेश है.

यद्वा धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वं प्रथमदलार्थः । तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रादेर्वारणम् । स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकादेर्वारणाय च द्वितीयदलम् । तस्य द्वितीयान्तोपस्थाप्यत्वाद्वारणम् ।

भाषा- (यद्वा) अथवा धात्वर्थसे अतिरिक्तका ना विशेषण होना प्रथमभागका अर्थ है. इस रीतिसेभी "चैत्र इव मैत्रो गच्छाति" इस स्थलमें चैत्रादिका वारण होसकता है; क्योंकि चैत्रपदार्थ धात्वर्थसे आतिरिक्त (इव) अर्थसादृश्यमें विशेषणही है और " स्तोकं पचति मृदु पचाति" इत्यादि स्थलोंमें स्तोकादिमें आख्यातार्थसंख्याका अन्वयवारणके लिये 'प्रथमान्त' इत्यादि द्वितीय दलका निवेश है. भाव यह कि-स्तोकादि पदार्थोंको क्रियाके विशेषण होनेसे यद्यपि उनमें धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्व स्वतःसिद्ध है.वहां आख्यातार्थसंख्याका अन्वय अवश्य हुआ चाहिये तथापि 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्व' रूप नियमका द्वितीय अंश उनमें नहीं है इस लिये आख्यतार्थसंख्या अन्वय योग्यताभी उनमें नहीं है; क्योंकि ' क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्' इस अनुशासनसे स्तोकादिपदोंको द्वितियान्त पदोपस्थाप्यता है.

एवं व्यापारेऽपि न शक्तिर्गौरवात् । रथो गच्छतीत्यादौ व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा, जानातीत्यादौ स्वाश्रयत्वे, नश्यतीत्यादौ प्रतियोगित्वे निरूढलक्षणा । १ ।

भाषा- एवं 'लकारमात्रकी व्यापारमें शक्ति माननी' यह मीमांसकमतभी समीचीन नहीं; क्योंकि जन्यत्वादि घटित व्यापारभी यत्नत्वजात्यपेक्षया गुरुभूतही है एवम् "रथो गच्छति-" इत्यादि स्थलमें गमनानुकूलव्यापारमें किंवा गमनानुकूल व्यापारके आश्रयमें आख्यात प्रत्ययकी (निरूढा) नित्यतात्पर्यवती लक्षणवृत्ति है. एवम् "चक्षुर्जानाति" इत्यादि स्थलमें ज्ञानानुकूल व्यापार आश्रयत्वमें तथा "घण्टो नश्यति" इत्यादि स्थलमें नाशानुकूल व्यापाराश्रयत्वमें अर्थात् प्रतियोगित्वमें नित्यतात्पर्यवती निरूढ लक्षणाही समझनी चाहिये-इति १ ।

उपमानाद्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम् । २ ।

भाषा-एवं गोनिरूपित गवयनिष्ठ सादृश्यसाक्षात्काररूप उपमानसे जैसे

"गवयो गवयपदवाच्यः" इत्याकारक शक्तिग्रहण होता है, वह हम उपमान निरूपण अवसरमें कहचुके हैं २ ।

एवं कोषादपि शक्तिग्रहः सति बाधके क्वचित्त्यज्यते । यथा नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः कोषे व्युत्पादिता तथापि लाघवान्नीलादौ शक्तिः, नीलादिविशिष्टे तु लक्षणेति । ३ ।

भाषा-एवं कोषसेभी पदशक्तिका ग्रहण होता है; परन्तु बाधक सद्भावस्थलमें इसकाभी त्याग करना पड़ता है. जैसे अमरादिकोषोंमें "गुणे शुक्लादयः पुंसि-गुणिलिंगास्तु तद्वति" अर्थात् 'शुक्ल' आदि शब्द रूपके वाचक नियत पुँल्लिग रहते हैं और रूपवालेके वाचक होवें तो रूपवालेके लिंगको आश्रयण करते हैं. ऐसा लिखा है परन्तु यहांभी शुक्लनीलादिपदोंकी लाघवसे शुक्लनीलादिरूपहीमें शक्ति माननी उचित है; क्योंकि ' नीलादिमत्त्व ' की अपेक्षासे 'नीलत्व आदि ' जातिके शक्यतावच्छेदक माननेमें लाघव प्रतीत होता है और नीलादिरूप विशिष्टमें नीलादि पदोंकी लक्षणा होती है; यह सिद्धान्त है और कोई एक विद्वान् यहभी कहते हैं कि-ऐसे स्थलमें लक्षणा माननेका कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः" इस वार्तिकसे लुप्त 'मतुप्' प्रत्ययसेही बोध होसकता है, फिर लक्षणा माननी निष्फल है ३ ।

एवमाप्तवाक्यादपि, यथा कोकिलः पिकपदवाच्य इत्यादिशब्दात् पिकादिपदशक्तिग्रहः । ४ ।

भाषा-ऐसेही यथार्थवक्ता पुरुषके कथनसेभी पदशक्तिका ग्रहण होता है जैसे किसी 'पिक' पदके अर्थके न जाननेवाले बालकने किसी योग्यपुरुषसे पूंछा कि-'पिक' किसको कहते हैं ? तो उस योग्यपुरुषने कहा कि-'पिक' नाम कोकिलाका है तो ऐसे स्थलमें 'पिक' पदके अर्थको न जाननेवाले बालकको उस आप्त पुरुषके वचनसे 'पिक' पदकी शक्तिका ग्रहण होजाता है ४ ।

एवं व्यवहारादपि । यथा प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तं, तच्छ्रुत्वा प्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतस्तदवधार्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्यं घटमानयेति शब्दप्रयोज्यमित्यवधारयति ततश्च घटं नय गामानयेत्यादावावापोद्वापाभ्यां घटादिपदानां

कार्यान्वितघटादौ शक्तिं गृह्णाति । इत्थं च भूतले नीलो घट इत्यादिशब्दान्न शाब्दबोधः, घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात्, कार्यताबोधं प्रति च लिङादीनां सामर्थ्यात् तदभावान्न शाब्दबोध इति केचित् । तन्न । प्रथमतः कार्यान्वितघटादौ शक्त्यवधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्य परित्यागौचित्यात् । अत एव 'चैत्र पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादौ मुखप्रसादमुखमालिन्याभ्यां सुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेषाच्छाब्दबोधं निर्णीय तद्धेतुतया तं शब्दमवधारयति । तथाच व्यभिचारात् कार्यान्विते न शक्तिः । न च तत्र त्वं पश्येत्यादिशब्दान्तरमध्याहार्यम्. मानाभावात् । 'चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्च' इत्यादौ तदभावाच्च । इत्थं च लाघवादन्वितघटेऽपि शक्तिं त्यक्त्वा घटपदस्य घटमात्रे शक्तिमवधारयति।५।

भाषा—ऐसेही व्यवहारसेभी पदशक्तिका ग्रहण होता है; जैसे (प्रयोजक) आज्ञा करनेवाले बडे वृद्धने छोटे वृद्धको आज्ञा करी कि, "घटमानय—अर्थात् घटको लेआओ" तो ऐसे वचनको सुनकर छोटा वृद्ध घटको लाया उस घटके लानेको देखकर पास खडा हुआ बालक यह निश्चय करता है कि, घटका लाना रूप कार्य "घटमानय' इत्याकारकशब्दके उच्चारण करनेसे हुआ है उसके कुछ काल पीछे फिर बडे वृद्धने छोटे वृद्धसे कहा कि-"घटं नय, गामानय—अर्थात् घट ले जाओ और गौको लेआओ" जब छोटे वृद्धने आज्ञा मानकर वैसेही किया, तो समीपवर्ती बालक घटके लाने तथा ले जानेसे ' घट ' पदकी शक्ति कम्बुग्रीवादिमद् व्यक्तिविशेषमें निश्चित करता है. एवं इत्यादि व्यवहार जहां होता है वहांही घटादि पदोंकी शक्ति कार्यान्वित घटादिमें बालक ग्रहण कर लेता है परन्तु ऐसे स्थलमें कोशको शक्तिका ग्राहक न माननेवाला प्रभाकर यह कहता है कि— घटादि पदोंकी शक्तिका ग्रहण नियमसे कार्यान्वित घटादिमेंही होता है; अन्यथा नहीं. (इत्थञ्च) इस रीतिसे " भूतले नीलो घटः " इत्यादि शब्दोंसे शाब्दबोध नहीं होता. क्योंकि घटादि पदोंका कार्यान्वित घटादिके बोधमें सामर्थ्य निश्चित है और कार्यता बोधनमें केवल लिङादिकोंकाही सामर्थ्य है और 'भूतले नीलो घटः' इत्यादि स्थलोंमें कार्यताके बोधक लिङादिका अभाव है इसलिये इत्यादि

स्थलमें शाब्दबोध नहीं होता. यह सब प्रभाकरका मन्तव्य है; (तन्न) सो समीचीन नहीं है. प्रथम कालमें बालकको यद्यपि घटादिके आवापोद्वापद्वारा घटादि पदोंकी कार्यान्वित घटादिमेंही शक्तिका ग्रहण होता है; तथापि 'कार्यत्वान्वितघटशाब्दत्व' की अपेक्षासे केवल 'घटशाब्दत्व' को कार्य्यतावच्छेदक माननेमें लाघव है. इसलिये पीछेसे कार्य्यान्वितघटादिमें शक्तिअवधारणका परित्याग करनाही उचित है. (अतएव) कार्यत्वाविषयक बोधके प्रति पदोंको कारणता है. इसीलिये मैत्रके चैत्रके प्रति "चैत्र ! पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी जाता अर्थात् हे चैत्र! तेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है और कन्या तेरी गर्भिणी होगई है" इत्यादि वाक्य उच्चारण स्थलमें समीपवर्ती तीसरा पुरुष एकही वाक्य सुननेसे चैत्रके मुखकी प्रसन्नता तथा मलिनताको देखकर चैत्रके सुख तथा दुःखका अनुमान करके उस सुख-दुःखकी कारणता उसकालमें और किसीमें प्रतीत नहीं होती तो परिशेषसे मैत्रके उच्चारण किये शब्दजन्यबोधमें कारणताका निर्धारण करके तादृशशाब्दबोधहेतुत्वेन उस मैत्रोच्चरित शब्दहीको निश्चय कराता है. (तथाच) एवम् "घटादिपदानां कार्य्यान्वित घटादिबोध एव सामर्थ्यम्" इत्याकारक नियमका 'चैत्र पुत्रस्ते' इत्यादिस्थलमें व्यभिचार होनेसे घटादिपदोंकी कार्यान्वित घटादिमें शक्ति माननी उचित नहीं-
शंका-"चैत्र पुत्रस्ते" इत्यादि वाक्यस्थलमें 'तं पश्य' इत्यादि क्रियापदके अध्याहार करनेसे पूर्वोक्त व्यभिचार नहीं है. समाधान-इत्यादि अध्याहारमें कोई प्रमाण नहीं है और "चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्च" इत्यादि स्थलमें 'तं पश्य' इत्यादि कार्य्यताके बोधक पदके अध्याहारकाभी असम्भव है. (इत्थञ्च) इस रीतिसे लाघवसे यही कहना उचित है कि अन्वितघटमेंभी शक्तिग्रहको त्यागकर केवल घटमात्रमें घटपदकी शक्तिका अवधारण समीपवर्ती बालकको होता है ९ ।

एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः । यथा यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशेषे आर्याणां प्रयोगः, कङ्गौ च म्लेच्छानां, तत्रहि "अथान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति" उक्तं च-"वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः" इति वाक्यशेषाद्दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते, कङ्गौ तु शक्तिभ्रमात्प्रयोगो नानाशक्तिकल्पने गौरवात् । हरिपदादौ तु विनिगमकाभावान्नानाशक्तिकल्पनम् । ६ ।

भाषा—ऐसेही वाक्यशेषसेभी शब्दकी शक्तिका ग्रहण होता है जैसें ' यवमयश्चरुर्भवति ' इस वाक्यमें (आर्य्य) याजकलोग ' यव' पदकी दीर्घशूकवाले यवविशेषमें शक्ति मानते हैं और म्लेच्छलोग ' यव ' पदसे (कङ्गु) कङ्गनी ग्रहण करते हैं—ऐसा होनेसे (तत्रहि) " यवमयश्चरुर्भवति " इस स्थलमें सन्देह उत्पन्न हुआ कि 'यव' पदसे जवोंका ग्रहण करना चाहिये या कङ्गनीका तो प्रकरणान्तरमें ' अथान्या औषधयः' इत्यादि वाक्यशेषसे अर्थात् वसन्तऋतुमें सब खेतकि पत्र गिर जाते हैं परन्तु (यव) कणशशाली हुए अर्थात् दीर्घशूकविशिष्ट हुए प्रफुल्लित खडे रहते हैं इत्यादिवाक्यशेषसे ' यव ' पदकी दीर्घशूकविशेषमें शक्तिका निर्धारण होता है, म्लेच्छोंका ' यव ' पदसे कङ्गनीका ग्रहण करना शक्तिभ्रममूलक समझना चाहिये, एक 'यव' पदकी कङ्गनी तथा दीर्घशूकविशिष्ट उभयमें शक्तिमाननीभी उचित नहीं क्योंकि नानाशक्तिऽकल्पना करनेमें गौरव है और ' हरि ' आदि पदोंमें तो एकत्र शक्तिके नियमके अभाव होनेसे अनायत्या नानाशक्तिकी कल्पना करनी पड़ती है ६ ।

एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः। विवरणं तु तत्समानार्थपदान्तरेण तदर्थकथनम् । यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीत्यनेन विवरणाद्घटपदस्य कलशे शक्तिग्रहः । एवं पचतीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थकत्वं कल्प्यते ॥ ७ ॥

भाषा—ऐसेही विवरणसेभी शक्तिका ग्रहण होता है, उसके सामानार्थके कहनेवाला पदान्तरसे उसी अर्थको कहनेका नाम विवरण है, जैसे किसीने किसीको 'घटोऽस्ति' यह कहा तो उसने न समझा तो फिर उसने समझानेके लिये उसा वाक्यका विवरण किया कि 'कलशोऽस्ति' तब वह 'कलश' शब्दकी शक्तिको जानताही था विवरण सुनतेही प्रथम वाक्यका अर्थ भी जानगया. ऐसेही 'पचति' इस पदका 'पाकं करोति' यह विवरण होनेसे आख्यातमें प्रयत्नवाचकत्वकी कल्पना होसकती है ।

एवं प्रसिद्धपदस्य सान्निध्यादपि शक्तिग्रहः । यथेह सहकारतरौ मधुरं पिको रौतीत्यादौ पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रह इति ॥८॥

भाषा—ऐसेही प्रसिद्धार्थक पदकी सन्निधिसेभी पदकी शक्तिका ग्रहण होता है जैसे किसीने कहा कि—"इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति—अर्थात् इस आम्रके पेड़पर कोकिला मीठा २ बोल रही है" तो ऐसे स्थलमें 'पिक' पदसे विना सभी पदोंके

अर्थके जाननेवाले पुरुषको (सहकार) आम्रादि पदोंकी सहकारतासे 'पिक' पदकी शक्ति कोकिला नामक पक्षीविशेषमें स्वयं ग्रहण हो जाती है-इति ८ ।

तत्र जातावेव शक्तिर्न तु व्यक्तौ । व्यभिचारादानन्त्याच्च । व्यक्तिं विना च जातिभानस्यासम्भवाद्व्यक्तेरपि भानमिति केचित् । तन्न । शक्तिं विना व्यक्तिभानानुपपत्तेः ।

भाषा-(तत्र) उसमें भी मीमांसक लोग यह कहते हैं कि-घटादिपदोंकी घटत्वादिजातिहीमें शक्ति है, किन्तु कम्बुग्रीवादिमद्व्यक्तिमें नहीं. उसमें कारण यह है कि व्यक्तिमें शक्तिग्रहणका व्यभिचार है अर्थात् जिस व्यक्तिमें शक्ति ग्रहण नहीं भी करी है वहां भी शाब्दबोधका उदय होता है;परन्तु वहां शाब्दबोध कारणीभूत शक्तिज्ञान नहीं है इसलिये व्यभिचार है और यदि जातिमें शक्ति स्वीकार करें तो व्यभिचार नहीं है; क्योंकि जात्या वहां भी शक्ति गृहीत हो चुकी है और व्यक्तियां अनन्त हैं इस लिये प्रत्येक व्यक्तिमें शक्ति माननेमें गौरवभी है और व्यक्तिसे विना केवल जातिका भान तो होही नहीं सकता किन्तु जातिभासक सामग्रीही व्यक्तिका भासकभी माननी होगी; इसलिये व्यक्तिका भान तो अर्थसेही सिद्ध है; उसमें शक्ति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है. यह सब मीमांसकका मन्तव्य है । (तन्न) सो समीचीन नहीं है; क्योंकि यदि व्यक्तिमें पदकी शक्ति न होय तो व्यक्तिक भान नहीं हुआ चाहिये ।

न च व्यक्तौ लक्षणा । अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापि व्यक्तिबोधात् । न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यम्, सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात् । नचाननुगमः, गोत्वादेरेवानुगमकत्वात् ।

शंका-हम व्यक्तिमें लक्षणा मानलेंगे,समाधान-लक्षणा वहां मानी जाती है,जहां किसीतरहकी अनुपपत्ति होय और व्यक्तिमें तो किसीतरहकी अनुपपत्तिभी दीख नहीं पडती, यहां लक्षणा माननेका कौन प्रयोजन है ? शंका-व्यक्तिमें शक्ति माननेमें गौरव तो है,क्योंकि व्यक्तियां अनंत हैं इसलिये शक्तियांभी अनंतही माननी पडेंगी. समाधान-यावत् व्यक्तियोंमें हम एकही शक्तिका स्वीकार करते हैं इसलिये गौरव नहीं है. शंका-घटपटादि व्यक्तियोंको अननुगत होनेसे विषयतासंबंधसे शक्तिज्ञान कारणतामें अवच्छेदकत्वधर्मका अभावरूप अननुगम होगा. समाधान-गोत्वघटत्वादि धर्मोंसे अनुगम होसक्ता अर्थात् गोव्यक्तिविषयक शाब्दबोधके प्रति गोत्वविशिष्टविषयक शक्तिज्ञानरूप कारणताके होनेसे अननुगमरूप दोष नहीं है.

किंच गौः शक्येति शक्तिग्रहो यदि तदा व्यक्तौ शक्तिः; यदि तु गोत्वं शक्यमिति शक्तिग्रहः तदा गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्च न स्यात्, समानप्रकारकत्वेन शक्तिज्ञानस्य पदार्थस्मरणं शाब्दबोधं प्रति च हेतुत्वात् ।

भाषा-(किञ्च) यदि " गौः गोपदशक्यः " इत्याकारक शक्तिज्ञान हुआ है तो व्यक्तिहीमें शक्ति अनुभवसिद्ध है और यह विशिष्टज्ञान प्रमात्मकभी हो सकता है क्योंकि आपके सिद्धान्तमें अन्यथा ख्यातिका अस्वीकार है और यदि "गोत्वं गोपदशक्यम्" इत्याकारक शक्तिज्ञान हुआ है तो गोपदसे गोत्वप्रकारक पदार्थका अर्थात् गोव्यक्तिका स्मरण तथा गोत्वप्रकारक गोविशेष्यक शाब्दबोधका उदय नहीं होना चाहिये; क्योंकि यह नियम है कि-यत्प्रकारक यद्विशेष्यक शब्दशक्तिका ग्रहण हुआ है वह शब्दशक्तिग्रह तत्प्रकारक पदार्थस्मरणके प्रति तथा तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोधके प्रति कारण होता है.

किंच गोत्वे यदि शक्तिस्तदा गोत्वत्वं शक्यतावच्छेदकं वाच्यम्, गोत्वत्वं तु गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वं, तथा च गोव्यक्तीनां शक्यतावच्छेदकेऽनुप्रवेशात्तवैव गौरवम् ।

भाषा-(किञ्च) यदि गोपदकी (गोत्व) जातिहीमें शक्ति मान ली जाय तो शक्यतावच्छेदक धर्म गोत्वके सिरपर गोत्वत्वही कहना होगा. फिर वह गोत्वत्वभी 'किमाकारक' है? ऐसी जिज्ञासावाले पुरुषको"गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वम्-अर्थात् गोव्यक्तिसे इतर व्यक्तियोंमें असमवेत होना और केवल गोव्यक्तिमात्रमें समवेत होना ही गोत्वमें गोत्वत्व है" यही उत्तर कहना होगा (तथाच) इस कथनसे गोव्यक्तियोंका भी शक्यतावच्छेदक कोटिमें प्रवेश होनेसे तथा शाब्दबोधकी कारणतावच्छेदककोटिमें प्रवेश होनेसे आपहीको गौरव होगा.

तस्मात्तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ विश्राम्यतीति ।

भाषा-(तस्मात्) इसलिये केवल जातिमें या (आकृति) अवयवसंस्थानमें या व्यक्तिमात्रमें शक्ति माननेसे (तत्तत्) उस २ गोत्वादिजाति तथा (तत्तत्) उस२ शृङ्गसास्नादि अवयवसंस्थानविशिष्ट (तत्तत्) उस २ गोआदि व्यक्तियोंके बोधकी अनुपपत्ति होनेसे बुद्धिपूर्वक शक्तिकी कल्पना जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तिमें विश्रान्त होती है-इति ।

शक्तं पदम् । तच्चतुर्विधम् । क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद्योगरूढं, क्वचिद्यौगिकरूढम् ।

भाषा--वाचकतासम्बन्धसे शक्तिविशिष्टका नाम 'पद' है; वह चार प्रकारका है कहीं यौगिक है १, कहीं रूढ है २, कहीं योगरूढ है ३, और कहीं यौगिकरूढ है४.

यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्, यथा पाचकादिपदम् । १ ।

भाषा--जो अपने अवयवोंसे स्वार्थका बोधक हो वह'यौगिक' पद है;ऐसे पाचक पाठकादि अनन्त पद हैं "पचतीति पाचकः" यहां 'पचि' धातु कर्तामें 'ण्वुल्' प्रत्ययका विधान है. एवं "पठतीति पाठकः" यहां 'पठि' धातु कर्तामें 'ण्वुल्' प्रत्ययका विधान है. एवं पाकक्रिया करनेवालेका नाम 'पाचक' तथा पाठक्रिया करनेवालेका नाम 'पाठक' शब्दके अवयवोंसेही लाभ हुआ. १ ।

यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्यण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम्, यथा गोमण्डलादिपदम् । २ ।

भाषा--जो अवयवशक्तिकी अपेक्षासे विना समुदाय शक्तिसे स्वार्थका बोधक हो वह रूढ पद है. ऐसे 'गोमण्डलादि' अनन्त पद हैं अर्थात् यहां 'गो' पदकी समुदायशक्ति गोव्यक्तिमें है और मंडलपदकी समुदायशक्ति सूर्यादिरोधक कुण्डलाकार परिवारादिमें है. एवं यह समुदायशक्तिसे शाब्दबोध होता है,इसलिये अवयवशक्ति विचारकी कुछ आवश्यकता नहीं है. २ ।

यत्र त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्, यथा पङ्कजादिपदम् । तथाहि । पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति । न च केवलावयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वाच्यम् । रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञाने प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः ।

भाषा--एवं जो पद अवयव तथा समुदाय उभयशक्तिद्वारा स्वार्थका बोधक हो वह 'योगरूढ़' है ऐसे पंकजादि पद हैं. (तथाहि) वह ऐसे हैं कि-एकही 'पंकज' पद अपनी "पंकात् जायते इति पंकजम्" इत्याकारक अवयवशक्तिसे पंकसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुको कहता है और समुदायशक्तिसे पद्मत्वेन रूपेण (पद्म) कमलका बोधक है. शंका--केवल अवयवशक्तिसे ही यदि 'पंकज' पदका

(कुमुद) श्वेतउत्पलमें प्रयोग मान लिया जाय तो हानि क्या है ? समाधान—ऐसें स्थलमें प्राचीन लोग रूढिज्ञानको केवल यौगिकार्थज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक मानते हैं; इस लिये अवयवशक्तिसे 'पंकज' पदका श्वेतोत्पलमें प्रयोग मानना उचित नहीं.

वस्तुतस्तु समुदायशक्त्योपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति सान्निध्यात् । यत्र रूढ्यर्थस्य बाधः प्रीतसन्धीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः, यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्रावयवशक्तिमात्रेण निर्वाह इत्यप्याहुः । यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बोधः । यदि तु स्थलपङ्कजं विजातीयमेव तदा लक्षणैव । ३ ।

भाषा—और वास्तवमें तो यह वार्ता है कि—समुदायशक्तिद्वारा उपस्थित हुए पद्ममें अवयवार्थ पंकसे उत्पन्न होनेवालेका सान्निध्यसे अन्वय होता है. भाव यह कि—अवयवशक्तिसेभी प्रथम समुदायशक्तिद्वारा उपस्थितवस्तुहीका लाभ होता हैं और जिस स्थलमें रूढिशक्तिसे अर्थका बाध प्रतीत होवे अर्थात् अर्थ न बन सके वहां लक्षणावृत्तिसे कुमुदादि बोधमेंही वक्ताका तात्पर्य जानना उचित है और जहां कुमुदत्वेन रूपेण कुमुदके बोधमें वक्ताका तात्पर्य ज्ञान नहीं है और पद्मत्वेन रूपेण पद्मका जहां बाध प्रतीत हो रहा है वहां केवल अवयवशक्ति मात्रहीसे निर्वाह करना उचित है. ऐसेभी कहते हैं जहां कहीं (स्थल) सूकीभूमिमें उत्पन्न हुए पद्म आदिमें 'पंजक' शब्दके अवयवार्थका बाध प्रतीत हो वहां समुदायशक्तिहीसे पद्मत्वेन रूपेण पद्मका बोध होता है और यदि स्थलमें होनेवाला पद्म जलमें उत्पन्न हुए पद्मसे विलक्षण अभिमत होय तो उसमें 'पंजक' पदकी लक्षणाही माननी उचित है ॥ ३ ॥

यत्रावयवार्थरूढ्यर्थयोः स्वातंत्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम्, यथोद्भिदादिपदम् । तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोऽपीति । ४ ।

भाषा—एवं जिससे अवयवार्थका तथा रूढ्यर्थका स्वतन्त्ररूपसे बोध हो अर्थात् वस्तुविशेषको अवयवशक्तिसे तथा अन्यवस्तुविशेषको समुदायशक्तिसे बोधन करै वह पद 'यौगिकरूढ' है; ऐसे उद्भिद आदि पद हैं. यह 'उद्भिद' पद " ऊर्ध्वं भिनत्ति इति उद्भिद् " इस व्युत्पत्तिसे अवयवशक्तिद्वारा (तरुगुल्म) वृक्षलतादिक बोधक है और समुदायशक्तिसे उद्भिद् नामक यागका भी बोधक है—इति ॥ ४ ॥

लक्षणा शक्य सम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ॥ ८२ ॥

भाषा-शक्यके सम्बन्धविशेषका नाम लक्षणा है और तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणामें बीज है ॥ ८२ ॥

लक्षणा शक्यसम्बन्धः इत्यादि। गङ्गायां घोष इत्यादौ गंगापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोधः।

भाषा-जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था भेदसे लक्षणा दो प्रकारकी है. उसमें प्रथम कहते हैं-"गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्यस्थलमें गंगापदके शक्यार्थ प्रवाहमें (घोष) पदार्थ गोपालग्रामका अन्वय नहीं हो सकता और घोष पदार्थ गोपालग्रामका गंगापदके शक्यार्थ प्रवाहमें अन्वय करनेसे वक्ताका तात्पर्य भी नहीं बन सकता; क्योंकि जलप्रवाहमें गोपालग्रामकी स्थितिका ही असम्भव है,इसलिये 'गंगायां घोषः' इस वाक्यमें 'गंगा' पद स्वशक्यार्थ प्रवाहके तीरमें लाक्षणिक है; परम्परासम्बन्धसे स्वार्थबोधन करनेवाला पद लाक्षणिक होता है प्रकृतमें स्वशक्य संयोगरूप 'गंगा' पदका तीरसे परम्परा सम्बन्ध है, इसलिये गंगा पद लाक्षणिक है; ऐसे स्थलमें लक्षणावृत्तिहीसे तीरका बोध होता है.

सा च शक्यसम्बन्धरूपा। तथाहि। प्रवाहरूपशक्यार्थसम्बन्धस्य तीरे गृहीतत्वात्तीरस्य स्मरणं, ततः शाब्दबोधः। परंतु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्, यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्, तत्र च यष्टिप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा।

भाषा-वह लक्षणा शक्यका सम्बन्धरूप होती है. (तथाहि) वह ऐसे है कि-प्रवाहरूप जो शक्यार्थ उसका संयोगसम्बन्ध तीरके साथ गृहीतही है, 'गंगा' पदसे गंगातीरका स्मरण हुआ तदनन्तर 'गंगातीरे घोषः' यह शाब्दबोध हुआ परन्तु हरएक स्थलमें यदि अन्वयानुपपत्तिही लक्षणाका बीज मान लिया जाय तो 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यादि स्थलमें लक्षणा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि (यष्टि) लाठियोंमें प्रवेशरूप अन्वयकी अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् केवल लाठियोंका प्रवेशभी गृहमें बनसकता है परन्तु कहनेवालेने भोजनके तात्पर्यसे यष्टियोंके प्रवेशकी आज्ञा करी है. एवं केवल लाठियोंके प्रवेससे भोजनरूप तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेसे

'यष्टि' पदकी यष्टिधरमें लक्षणा करनी चाहिये अर्थात् वक्ता अपने भृत्यविशेषको यह कहता है कि, लाठीवाले साधुओंको भोजन जिमानेके लिये गृहके भीतर ले-जाओ इत्यादि. औरभी अनेक उदाहरणस्थल जहत्स्वार्थाके होसकते हैं.

एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वात् । एवं छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा । इयमेवाजहत्स्वार्था लक्षणेत्युच्यत एकसार्थवाहित्वेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्बोधात् ।

भाषा–एवं "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्, छत्रिणो यान्ति" इत्यादि स्थलोंमें 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' है. यहां 'काक' पदकी दधिके विघातक बिडालादि जीवमात्रमें लक्षणा है; क्योंकि यहां वक्ताका भृत्यादिके प्रति कहनेका तात्पर्य यह है कि–"दृष्टि रखना; काक या और कोई जीव दधिको भक्षण न करजावे" इति। एवं 'छात्रिणो यान्ति' इस स्थलमेंभी 'छात्रि' पदकी एकसार्थवाहित्व विशिष्टमें अर्थात् एकसाथ चलनेवाले पुरुषमात्रमें लक्षणा है; क्योंकि यहांभी छातेवाले पुरुषका तथा उनके साथियोंका एकसार्थवाहित्वेन रूपेण बोध होता है.

यदि चान्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा क्वचिद्गङ्गापदस्य तीरे क्वचिद्घोषपदस्य मत्स्यादौ लक्षणेति नियमो न स्यात् ।

भाषा–लक्षणास्थलमें यह नियम है कि–जिस स्थलमें जो पद वक्ताने जिस अर्थबोधनके तात्पर्यसे उच्चारण किया है, वह पद उसी अर्थमें अवश्य लाक्षणिक होता है, परन्तु यदि अन्वयानुपपत्ति लक्षणाका बीज मान लिया जाय तो कहीं 'गंगा' पदकी तीरमें आर कहीं 'घोष' पदकी मत्स्यादि जलजीवोंमें लक्षणा नहीं होनी चाहिये; क्योंकि 'गंगा' पदका तीरमें तात्पर्यग्रह स्थलमें एवं घोषपदका मत्स्यादिमें तात्पर्यग्रह स्थलमें घोषकी तीरमें तथा मत्स्यादिकोंकी प्रवाहमें अन्वयानुपपत्ति नहीं है.

इदं तु बोध्यम् । शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन तीरबोधः, यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम् ।

भाषा-(इदन्तु बोध्यम्) यहभी यहां जानने योग्य है कि-शक्यार्थ प्रवाहका सम्बन्ध यदि तीरत्वेन रूपेण तीरके साथ ग्रहण हुआ है तो शाब्दबोधभी तीरत्वेन रूपेण तीरहीका होगा और यदि गंगातीरत्वेन रूपेण तीरका सम्बन्ध गृहीत हुआहै तो शाब्दबोधभी गंगातीरत्वेन रूपेणही होगा.

अत एव लक्ष्यतावच्छेदके न लक्षणा, तत्प्रकारकबोधस्य तत्र लक्षणां विनाऽप्युपपत्तेः। परं त्वेवं क्रमेण शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न स्यात्, तत्प्रकारकशक्यार्थस्मरणं प्रति तत्पदस्य सामर्थ्यमित्यस्य सुवचत्वादिति विभावनीयम्।

भाषा-(अतएव) तद्धर्मविशिष्टमें लक्षणा ग्रहणको तिसी रूपसे पदार्थउपस्थिति तथा शाब्दबोधके प्रति हेतुता होनेहीसे लक्षतावच्छेदकतीरत्वादि धर्मोंमेंभी लक्षणा माननेका कुछ काम नहीं; क्योंकि तीरत्वादि धर्मप्रकारक तीरविशेष्यक बोध लक्षणासे विनाभी ऐसे स्थलमें उत्पन्न होसकताहै; परन्तु इसी क्रमसे शक्यतावच्छेदकमेंभी शक्ति नहीं माननी चाहिये; क्योंकि लक्षणास्थलकी तरह यहांभी "तत् घटत्वादिप्रकारक शब्दार्थ घटादिस्मरणके प्रति (तत्) घटादिपदका सामर्थ्य है" इत्याकारक नियम सुवच होसकताहै, परन्तु आचार्य्यलोगोंने लक्षतावच्छेदकमें लक्षणाको नहीं माना और शक्यतावच्छेदकमें शक्तिको मानाहै इसका क्या कारण है? (इति विभावनीयम्) यह वार्ता विद्वान् लोगोंको विचारणीय है. जहत्स्वार्थलक्षणाहीका भेद एक लक्षितलक्षणानामसे प्रसिद्ध है.

यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते तत्र लक्षितलक्षणा।

भाषा-जिस स्थलमें शक्यार्थका परंपरासम्बन्धरूपा लक्षणा है वह लक्षितलक्षणा कही जाती है जैसे "द्विरेफो रौति" इस स्थलमें द्विरेफादि पदमें रेफद्वयका सम्बन्ध 'भ्रमर' इस पदमें जाना जाता है और 'भ्रमर' पदका सम्बन्ध (भ्रमर मधुपजन्तुमें जाना जाताहै; ऐसे स्थलमें लक्षितलक्षणा होती है. "द्विरेफो रौति" इत्यादि स्थलमें 'स्ववाच्यरेफद्वयघटितपदवाच्यत्व' आदिरूप परम्परासम्बन्ध है.

किंतु लाक्षणिकं पदं नानुभावकं लाक्षणिकार्थस्य शाब्दबोधे तु पदान्तरं कारणम्, शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वि-

तत्स्वशक्यार्थशाब्दबोधं प्रति पदानां सामर्थ्यावधारणात्। वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाऽपि नास्ति।

भाषा–(किन्तु) परन्तु 'लाक्षणिक' पद (अनुभावक) शाब्दबोधका जनक नहीं है किन्तु लाक्षणिकार्थके शाब्दबोधमें (पदान्तर) घोषादि पदान्तर कारण हैं; क्योंकि शक्तिसम्बन्धसे या लक्षणासम्बन्धसे उपस्थित जो (इतरपदार्थ) तीरादि उस तीरादिके साथ अन्वित जो (स्व) घोषादिपद शक्यार्थ गोपालग्राम तादृश तीराद्यन्वित गोपालग्रामविषयक शाब्दबोधके प्रति (पदानाम्) घोषादि पदोंका सामर्थ्य निश्चय होता है; शक्त पदही होता है; वाक्य नहीं होता. इसलिये वाक्यमें शक्तिका अभाव होनेसे शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाभी वाक्यमें नहीं है.

यत्र गंभीरायां नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणा, गंभीरापदार्थस्य नद्या सहाभेदेनान्वयः क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात्।

शंका–"गम्भीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि वाक्यस्थलमें 'नदी' पदकी नदीतीरमें लक्षणा माननेसे गम्भीरपदार्थका नदीरूप पदार्थके एकदेशके साथ अन्वय मानना होगा अर्थात् नदीपदबोध्य जो 'नदीतीर' उसका एकदेश जो नदी उसके साथ 'गम्भीर' पदका अन्वय मानना होगा, परन्तु ऐसा माननेसे "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इस नियमके साथ विरोध होता है और "नीलो घटः" इत्यादि स्थलोंमें नीलपदार्थका घटपदार्थ एकदेश घटत्वादिमें अन्वय बोधवारणार्थ इस नियमका माननाभी आवश्यक है; इसलिये "गम्भीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि स्थलमें पदलक्षणाका असम्भव होनेसे वाक्यलक्षणाही माननी उचित है. समाधान–"गम्भीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि स्थलमें केवल 'नदी' पदकी नदीतीरमें लक्षणा है और गम्भीरपदार्थका नदीके साथ अभेदान्वय है अर्थात् गम्भीराभिन्न जो नदी तादृश नदीतीरमें घोष है; यह बोध हुआ. (क्वचित्) "चैत्रस्य गुरुकुलम्" इत्यादि स्थलविशेषोंमें एकदेश अन्वय भी विद्वान् लोगोंके अभिमत है. यहां चैत्रोत्तरवर्ति षष्ठयर्थसम्बन्धका गुरुके साथ अन्वय है.

यदि तत्रैकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तदा नदीपदस्य गंभीरनदीतीरे लक्षणा गम्भीरापदं तात्पर्यग्राहकम्। बहुव्रीहावप्येवम्। तत्र हि चित्रगुपदादौ यदैकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा गोपदस्य गोस्वामिनि लक्षणा गवि चित्राभेदान्वयः। यदि त्वेकदेशा-

न्वयो न स्वीक्रियते तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा चित्रपदं तात्पर्यग्राहकम् ।

भाषा-परन्तु यदि यहां एकदेशान्वय न स्वीकार होय तो " गम्भीरायां नद्यां घोषः " इत्यादि स्थलमें ' नदी ' पदकी गम्भीरनदीतीरमें लक्षणा करनी और ' गम्भीरपद ' " नदीपदं गम्भीरनदीतीरविषयकबोधजनकं भवतु " इत्याकारक वक्ताकी इच्छारूप जो तात्पर्य तादृश तात्पर्यका ग्राहक है. ऐसेही बहुव्रीहिसमासस्थलमेंभी वाक्यके अवयवहीमें लक्षणा माननी उचित है. " चित्रा गावो यस्यासौ चित्रगुः " इत्यादि बहुव्रीहिस्थलमें यदि एकदेशान्वय स्वीकृत होय तो 'गो'पदकी गैयोंके स्वामीमें लक्षणा करनी और 'चित्रा' पदार्थका गोपदार्थके साथ अभेदान्वय करना परन्तु यदि एकदेशान्वय न अभिमत होय तो गोपदकी चित्रगैयोंके स्वामीमें लक्षणा करनी और ' चित्र ' पदको पूर्वोक्त रीतिसे वक्तृतात्पर्यका ग्राहक समझना.

एवमारूढवानरो वृक्ष इत्यत्र वानरपदस्य वानरावेशकर्मणि लक्षणा, आरूढपदं च तात्पर्यग्राहकम् । एवमन्यत्रापि ।

भाषा-ऐसेही " आरूढो वानरोऽयमसौ आरूढवानरो वृक्षः " इत्यादि स्थलमें ' वानर ' पदकी वानरके आरोहणरूप कर्ममें लक्षणा करनी और पूर्वोक्तरीतिसे'आरूढ' पद वक्तृतात्पर्यका ग्राहक समझना यही क्रम और २ प्रयोगस्थलोंमें भी जानलेना.

तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा । तथाहि । राजपुरुषादिपदे राजपदार्थेन पुरुषादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्, अन्यथा राजा पुरुष इत्यत्रापि तथाऽन्वयबोधः स्यात् ।

भाषा-एवं तत्पुरुष समासस्थलमें पूर्वपदमें लक्षणा होती है अर्थात पूर्वपद लाक्षणिक होता है. (तथाहि) जैसे " राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः " इत्यादि षष्ठीतत्पुरुष समासस्थलमें राजपदार्थके साथ पुरुषपदार्थका साक्षात् सम्बन्धसे अन्वय नहीं है; क्योंकि अव्ययनिपातातिरिक्त नामार्थ नामार्थोंका भेद सम्बन्धसे अन्वय बोध (अव्युत्पन्न) असिद्ध है; (अन्यथा) यदि अव्ययनिपातातिरिक्त नामार्थ नामार्थोंका भी भेद सम्बन्धसे अन्वयबोध मानलिया जाय तो " राजा पुरुषः " इत्यादि स्थलोंमें भी भेदसम्बन्धसे अन्वय बोध होना चाहिये.

पटो न घट इत्यादौ घटपटाभ्यां नञः साक्षादेवान्वयान्निपातातिरिक्तेति नीलो घट इत्यादौ नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वयाद्भेदेनेति ।

भाषा—"घटो न पटः" इत्यादि स्थलमें घटपटके साथ नञ् अर्थभेदका साक्षातही अन्वय होताहै अर्थात् किसीप्रत्ययार्थके द्वारा नहीं होता; इसलिये नियममें निपातातिरिक्त कहा. नञ् निपात है, इसीसे इसके योगसे भेदेन अन्वयबोध होसकताहै. परन्तु निपातातिरिक्त नामार्थ नामार्थोंका भेदसम्बन्धसे अन्वयबोध नहीं होसकता "नीलो घटः" इत्यादि स्थलोंमें नामार्थनामार्थोंका अभेदसम्बन्धसे अन्वय होताहै; इसलिये नियममें भेदेन कहा अर्थात् निपातातिरिक्त नामार्थनामार्थका अभेदेन अन्वयबोध तो सिद्धही है परन्तु भेदसम्बन्धसे अन्वयबोध अव्युत्पन्न है एवं "राजपुरुषः" इत्यादिस्थलमेंभी निपातातिरिक्त नामार्थोंकी उपस्थिति होती है. यहांभी भेदेन अन्वयबोध नहीं होसकेगा और अभेदेन विवक्षित नहीं है इसलिये कोई उपायान्तर सोचना चाहिये.

न च राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तेः स्मरणं कल्प्यमिति वाच्यम् । अस्मृतविभक्तेरपि ततो बोधोदयात् । तस्माद्राजपदादौ राजसम्बन्धिनि लक्षणा, तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः । द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवः खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण बुध्यते तत्र न लक्षणा ।

शंका--"राजपुरुषः" इत्यादिस्थलमें राजपदोत्तरवर्ति लुप्त हुई षष्ठीविभक्तिके स्मरणकी कल्पना कर उस विभक्तिके सम्बन्धादि अर्थद्वाराही राजाका तथा पुरुषका परस्पर अन्वय होगा इसलिये पूर्वोक्त नियमके साथ विरोध नहीं है. समाधान—जिस पुरुषको विभक्तिका स्मरण नहींभी होता अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययानभिज्ञ पुरुषकोभी (ततो)"राजपुरुषः" इत्यादि वाक्यसे शाब्दबोधका उदय होना अनुभवसिद्ध है. (तस्मात्) इसलिये 'राजपुरुषः' इत्यादिस्थलोंमें राजादि पदोंकी राजसम्बन्धीमें लक्षणा मानके उस सम्बन्धीका पुरुषके साथ अभेदान्वय बोध मानना ही उचित है. एवं "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः" इत्याकारक शाब्दबोध होगा. एवं "धवखदिरौ च्छिन्धि" इत्यादि इतरेतरद्वन्द्वस्थलमें द्वितीयाविभक्तिके द्विवचनार्थ द्वित्वप्रकारसे धव तथा खदिर दोनोंका बोध होताहै इसलिये वहां लक्षणा माननेकी आवश्यकता नहीं है.

न च साहित्ये लक्षणेति वाच्यम्। साहित्यशून्ययोरपि द्वन्द्व-दर्शनात्।

मीमांसक–धव खदिर उभयमें रहनेवाला जो सहवृत्तित्वरूप साहित्य उस साहित्यके आश्रयमें यदि 'खदिर' पदकी लक्षणा मान लीजाय तो हानि क्या है? समाधान–सहवृत्तित्वरूप साहित्यसे शून्य हिम विन्ध्यादिपदार्थोंकाभी "हिमविन्ध्यौ" इत्याकारक इतरेतरयोगरूप द्वन्द्व देखा जाताहै इसालिये द्वन्द्वस्थलमें उत्तरपदकी साहित्याश्रयमें लक्षणा माननी उचित नहीं है.

न चैकक्रियान्वयित्वरूपं साहित्यमस्तीति वाच्यम्। क्रियाभेदेपि धवखदिरौ पश्य छिन्धीत्यादिदर्शनात् साहित्यस्याननुभवाच्च। तस्मात् साहित्यादिकं नार्थः। अत एव राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयातामित्यत्र लक्षणाभावाद्द्वन्द्व आश्रीयते तस्मात्साहित्यं नार्थः।किंतु वास्तवो भेदो यत्र तत्र द्वन्द्वः।

शंका–हम सहवृत्तित्वरूप साहित्यके तात्पर्यसे यहां लक्षणा नहीं कहते, किन्तु एकक्रियान्वयित्वरूप साहित्यके तात्पर्यसे कहते हैं. एवं छेदनरूपा जो एक क्रिया तादृश एकक्रियाअन्वयित्व धव तथा खादिर उभयमें विद्यमान है इस रीतिसे एकक्रियान्वयित्वरूप साहित्यके आश्रयमें 'खदिर' पदकी लक्षणा मान लीजाय तो क्या हानि है? समाधान–"धवखदिरौ छिन्धि पश्य" इत्यादि प्रयोगस्थलमें क्रियाके भेद होनेसेभी द्वन्द्व देखाजाता है. भाव यह कि-एक क्रियान्वयित्वरूप साहित्य यदि नियमसे इतरेतरयोगद्वन्द्वस्थलमें रहे तो उसके आश्रयमें 'खादिर' पदकी लक्षणाभी मान लीजाय; परन्तु उसका तो "धवखदिरौ।छिन्धि पश्य" इत्यादि क्रियान्वयस्थलमें व्यभिचार प्रतीत होताहै. इसलिये साहित्यमें लक्षणा माननी उचित नहीं और वास्तवमें एकक्रियान्वयित्वरूप साहित्यका "धवखदिरौ छिन्धि" इत्यादिवाक्यके शाब्दबोधमें अनुभवभी नहीं होता. (अतएव) द्वन्द्वस्थलमें लक्षणाके अभाव होनेसेही 'राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्–अर्थात् सायुज्यमुक्तिकी कामनावाले राजा तथा पुरोहित दोनों यजन करें" इत्यादि वाक्यस्थलमें लक्षणाके अभावसे द्वन्द्वका आश्रयण पूर्व आचार्यलोगोंने कियाहै. (तस्मात्) इसलिये साहित्य किसी पदका अर्थ नहीं है किन्तु पदार्थद्वयका जहां वास्तवभेद होताहै वहां द्वन्द्वसमास होता है.

न च नीलघटयोरभेद इत्यादौ कथमिति वाच्यम् । तत्र नील-पदस्य नीलत्वे घटपदस्य घटत्वे लक्षणा, अभेद इत्यस्य चाश्रयाभेद इत्यर्थात् । समाहारद्वन्द्वे तु यदि समाहारोऽप्य-नुभूयत इत्युच्यते तदाऽहिनकुलमित्यादौ परपदेऽहिनकुलस-माहारे लक्षणा पूर्वपदं तात्पर्यग्राहकम् ।

शंका–" नीलो घटः–इत्यत्र नीलघटयोरभेदः " इत्यादिवाक्यस्थलमें " नील-घटयोः " यह द्वन्द्व कैसे हुआ ? अर्थात् यह वाक्य असंगतभी नहीं और समा-सभी " नीलश्च घटश्च नीलघटौ, तयोः नीलघटयोः " नीलो घटः" इत्यत्राभेदः " यही मानना होगा. फिर वास्तवसे पदार्थद्वयभेदस्थलमें द्वन्द होता है यह नियम आपका कहां रहा ? समाधान–ऐसे स्थलमें ' नील ' पदकी नीलत्वमें तथा 'घट' पदकी घटत्वमें लक्षणा मानकर द्वन्द्व हुआ है और 'अभेद' यह शब्द आश्रयाभेदका बोधक है अर्थात् ' नीलत्वघटत्वाश्रययोरभेदः " यह वाक्यार्थ हुआ. एवं समाहार-द्वन्द्व स्थलमें यदि किसी विद्वान्को (समाहार) समुच्चयका अनुभवभी होता होय तो ' अहिनकुलम् ' इत्यादि वाक्योंमें (पर) नकुलादिपदोंकी अहिनकुलसमा-हारमें लक्षणा माननी और (पूर्व) अहिआदि पदको पूर्वोक्त रीतिसे तात्पर्यका ग्राहक जानना उचित है.

न च भेरीमृदंगं वादयेत्यत्र कथं समाहारस्यान्वयः, अपेक्षा-बुद्धिविशेषरूपस्य तस्य वादनासम्भवादिति वाच्यम् । पर-म्परासम्बन्धेन तदन्वयात् ।

शंका–" भेरीमृदङ्गं वादय" इत्यादि स्थलमें समाहारका वादन क्रियामें अन्वय कसे होगा ? क्योंकि अनेक पदार्थोंमें एकत्वावगाहन करनेवाली अपेक्षा बुद्धिहीं विशेषरूप समाहारका वादन नहीं बनसकता. भाव यह कि–अभिघाताख्य संयो-गावच्छिन्नक्रिया वादनपदार्थ है. सो उसका अपेक्षाबुद्धिविशेषरूप समाहारमें होना ही असंभव है. समाधान–ऐसे स्थलमें ' स्वाश्रयवृत्तित्व' रूप परम्परासम्बन्ध मानके वादनक्रियाका समाहारमें अन्वय है. यहां 'स्व' शब्दसे अपेक्षाबुद्धिविशेष-रूप समाहार, उसका आश्रयविषयतासम्बन्धसे भेरीमृदङ्गादि तद्वृत्तित्व वादन-रूपा क्रियाको इति एतादृशपरम्परासम्बन्धसे अन्वय होसकता है ।

एवं पञ्चमूलीत्यादावपि । परे त्वहिनकुलमित्यादावहिर्नकुलश्च बुध्यते प्रत्येकमेकत्वान्वयः, समाहारसंज्ञा च यत्रैकत्वं नपुं-

सकत्वं च प्राणितूर्येत्यादिसूत्रेणोक्तं तत्रैव, अन्यत्रैकवचनमसाध्विति इत्याहुः ।

भाषा-एवं "पञ्चमूली" इत्यादि द्विगुअर्थसमाहारस्थलमेंभी उत्तरपदकी समाहारमें लक्षणा तथा पूर्वपदको तात्पर्य ग्राहकत्व मानना उचित है और (परे तु) नवीन नैयायिक तो यह मानते हैं कि-"अहिनकुलम्" इत्यादि स्थलमें अहि तथा नकुल दोनोंका बोध होता है किन्तु समाहारका बोध नहीं होता और एकवचन बोधित एकत्वसंख्याका अहि तथा नकुल प्रत्येकके साथ अन्वय है; इसलिये 'अहिनकुलम्' इत्यादि लक्ष समाहारद्वन्द्वका नहीं है; किंतु समाहारसंज्ञा वहां होती है. जहां एकवचनान्तता तथा नपुंसकता "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य्यसेनाङ्गानाम् २। ४। २।" इत्यादि सूत्रसे बोधित होय. एवं समाहारके उदाहरण "पाणिपादम्" इत्यादि जानने चाहिये. एवम् (अन्यत्र) समाहारातिरिक्त द्वन्द्वस्थलमें यदि एकवचन होय तो असाधु जानना चाहिये (इत्याहुः) यह सब नवीनोंका कथन है।

पितरौ श्वशुरावित्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्योः श्वशुरपदे स्त्रीजनकदम्पत्योर्लक्षणा । एवमन्यत्रापि । घटा इत्यादौ तु न लक्षणा, घटत्वेन रूपेण नानाघटोपस्थितिसम्भवात् ।

भाषा-एवं "पितरौ, श्वशुरौ" इत्यादि एकशेष समासस्थलमें 'पितृ' पदकी पुरुषके जनक माता पिता दोनोंमें लक्षणा तथा 'श्वशुर' पदकी स्त्रीके जनक माता पिता दोनोंमें लक्षणा है. ऐसेही और स्थलोंमेंभी जानलेना 'घटाः' इत्यादि प्रयोगस्थलमें लक्षणया नानाघटकी उपस्थिति नहीं है किंतु 'घट' पद उच्चारणसे घटत्वेन रूपेण ही नानाघट उपस्थितिका संभव होसकता है।

कर्मधारयस्थले तु नीलोत्पलमित्यादावभेदसम्बन्धेन नीलपदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकारः तत्र च न लक्षणा, अत एव निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र न तत्पुरुषो लक्षणापत्तेः किंतु कर्मधारयो लक्षणाभावात् ।

भाषा-एवं "नीलोत्पलम्" इत्यादि कर्मधारयसमासस्थलमें नीलपदार्थ उत्पलपदार्थमें अभेदसम्बन्धसे प्रकार है. इसलिये यहांभी लक्षणा नहीं है. (अतएव) कर्मधारयस्थलमें लक्षणा नहीं है इसलिये "निषादस्थपतिं याजयेत्" इत्यादि श्रुतिवाक्यस्थलमें "निषादानां स्थपतिः निषादस्थपतिः" इत्याकारक तत्पुरुषसमासका आश्रयण विद्वान् लोगोंने नहीं किया है, क्योंकि तत्पुरुष माननेसे पूर्वोक्त

रीतिसे तत्पुरुषस्थलमें लक्षणाभी माननी पडेगी और लक्षणा जघन्यवृत्ति है. यदि प्रकारान्तरसे शक्तिवृत्तिसे निर्वाह होय सके तो लक्षणा माननी उचित नहीं. एवं "निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति निषादस्थपतिः" इत्याकारक कर्मधारयसमासही मानना उचित है; क्योंकि लक्षणा नहीं माननी पडती.

न च निषादस्य सङ्करजातिविशेषस्य वेदानधिकाराद्याजनासंभव इति वाच्यम्, निषादस्य विद्याप्रयुक्तेस्तत एव कल्पनात्।

शंका—'स्थपति' शब्द स्वामीका वाचक है. एवम् इस वाक्यमें कर्मधारयसमास माननेसे निषादरूप स्थपतिकाही बोध होगा; परन्तु उसका प्रकृतमें उपयोग नहीं क्योंकि निषादनामक संकरजातिविशेषको "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" इस वचनसे वेदपाठनका अधिकार नहीं और अध्ययनविधि सिद्धज्ञानके न होनेसे उसको याजनभी नहीं बन सकता. इसलिये तत्पुरुषसमासद्वाराही निषादोंके स्वामी किसी ब्राह्मण या क्षत्रियका ग्रहण करना उचित है. एवम् उसको याजनके सम्भव होनेसे वाक्य सार्थक होसकता है. समाधान—निषादको याजनके लिये यथासम्भव वेदविद्याप्रयुक्त भी होना चाहिये. इस वार्ताकी कल्पनाभी हम (तत एव) निषादके प्रति श्रुतिबोधित याजनानुपपत्तिसेही कर सकते हैं.

लाघवेन मुख्यार्थस्यान्वये तदनुपपत्त्या कल्पनायाः फलमुखगौरवस्याऽदोषत्वादिति।

शंका—निषादको वेदविद्याकी कल्पना करनेमें आपको गौरव होगा. समाधान-कर्मधारयसमासद्वारा प्रथम मुख्यार्थके साथ अन्वय होनेके पीछे उस अन्वयकी अनुपपत्तिसे निषादको विद्याकी कल्पना करनी फलमुखगौरव है; इसलिये वह दोषकर नहीं है.

उपकुम्भमर्द्धपिप्पलीत्यादौ परपदे तत्सम्बन्धिनि लक्षणा पूर्वपदार्थप्रधानतया चान्वयबोध इति। इत्थं च समासे न क्वापि शक्तिः पदशक्त्यैव निर्वाहादिति।

भाषा—एवम् "उपकुम्भम्, अर्द्धपिप्पली" इत्यादि प्रयोगस्थलोंमें कुम्भपिप्पली आदि परपदोंकी कुम्भपिप्पली आदिके सम्बंधिमें लक्षणा माननी एवं "कुम्भसम्बन्ध्यभिन्नं समीपम्" तथा "पिप्पलीसम्बन्ध्यभिन्नमर्द्धम्" इत्याकारक पूर्वपदार्थप्रधान शाब्दबोध ऐसे स्थलोंमें हो सकते हैं. (इत्थश्च) इस पूर्वोक्त रीतिसे वैयाकरणोंके अभिमतसमासमें शक्ति कहींभी नहीं बन सकती; क्योंकि हरएक स्थलमें समासघटकीभूत पदशक्तिलक्षणाहीसे निर्वाह होसकताहै—इति।

आसत्तिर्योग्यताऽऽकांक्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते ॥८२॥ कारणं-

भाषा-आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा और तात्पर्यज्ञान ये चार शाब्दबोधमें कारण हैं।

आसत्तिरित्यादि । आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकांक्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम् ।

भाषा-अर्थात् आसत्तिका ज्ञान योग्यताका ज्ञान आकांक्षाका ज्ञान और वक्ताके तात्पर्यका ज्ञान ये चार ज्ञान शब्दमात्रके शाब्दबोधमें कारण हैं.

तत्रासत्तिपदार्थमाह, सन्निधानं त्विति-

भाषा-उनमें 'सन्निधानन्तु' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आसत्तिपदार्थको कहते हैं.

-सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते ।

भाषा-पदोंकी परस्पर (सन्निधि) समीपताका नाम 'आसत्ति' है.

यत्पदार्थस्य यत्पदार्थेनान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः कारणम् । तेन 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादि न शाब्दबोधः ।

भाषा-जिस पदार्थका जिस पदार्थके साथ अन्वय अपेक्षित होय उन दोनोंकी पदोंद्वारा (अव्यवधानेन) अव्यवहितरूपसे उपस्थितिभी शाब्दबोधमें कारण है. इसलिये "गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन" इत्यादि वाक्योंसे शाब्दबोध नहीं होता है; क्योंकि यहां गिरिपदार्थ तथा भुक्तपदार्थ परस्पर अन्वयबोध वक्ताके तात्पर्यका विषय नहीं है. किन्तु गिरिपदार्थ तथा अग्निपदार्थका परस्पर अन्वयबोध वक्ताके तात्पर्यका विषय है परन्तु वे दोनों परस्पर अव्यवहित नहीं हैं एवं ऐसे स्थलमें आसत्तिके न होनेसे शाब्दबोधभी नहीं होता.

'नीलो घटो द्रव्यं पटः' इत्यादावासत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधः। आसत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः ।

भाषा-एवं जहां "नीलो घटो द्रव्यं पटः" इत्यादि वाक्यस्थलमें नीलपदार्थ तथा पटपदार्थके परस्पर अन्वयबोधमें वक्ताका तात्पर्य है;वहां 'नील' पदकी तथा 'घट' पदकी भी परस्पर आसत्ति नहीं है.भाव यह है कि-वक्ताके तात्पर्यविशिष्ट पदार्थोंकी परस्पर

सन्निधिका नाम 'आसत्ति' है. प्रकृतमें वक्ताका तात्पर्य तो 'नील'पदार्थका 'पट'पदार्थके साथ अन्वयबोधका है और पदोंका परस्पर सन्निधान 'नील' पदका 'घट' पदके साथ है; वह सन्निधान वक्तृतात्पर्यशून्य होनेसे आसत्ति नहीं कहासकता, परंतु ऐसे स्थलमें "नीलाभिन्नो घटः" इत्यादि शाब्दबोध श्रोताको होता है वह केवल आसत्तिके भ्रमसे समझना चाहिये. आसत्तिके भ्रमसे शाब्दबोधमें भ्रम नभी होय तो हानि नहीं है.

ननु यत्र 'छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः' इत्युक्तं तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तत्तत्पदस्मरणासम्भव इति चेत्। न। प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमस्य तावत्पदविषयकस्मरणस्याव्यवधानेनोत्पत्तेः।

शंका—आपने अव्यवधानसे पदोंकी उपस्थिति शाब्दबोधमें कारण कही; परंतु जहां "छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः" इत्याकारक अनेकपदघटित वाक्य वक्ताने कहा है वहां (२७ वीं कारिका) की व्याख्यामें प्रोक्त आपके "योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तिगुणनाश्यत्वात्" इस सिद्धान्तानुसार उत्तरपदके स्मरणसे पूर्वपदके स्मरणका नाश होनेसे अव्यवधानरूपसे उत्तरपदके स्मरणका असम्भव है. समाधान—हरएक पदके अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारोंसे अन्तमें होनेवाले पदविषयक स्मरणका अव्यवधानसे होना सम्भव है.

नानासन्निकर्षैरेकप्रत्यक्षस्येव नानासंस्कारैरेकस्मरणोत्पत्तेरपि सम्भवात्। तावत्पदसंस्कारसहितचरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्। कथमन्यथा नानावर्णैरेकपदस्मरणम्।

भाषा—जैसे एकही कालमें घटचक्षुःसंयोग तथा पटचक्षुःसंयोगरूप नाना सन्निकर्षोंसे "इमौ घटपटौ" इत्याकारक एकही प्रत्यक्ष होता है; वैसेही नाना संस्कारोंसे एक स्मरणकी उत्पत्तिभी होसकती है; इसमें कोई बाधक नहीं है. पूर्वपदोंके संस्कारसहित जो अन्तिम वर्णका ज्ञान वही उस स्मरणमें उद्बोधक है. यदि नानासंस्कारोंको एक स्मरणजनकता न मानी जाय तो (कथमन्यथा) नानावर्णोंके प्रत्येक संस्कारोंसे नानावर्णगोचर एकपदका स्मरणभी कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होना चाहिये. एवं ऐसे माननेसे सर्वत्र शाब्दबोधकी अनुपपत्ति होगी; इसलिये हरएक स्थलमें पदजन्य पदार्थोपस्थिति समूहालम्बनात्मकही शाब्दबोधमात्रमें कारण माननी उचित है.

परंतु तावत्पदार्थानां स्मरणादेकदैव खले कपोतन्यायात् ताव-

त्पदार्थानां क्रियाकर्मभावेनान्वयबोधरूपः शाब्दबोधो भवतीति केचित् । "वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत् पतन्ति ॥ तथैव सर्वे युगपत् पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति" ।

भाषा-(परन्तु) यहां कई एक प्राचीन लोग ऐसे मानते हैं कि-उन उन पदजन्य पदार्थोंके स्मरणसे एककालावच्छेदेन ही 'खले कपोतन्याय' से उन उन पदार्थोंका क्रियाकर्मभावसे अन्वयरूप शाब्दबोध होजाता है अर्थात् जैसे वृद्ध युवा तथा बाल अवस्थाके (कपोत) कबूतर (खले) सबीज केदारमें सभी एकही कालमें ऊपरसे उड़ते २ गिरते हैं, वैसेही सभी पदार्थ एकही कालमें उपस्थित हुए परस्पर अन्वयको प्राप्त होते हैं-इति ।

अपरे तु "यद्यत्राकांक्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते । तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते" तथा च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्यप्याहुः। एतेन तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटोऽपि निरस्तः । तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तेरिति ।

भाषा-(अपरे तु) दूसरे एक आचार्य ऐसा कहते हैं कि--जो जो पद परस्पर आकांक्षा योग्यता तथा सान्निधिके युक्त हैं, उन उन पदोंके साथ अन्वित हुआ पदार्थभी उन पदोंसेही ज्ञात होजाता है. (तथा च) एवं खण्डवाक्यार्थबोधके अनन्तर अर्थात् पदजन्य पदार्थबोधके अनन्तर वैसेही पदार्थस्मरणद्वारा महावाक्यार्थबोध होता है. इस पूर्वोत्तर कथनसे वैयाकरणोंके अभिमत जो (वर्णाभिव्यङ्ग्य) वर्णोंसे बोधित पदस्फोट उसकाभी निरास जानलेना चाहिये; क्योंकि पूर्व पूर्व वर्णोंके संस्कारसहित जो अन्तिम वर्णका उपलाभ, उस उपलाभको पदका व्यञ्जक माननेसेभी निर्वाह होसकता है.

इदं तु बोध्यम् । यत्र द्वारमित्युक्तं तत्र पिधेहीति पदस्य ज्ञानादेव बोधो न तु पिधानादिरूपार्थज्ञानात्, पदजन्यपदार्थोपस्थितेस्तच्छाब्दबोधे हेतुत्वात् । किंच क्रियाकर्मपदानां तेन तेनैव सह साकांक्षत्वात् तेन क्रियापदं विना कथं शाब्दबोधः स्यात् ।

भाषा-(इदन्तु बोध्यम्) इतना यहां औरभी विशेष जानना उचित है कि जहां वक्ताने 'द्वारम्' इतना मात्र कहा है, वहां (पिधेहि) अर्थात् 'बन्द करो' इत्यादि पदके ज्ञानहीसे शाब्दबोध होता है किन्तु द्वारके (पिधान) निरोधनादिरूप अर्थज्ञानसे शाब्दबोध नहीं होता;क्योंकि 'तत्तत्' पदजन्य 'तत्तत्' पदार्थ उपस्थितिको तत्तत् शाब्दबोधमें हेतुता निश्चित है. (किञ्च) क्रियाकर्मादि पदोंकी उस उस विशेष रूपहीसे परस्पर अकांक्षा देखनेमें आती है किन्तु "द्वारं कर्मत्वं, पिधानं कृतिः" इत्याकारक विपरीत वाक्य योजनासे द्वारकर्मक पिधानात्मकान्वयबोध नहीं होसकता एवं प्रकृतमेंभी 'पिधेहि' इस क्रियापदके विना केवल 'द्वारम्' इस पदसे शाब्दबोध होना दुर्घट है.

तथा पुष्पेभ्य इत्यादौ स्पृहयतीति पदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहार आवश्यकः।

भाषा-ऐसेही यदि 'स्पृहयति' इत्यादि क्रियापदका अध्याहार न किया जाय तो 'पुष्पेभ्यः' इत्यादि कर्मपदोंमें चतुर्थीविभक्तिका होनाभी दुर्घट है अर्थात् "स्पृहेरीप्सितः। १।४।३६।" इस अनुशासनसे कर्मत्वार्थक चतुर्थीका 'स्पृहयति' आदिके योगहीसे विधान किया है; इसलिये हरएक साकांक्षित स्थलमें पदका अध्याहार अवश्य करना चाहिये.

योग्यतां निर्वक्ति, पदार्थ इत्यादिना-

भाषा-'पदार्थे' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार योग्यताका निरूपण करता है-

पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता ॥ ८३ ॥

भाषा-एक पदार्थमें अपर पदार्थवत्ताका नाम योग्यता कहा है ॥ ८३ ॥

एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः । तज्ज्ञानाभावाच्च 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादौ न शाब्दबोधः।

भाषा-अर्थात् एक पदार्थमें अपरपदार्थके सम्बन्धविशेषका नाम योग्यता है. उस योग्यताका ज्ञान जहां "वह्निना सिञ्चति" इत्यादि वाक्योंमें नहीं होता वहां शाब्दबोधभी नहीं होता अर्थात् सेचनक्रियाकी जलमें योग्यता है वह्निमें नहीं; इस लिये यहां शाब्दबोध नहीं होता.

नन्वेतस्या योग्यताया ज्ञानं शाब्दबोधात्प्राक् सर्वत्र न सम्भवति वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेत् । न । तत्तत्पदार्थस्मरणे

सति कचित्संशयरूपस्य कचिन्निश्चयरूपस्यापि योग्यताया ज्ञानस्य सम्भवात्।

शंका-हरएक स्थलमें वाक्यार्थबोध अपूर्वही होता है; परन्तु योग्यताके प्रथम कारणता माननेमें शाब्दबोधमें वह अपूर्वता नहीं रहती. इसलिये योग्यताज्ञानको शाब्दबोधके पहले हरएक स्थलमें कारण माननेका कुछ काम नहीं है. समाधान-हरएक स्थलमें 'तत्तत्' पदजन्य 'तत्तत्' पदार्थके स्मरण होनेसे योग्यताका ज्ञान कहीं संशयरूपसे और कहीं निश्चयरूपसे शाब्दबोधके पूर्व अवश्य विद्यमान रहता है.

नव्यास्तु योग्यताया ज्ञानं न शाब्दज्ञाने कारणम्, वह्निना सिञ्चति इत्यादौ सेके वह्निकरणकत्वाभावरूपाऽयोग्यतानिश्चयेन प्रतिबन्धान्न शाब्दबोधः। तदभावनिश्चयस्य लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दबोधं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वं सिद्धम्। योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बोऽसिद्ध इति वदन्ति ॥ ८३ ॥

भाषा-और नवीन लोग तो यह कहतेहैं कि-योग्यताका ज्ञान शाब्दबोधमें कारणही नहीं है. "वह्निना सिञ्चति"इत्यादि स्थलमें सेचनाक्रियामें वह्निकरणकत्वाभावरूप अर्थात् सेचनरूपा क्रिया वह्निसे नहीं होसकती इत्याकारक जो अयोग्यताका निश्चय एतादृश निश्चयको विपरीत शाब्दबोधके प्रति प्रतिबन्धकता है; क्योंकि पूर्वबाधस्थल उक्तरीतिसे अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावका निश्चय लौकिकसन्निकर्षाजन्य तथा दोषविशेषाजन्य ज्ञानमात्रके प्रति प्रतिबन्धक है इसलिये शाब्दज्ञानके प्रतिभी प्रतिबन्धक होसकता है और योग्यताज्ञानके विलम्बसे शाब्दबोधमें विलम्बभी किसी स्थलविशेषमें सिद्ध नहीं है, इसलिये योग्यताका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण नहीं है-इति ॥ ८३ ॥

आकांक्षां निर्वक्ति, यत्पदेनेत्यादि-

भाषा-'यत्पदेन' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार आकांक्षाको कहते हैं-

यत्पदेन विना यस्याऽननुभावकता भवेत्।
आकांक्षा-

भाषा-जिस पदसे विना जिस पदमें (अननुभावकता) शाब्दबोधजननकी असमर्थता है उस पदकी उस पदके साथ आकांक्षा है.

येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकांक्षेत्यर्थः । क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकांक्षा ।

भाषा–अर्थात् जिस ' क्रियादि ' पदसे विना जिस ' कर्मादिकारक ' पदका अन्वय बोध नहीं हो सकता उस क्रियापदके साथ उस ' कारक ' पदकी आकांक्षा है. क्रियापदसे विना केवल ' कारक ' पद अन्वय बोधका जनक नहीं होता. इसलिये ' क्रिया ' पदके साथ ' कारक ' पदकी आकांक्षा है.

वस्तुतस्तु क्रियाकारकपदानां सन्निधानमासत्त्या चरितार्थम् । परंतु घटकर्मताबोधं प्रति घटपदोत्तरद्वितीयाकांक्षाज्ञानं कारणम्, तेन घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ न शाब्दबोधः ।

भाषा–और वास्तवसे तो क्रियाकारकादिपदोंकी अव्यवधानरूपसे सन्निधि अंशका लाभ पूर्वोक्त आसत्तिसेही हो चुका है. इसलिये क्रियाकारक पदोंकी आकांक्षाका पृथक् वर्णन करना उचित नहीं है (परन्तु) तथापि प्रत्यक्षमें प्रकृति उत्तरत्वरूप आकांक्षाज्ञान आसत्तिसे पृथक्रूपेण शाब्दबोधमें कारण है; इसलिये आकांक्षा ज्ञानभी पृथक् कारण है. जैसे घटनिष्ठ कर्मताबोधके प्रति ' घट ' पदके व्यवहित उत्तर (अमादि) द्वितीयाविभक्तिरूप आकांक्षाका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण है एवं ' घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः ' इत्यादि विपरीत वाक्यस्थलमें " घटमानय " इत्यादि साकांक्षवाक्यके सदृश शाब्दबोध नहीं हो सकता.

'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादौ तु पुत्रेण सह राजपदस्य तात्पर्यग्रहात्तेनैव सहान्वयबोधः । पुरुषेण सह तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः स्यादेव ।

भाषा–एवम् "अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्" इत्यादि उभयाकांक्षावाक्य स्थलमें वक्ताके तात्पर्यज्ञानानुरोधसे शाब्दबोध होता है. भाव यह कि–यहां ' राज ' पद उत्तरसम्बन्धविशेषकी बोधिका षष्ठीविभक्ति राजपदार्थका पुत्र तथा पुरुष दोनोंमें अन्वयबोधन करती है. यदि पुत्रके साथ अन्वयमें वक्ताका तात्पर्य होय तो वाक्यार्थ यह होगा कि–'यह राजाका पुत्र आता है, आगेसे जनसमुदायको कनारे करो ' और यदि पुरुषके साथ अन्वयमें वक्ताका तात्पर्य होय तो वाक्यार्थ यह होगा कि–राजाका पुरुष आता है आगेसे अपने पुत्रको कनारे करो.

एवं ' पुत्र ' पदके साथ ' राज ' पदका तात्पर्यग्रह होनेसे पुत्रके साथही अन्वयबोध होता है और पुरुषके साथ तात्पर्यग्रह होनेसे पुरुषके साथही अन्वयबोध होता है-इति।

तात्पय निर्वक्ति, वक्तुरिच्छेति-

भाषा-'वक्तुरिच्छा ' इत्यादि ग्रंथसे तात्पर्यार्थ कहते हैं-

-वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

भाषा-वक्ताने श्रोताके प्रति यादृश वाक्यार्थबोधनकी इच्छासे वाक्योच्चारण किया है उस इच्छाका नाम तात्पर्य है ॥ ८४ ॥

यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा 'सैन्धवमानय' इत्यादौ क्वचिदश्वस्य क्वचिल्लवणस्य बोधो न स्यात्। न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनामेव शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, तेषामननुगमात्।

भाषा-शाब्दबोधमें यदि वक्ताका तात्पर्यज्ञान कारण न होय तो "सैन्धवमानय" इत्यादि वाक्योंसे कहीं यात्राप्रसंगमें 'अश्व' का तथा कहीं भोजनादिप्रसंगमें ' लवण ' का बोध होता है, वह नहीं हुआ चाहिये. शंका-वक्तृतात्पर्यके ग्राहक जो प्रकरणादि यदि उनहीको शाब्दबोधके प्रति कारण मानकर निर्वाह हो सकते तो पृथक् तात्पर्य माननेकी क्या आवश्यकता है ? समाधान-प्रकरणादिकोंका एकरूपसे अनुगम होना कठिन है.

तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु। इत्थं च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते।

शंका-वह सभी स्वस्वस्थलमें तात्पर्यज्ञानके जनक हैं इसलिये ' तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन ' उन सबका अनुगम हो सकता है. समाधान-ऐसे गुरुभूत अनुगमसे तो तात्पर्यज्ञानहीमें कारणता माननेमें लाघव है. (इत्थञ्च) ऐसेही वेदवाक्योंमें भी तात्पर्यज्ञानके लिये ईश्वरकी कल्पना हो सकती है.

न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यम्। सर्गादावध्यापकाभावात्। न च प्रलय एव नास्तीति कुतः सर्गादिरिति वाच्यम्। प्रलयस्यागमप्रतिपाद्यत्वात्।

शंका-वेदवाक्योंमें अध्यापक गुरुहीका तात्पर्यज्ञान शाब्दबोधमें कारण मान-लिया जाय तो हानि क्या है ? समाधान-प्रथमसृष्टिके आद्यकालमें अध्यापक कोई नहीं होता, वहां ईश्वरहीका तात्पर्य मानना उचित है. शंका-प्रपञ्चके प्रलय होनेके पीछे सर्गका आद्यकालका सम्भव हो सकता है, परन्तु प्रलयही तो नहीं होता; फिर सर्गका आद्यकाल कैसे हो सकता है ? समाधान-प्रलयका होना " नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्-अर्थात् एकप्रकाशरूप (ज्योतिः) चेतनके सिवाय दिन रात्रि आकाश भूमि इत्यादि और कुछ भी न होता भया " इत्यादि शास्त्रवचनसे सिद्ध है.

इत्थं च शुकवाक्येऽपीश्वरीयतात्पर्यज्ञानं, कारणम्, विसंवादिशुकवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तात्पर्यस्य ज्ञानं कारणम्।

भाषा-(इत्थञ्च) इस रीतिसे शाब्दबोधमात्रके प्रति तात्पर्यज्ञानको कारण होनेसे (शुक) तोते मैनादिके वचनोंमें भी ईश्वरहीके तात्पर्यज्ञानको कारण मानना उचित है अर्थात् तोते मैनाके उच्चारण किये श्लोकोंसे पुरुषको शाब्दबोध होता है परन्तु उनका तात्पर्य कुछ नहीं होता; इसलिये ऐसे वाक्यस्थलोंमें भगवत्तात्पर्यकी कल्पना करके कार्यकारणभावके सहचारका निर्वाह करना उचित है; परन्तु जहां शुकादिने ((विसंवादि) निष्फल प्रवृत्तिजनक मिथ्यावाक्य उच्चारण किया है वहां उसको सिखलानेवाले पुरुषका तात्पर्यज्ञानशाब्दबोधमें कारण जानना चाहिये.

अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्, तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः। वेदे त्वनादिमीमांसापरिशोधिततर्कैरेवार्थावधारणमित्याहुः ॥ ८४ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यां शब्दखण्डम् ॥ ४ ॥

भाषा-(अन्ये तु) और कई एक विद्वान् लोग यह कहते हैं कि-तात्पर्यज्ञानको हरएक स्थलमें कारणता नहीं है, किन्तु किसी नाना अर्थक "सैन्धवमानय" इत्यादि वाक्यविशेषहीमें हो सकती है. (तथाच) एवं शुकवाक्यसे वक्तृतात्पर्यज्ञानसे विनाभी शाब्दबोध होनेमें बाधा नहीं है और वेदवाक्योंमें भी ईश्वरका तात्पर्य माननेका कुछ काम नहीं, किन्तु (अनादि) गुरुपरम्परापरिप्राप्त (मीमांसा) लाघवज्ञानात्मकतर्ककी सहकारताहीसे अर्थका निश्चय हो सकता है-इति ॥ ८४ ॥

इति श्रीगोविन्दसिंहसाधुकृते आर्यभाषाविभूषितन्यायसिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशे शब्दपरिच्छेदः ॥ ४ ॥

अथ स्मृतिप्रक्रिया ।

पूर्वमनुभवस्मरणभेदाद्बुद्धेर्द्वैविध्यमुक्तम् । तत्रानुभवप्रकारा दर्शिताः, सुगमतया स्मरणं न दर्शितम्—

भाषा—पूर्व " बुद्धिस्तु द्विविधा मता " इत्यादि मूलसे अनुभव तथा स्मरण भेदसे बुद्धि दो प्रकारकी कही. उसमें अनुभवकी रीति तो प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति तथा शाब्द भेदसे चार प्रकारकी कह चुके. शेष रहा स्मरणका प्रकार सो वह सुगम है इसलिये पूर्व नहीं दिखलाया किन्तु अवसरसंगतिसे अब कहते हैं—

तत्र हि पूर्वानुभवः कारणम् । अत्र केचित् । अनुभवत्वेन न कारणत्वं किंतु ज्ञानत्वेनैव । अन्यथा सकृदनुभूतस्थले स्मरणानन्तरं स्मरणं न स्यात् समानप्रकारकस्मरणेन पूर्वसंस्कारस्य विनष्टत्वात् । मन्मते तु तेनैव स्मरणेन संस्कारान्तरद्वारा स्मरणान्तरं जन्यत इत्याहुः ।

भाषा—उस स्मरणात्मक ज्ञानमें पूर्वानुभव कारण है अर्थात् जो वस्तु पूर्व अनुभूत होय उसीका स्मरण हो सकता है और का नहीं. (केचित्) परन्तु यहां कइ एक विद्वान्लोग ऐसा कहते हैं कि—स्मरणके प्रति अनुभवत्वेन रूपेण अनुभवको कारणता नहीं किन्तु ज्ञानत्वरूप सामान्यधर्मसे कारणता माननी ही उचित है. (अन्यथा) यदि ज्ञानत्वरूप सामान्यधर्मसे कारणता न स्वीकार करीजाय तो एक वार देखी हुई वस्तुका स्मरणसे उत्तर फिर स्मरण नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि अनुभूत वस्तुके अनुभवका तथा उस अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारोंका समानप्रकारक स्मरणसे नाश हो चुका है अर्थात् यादृश वस्तुविषयक अनुभवजन्य संस्कार थे, उद्बोधक समवधानसे तादृश वस्तुविषयक स्मरण जननानन्तर स्वयं शान्त हो चुकेंगे तो स्मरणानन्तर स्मरण नहीं होना चाहिये, परन्तु होता तो नहीं है; क्योंकि बहुतसे ऐसे प्रिय पदार्थ हैं जिनके एकवार अवलोकनसे इस जीवको वे अनेकवार (स्मरण) याद आते हैं और मेरे मतमें तो यह दोष नहीं, क्योंकि मैं तो ज्ञानत्वेन रूपेण ज्ञानको कारणता मानता हूं. प्रथमसंस्कारोंसे जो स्मरण हुआ है वह भी एक ज्ञानही है. उस स्मरणसे फिर संस्कारोंकी उत्पत्ति, संस्करोंसे फिर स्मरण; ऐसे अनेकवार स्मरण हो सकता है.

तन्न । यत्र समूहालम्बनोत्तरं घटपटादीनां क्रमेण स्मरणमजनिष्ट, सकलविषयकस्मरणं तु नाभूत्,तत्र फलस्य संस्कारनाशकत्वाभावात् कालस्य रोगस्य चरमफलस्य वा संस्कारनाशकत्वं वाच्यम् । तथाच न क्रमिकस्मरणानुपपत्तिः ।

भाषा-(तन्न) यह मन्तव्य समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस स्थलमें पहले "घटपटमठाश्च" इत्याकारक समूहालम्बनात्मक अनुभव हुआ है और पीछे उद्बोधक समवधानसे घटपटादिका क्रमसे स्मरण हुआ है किंतु समूहालम्बनात्मक स्मरण नहीं हुआ ऐसे स्थलमें समानप्रकारक स्मरणरूप फलको संस्कारनाशकता नहीं है. इसलिये हरएक फलको संस्कारनाशकता माननी उचित नहीं किन्तु दीर्घकालको या दीर्घरोगको या (चरम) अंतिम फलको संस्कारनाशकता माननी उचित है. एवं जहां स्मरणउत्तर वारंवार फिर स्मरण होता है वहां जिसके अनन्तर स्मरणान्तर नहीं होता उस अन्तिमस्मरणकोही संस्कारनाशकता माननी उचित है; ऐसे माननेसे स्मरणउत्तर वारंवार स्मरणकी अनुपपत्ति नहीं है।

न च पुनःपुनः स्मरणाद् दृढतरसंस्कारानुपपत्तिरिति वाच्यम्। झटित्युद्बोधकसमवधानस्य दार्ढ्यपदार्थत्वात्।

शंका-एकही संस्कारोंसे पुनःपुनः स्मरण हुए उन संस्कारोंमें दृढतरता नहीं रहेगी अर्थात् फिर २ स्मरणरूप कार्यके जननसे वे संस्कार शिथिल पड़जायँगे. समा०-सादृश्यज्ञान एकान्तचिन्तनादि उद्बोधककी निर्विलम्ब सन्निधिही संस्कारोंमें दृढतरता है अर्थात् जिस पदार्थके संस्कार चित्तमें जमे हैं उसके जैसा पदार्थान्तर देखनेसे या उसको एकान्तमें फिर फिर चिन्तन करनेसे उसके संस्कार पक्के होजाते हैं.

न च विनिगमनाविरहादेव ज्ञानत्वेनापि जनकत्वं स्यादिति वाच्यम्। विशेषधर्मेण व्यभिचाराज्ञाने सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात्।

शंका-आपने स्मृतित्वावच्छिन्नके प्रति अनुभवत्वेन कारणता मानी और हम ज्ञानत्वेन मानते हैं, इनमें (विनिगमना) एक पक्षके कहनेवाली युक्तिके (विरहात्) न होनेसे यदि ज्ञानत्वेनभी जनकता मान ली जाय तो हानि क्याहै ? समा०-यदि विशेषधर्मसे कार्यकारणभावका व्यभिचार ज्ञात न होय तो सामान्यधर्मसे कार्यकारणभावकी कल्पना करनी निरर्थक है. यहां अनुभवत्वविशेष धर्म है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि चारहीमें रहताहै और ज्ञानत्व सामान्यधर्म है; क्योंकि वह भ्रम स्मरणादि सभी ज्ञानोंमें रहता है.

कथमन्यथा दण्डस्य भ्रमिद्वारा द्रव्यत्वेन रूपेण न कारणत्वम्।

भाषा-(कथमन्यथा) यदि सामान्यधर्मेणही कारणता स्वीकृत होय तो घटादि कार्यके प्रति दण्डको भ्रमीद्वारा द्रव्यत्वेनभी कारणता मान लेनी चाहिये भाव यह कि-यद्यपि दण्डमें दण्डत्व तथा द्रव्यत्व दो धर्म समनियतवृत्ति विद्यमान हैं, इस-

लिये द्रव्यत्वेनभी कारणताका मानना अनुचित नहीं तथापि ऐसा किसी विद्वान्को सम्मत नहीं. भाव यही कि-विशेषधर्मके होतसन्ते सामान्यधर्मसे कारणता कोई नहीं मानता.

न चान्तरालिकस्मरणानां संस्कारनाशकत्वसंशयाद्व्यभिचारसंशय इति वाच्यम् । अनन्तसंस्कारतन्नाशकल्पनापेक्षया लाघवेन चरमस्मरणस्यैव संस्कारनाशकत्वकल्पनेन व्यभिचारसंशयाभावात् ॥ ८४ ॥ ॥ इति स्मृतिप्रक्रिया ॥

शंका-अन्तिमस्मरणसे पहले बीचमें होनेवाले स्मरणोंसेभी संस्कारनाशकी शंका हो सकतीहै. एवं मध्यपातिस्मरणोंसे संस्कारनाशके सन्देह होनेसे स्मृतित्वावच्छिन्नके प्रति अनुभवत्वेन कार्यकारणभावके व्यभिचारकाभी सन्देह हो सकताहै. समा०-अनेक संस्कार और उनके नाशकी कल्पना करनेसे लाघवसे अन्तिम स्मरणहीको संस्कार नाशकता कल्पना करनी उचित है. एवं कार्यकारणभावके व्यभिचारका सन्देहभी नहीं होता-इति ॥ ८४ ॥ ॥ इति स्मृतिप्रक्रिया ॥

अथ मनोनिरूपणम् ।

इदानीं क्रमप्राप्तं मनो निरूपयति, साक्षात्कार इति-

भाषा-अब मूलकार निरूपणक्रमसे प्राप्त मनका 'साक्षात्कारे' इत्यादि ग्रन्थसे निरूपण करते हैं-

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते ।

भाषा-सुखदुःखादिके,साक्षात् करनेमें (करण) साधनको मन कहते हैं.

एतेन मनसि प्रमाणं दर्शितम् । तथाहि । सुखसाक्षात्कारः सकरणको जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषवदित्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः ।

भाषा-इस मूलग्रन्थसे मनमें अनुमानप्रमाण दिखलाया है. (तथाहि) सुखादिका साक्षात्कारजन्य साक्षात्कार है; इसलिये अवश्य किसी एक (करण) साधनसे जन्य है; जैसे घटादिका साक्षात्कार जन्यसाक्षात्कार है और नेत्रादि उसके कारणभी प्रसिद्ध हैं इत्याकारक अनुमान प्रमाणसे सुखादिके कारणात्मक मनकीसिद्धि होतीहै.

न चैवं दुःखादिसाक्षात्काराणामपि करणान्तराणि स्युरिति वाच्यम् । लाघवादेकस्यैव तादृशसकलसाक्षात्कारकरणतया सि-

द्धेः। एवं दुःखादीनामसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया मनःसिद्धिर्बोद्धव्या।

शंका–ऐसेही दुःखादिके साक्षात्कारकें लिये कारणान्तर मानने पडेंगे. समाधान–लाघवसें एक मनहीमें तादृश सभीके साक्षात्कारके प्रति कारणता सिद्ध हो सकतीहै इसलिये पृथक्२माननी उचित है. ऐसे ही सुखादिका असमवायिकारण जो संयोग उस संयोग आश्रयत्वेनभी मनकी सिद्धि होसकतीहै यहां अनुमान ऐसा करना कि–सुखदुःखाद्यसमवायिकारणं संयोगः प्रतियोगित्वेन क्वचिदाश्रितः मुख्यसम्बन्धत्वात्, समवायवत्"इस अनुमानसेभी मनकी सिद्धि होसकती है.

मनसोऽणुत्वे प्रमाणमाह, अयौगपद्यादिति–

भाषा–'अयौगपद्यात्' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार मनके अणुत्वमें प्रमाण कहते हैं–

अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥८५॥

भाषा–एक कालमें अनेक ज्ञानोंके न होनेसे मनमें अणुपनेका निश्चय होता है८५

ज्ञानानां चाक्षुषरासनादीनां यौगपद्यमेककालोत्पत्तिर्नास्तीत्यनुभवसिद्धम्। तत्र नानेन्द्रियाणां सत्यपि विषयसन्निकर्षे यत्सम्बन्धादेकेन्द्रियेण ज्ञानमुत्पद्यते यदसम्बन्धाच्च परैर्ज्ञानं नोत्पद्यते तन्मनः, तन्मनसो विभुत्वे चासन्निधानं न सम्भवतीति न विभु मनः।

भाषा–चाक्षुषरासनादि ज्ञानोंकी एककालावच्छेदेन उत्पत्ति नहीं होती यह वार्ता अनुभवसिद्ध है. वहां नेत्रादि नानाइन्द्रियोंका अपने २ विषयके साथ सम्बन्ध हुए भी जिसके सम्बन्धसे एक इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न होताहै और जिसके सम्बन्ध होनेसे और इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, वह मन है (तत्) वह असन्निधान मनके विभु माननेसे नहीं बनसकता, इसलिये मन विभु नहीं है.

न च तदानीमदृष्टविशेषोद्बोधकविलम्बादेव तज्ज्ञानविलम्ब इति वाच्यम्। तथा सति चक्षुरादीनामप्यकल्पनापत्तेः।

शंका–जिस किसी नेत्रादि विशेषइन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है वहां उस ज्ञानकें जनक अदृष्ट सहकारी हैं और जिन शेष घ्राणादि इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है वहां उसकालमें उन ज्ञानोंके उत्पादक अदृष्टविशेष उद्बोधकके विलम्बसेही ज्ञान उत्पत्तिमें विलम्ब समझना चाहिये. समाधान–(तथा सति) दृष्टसामग्रीके होत संतेभी यदि अदृष्ट विलम्बसे कार्यका विलम्ब अङ्गीकार होय तो चक्षुःआदि इन्द्रि-

योंकी कल्पनाकीभी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् एक अदृष्टकी कल्पनाही निर्वाह होय सकता है.

न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदा नानेन्द्रियज्ञानमिति वाच्यम् । मनसोऽतिलाघवात् त्वरया नानेन्द्रियसम्बन्धान्नानाज्ञानोत्पत्तेः । उत्पलशतपत्रभेदादिव-यौगपद्यप्रत्ययस्य तु भ्रान्तत्वात् ।

शंका-दीर्घ (शष्कुली) जलेबी आदिके भक्षणसे तथा नाना (अवधान) प्रतीतिभाजि पुरुषोंको कैसे एकही कालमें अनेक इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है ? भाव यह कि-गरम २ दीर्घ जलेबी आदिके भक्षणमें उसके मधुर रसका तथा गन्धका तथा कोमल उष्णस्पर्श आदिका एकही कालमें पुरुषको भान होता है. एवं एकही कालमें ज्ञानसम्बन्धि अनेक कार्य करनेवाले पुरुष भी इस संसारमें बहुत हैं. यदि मनअणु होय तो यह सब नहीं होना चाहिये समा०-मन अत्यन्त लघु तथा वेग-शाली है.इसलिये बहुत शीघ्र नाना इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होकर नाना ज्ञानोंकी उत्पत्ति होती है कमलशतपत्रभेदनकी तरह ज्ञानोंमेंभी यौगपद्यप्रत्यय भ्रमरूपही समझना चाहिये अर्थात् जैसे कमलके शतपत्रको नीचे ऊपर रखकर सूचीसे भेदन करें तो सूचीभेदन क्रमसेही होगा परन्तु अतिशीघ्र होनेसे प्रतीत होताहै कि,एकही कालमें हुआ ऐसेही ज्ञानोंमेंभी अत्यन्ताव्यवहित कालोत्पत्तिकत्वरूप दोषसे यौगपद्य उत्पत्ति होती है. वस्तुतः नहीं है.

न च मनसः संकोचविकाशशालित्वादुभयोपपत्तिरस्त्विति वा-च्यम् । नानावयवतन्नाशादिकल्पने गौरवाल्लाघवान्निरवयवस्या-णुरूपस्यैव मनसः कल्पनात् । इति संक्षेपः ॥ ८५ ॥

॥ इति द्रव्यपदार्थव्याख्या समाप्ता ॥

शंका-मनको संकोचविकाशस्वभाववाला मान लिया जाय तो एक तथा नाना उभय तरहके ज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है अर्थात् संकोचावस्थामें मनका एकही इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होता है इसलिये एकही ज्ञानका उत्पादक है और विकाशा-वस्थामें नाना इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होताहै इसलिये एकही कालमें नानाज्ञानका उत्पादकहै समा०-मनके नाना अवयव तथा उनके संकोच विकाश या ध्वंस प्राग-भावादि माननेमें अतिगौरव है इसलिये लाघवसे निरवयव अणुरूप मनकी क-ल्पनाही साध्वी है. यह संक्षेपसे मनका निरूपण है. ॥ ८५ ॥

॥ इति द्रव्यनिरूपणम् ॥

श्रीः।

अथ गुणपरिच्छेदः ५.

भाषाकारकृतमंगलाचरणम् ।

यं शरण्यं समाश्रित्य मादृशा निर्गुणा नराः ॥
सम्भवन्ति गुणागाराः सेव्योऽसौ नानको गुरुः ॥ १ ॥

द्रव्यं निरूप्य गुणं निरूपयति, अथेत्यादिना—

भाषा—द्रव्यपदार्थका निरूपण करके अवसरसंगतिके अभिप्रायसे ग्रन्थकार 'अथ' इत्यादि ग्रन्थसे गुणोंका निरूपण करते हैं—

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ॥

भाषा—सदाही द्रव्यके आश्रित रहनेवाले गुणक्रियाशून्योंका नाम 'गुण' है.

गुणत्वजातौ किं मानमिति चेत्, इदम् । द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना निरवच्छिन्नकारणताया असम्भवात्, नहि रूपत्वादिकं सत्ता वा तत्तावच्छेदिका न्यूनातिरिक्तदेशवृत्तित्वात् । अतश्चतुर्विंशत्यनुगतं किंचिद्वाच्यं तदेव गुणत्वमिति सिद्धम् ।

भाषा—यदि कोई पूछे कि—गुणत्वजातिमें क्या प्रमाण है? तो उसको (इदम्) यह करना चाहिये कि—द्रव्यकर्मसे भिन्न सामान्यवालेमें जो कारणता है वह कारणता होनेसे अवश्य किंचित् धर्मावच्छिन्ना हैं. जैसे घटनिष्ठ कार्यतानिरूपित दण्डगतकारणता दण्डत्वधर्मावच्छिन्ना है, ऐसेही निरवच्छिन्न कारणताका कहींभी सम्भव नहीं है.रूप रसादिमें रहनेवाले रूपत्व रसत्वादि धर्म या द्रव्य गुण कर्म तीनोंमें रहनेवाला सत्तारूप धर्म यावत् गुणनिष्ठ कारणताका अवच्छेदक नहीं होसकता, क्योंकि रूपत्वादि धर्म न्यूनदेशवृत्ति हैं और सत्ता अधिक देशवृत्ति है और अवच्छेदक नियमसे अन्यूनानातिरिक्तवृत्ति धर्मही होताहै. इसलिये चौवीस गुणोंमें अनुगत कोई एक धर्म अवश्य कहना चाहिये. वही 'गुणत्व' इस नामसे प्रसिद्ध होसकता है.

द्रव्याश्रिता इति । यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिव्याप्तेस्तथापि द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्तान्यजातिमत्त्वं

तदर्थः भवति हि गुणत्वं द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं तद्वत्ता च गुणानामिति ।

भाषा–(द्रव्याश्रिता इति) यद्यपि मूलोक्त 'द्रव्याश्रितत्व' इतनामात्र लक्षण नहीं बनसकता क्योंकि द्रव्याश्रयता गुणोंकी तरह कर्मोंमेंभी है. एवं गुणोंका लक्षण कर्मोंमें अतिव्याप्त होगा; तथापि द्रव्यत्वनिरूपित जो गुणनिष्ठ व्यापकता तादृश व्यापकताकी अवच्छेदक जो सत्तासे भिन्न 'गुणत्व' रूपा जाति तादृश जातिमत्त्व गुणोंमें सिद्ध है यही 'द्रव्याश्रिता' इत्यादि मूलका अर्थ है. द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकताका अवच्छेदक गुणत्वरूप धर्म होसकताहै और तादृश गुणत्वरूप धर्मवत्ता गुणोंमेंभी आसकती है.

कर्मत्वं द्रव्यत्वं वा न द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं गगनादौ द्रव्यकर्मणोरभावात् । द्रव्यत्वत्वं सामान्यत्वादिकं च न जातिरिति तद्व्युदासः ।

भाषा–द्रव्यत्व या कर्मत्वरूप धर्म द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकताके अवच्छेदक नहीं होसकते; क्योंकि यदि हरएक द्रव्यमें द्रव्य रहे या कर्म रहे तो द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकता उस द्रव्य या कर्ममें आवे तो उनमें रहनेवाले द्रव्यत्व या कर्मत्वरूप धर्मभी उस व्यापकताके अवच्छेदक बने परन्तु यह वार्ता तो है नहीं; क्योंकि आकाशादि पांचमें कोई द्रव्यान्तर समवायसम्बन्धसे नहीं रहता. एवम् आकाशादि चारमें कर्मभी नहीं रहता इसलिये द्रव्यत्व या कर्मत्वरूप धर्म द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकताके अवच्छेदक नहीं होसकते; द्रव्यत्वमें रहनेवाला द्रव्यत्वत्वरूप धर्म और सामान्यमें रहनेवाला सामान्यरूप धर्म जातिरूप नहीं है किन्तु उपाधिरूप है; इसलिये लक्षणमें 'जाति' पदके निवेशसे इन दोनोंका वारण समझना चाहिये.

निर्गुणा इति । यद्यपि निर्गुणत्वं कर्मादावपि । तथापि सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं बोध्यम् । जात्यादीनां न सामान्यवत्त्वं, कर्मणो न कर्मान्यत्वं, द्रव्यस्य न निर्गुणत्वमिति तत्र नातिव्याप्तिः ।

भाषा–(निर्गुणा इति) यद्यपि गुणशून्यता कर्मादिकोंमेंभी है, इसलिये गुणलक्षणकी कर्मादिमें अतिव्याप्ति होगी तथापि सामान्यवाला हो और कर्मसे भिन्न होकर जो निर्गुण हो वह गुण जानना चाहिये सामान्यविशेषादि सामान्यवाले नहीं

है. इसलिये उनका वारण हुआ और कर्म कर्मसे भिन्न नहीं है, इसलिये उसकाभी वारण हुआ और द्रव्य निर्गुण नहीं है इसलिये उसकाभीं वारण हुआ।

निष्क्रियेति स्वरूपकथनं, न तु लक्षणं गगनादावतिव्याप्तेः ।

भाषा–मूलमें 'निष्क्रियाः' यह गुणोंका लक्षण नहीं है किन्तु स्वरूपमात्रका कथन है, आकाशादिकोंमें अतिव्याप्ति दोषसे दुष्ट होनेसे इसको लक्षण मानना उचितभी नहीं।

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ॥ ८६ ॥
द्रवो गुरुत्वं स्नेहश्च वेगो मूर्त्तगुणा अमी ॥

भाषा–रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व ॥८६॥ द्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह तथा वेग, ये दश गुण मूर्तद्रव्यहीमें रहते हैं.

मूर्तगुणा इति । अत्र वेगेन स्थितिस्थापकोऽप्युपलक्षणीयः । अमूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः । लक्षणं तु तावदन्यान्यत्वमेवसंग्रेऽपि ।

भाषा–यहां वेगाख्य संस्कारसे स्थितिस्थापक संस्कारकाभी ग्रहण जानलेना अर्थात् वहभी मूर्तद्रव्यमेंही रहता है, यह सब अमूर्तद्रव्यमें कदापि नहीं रहते. इन सबका अनुगत एकलक्षण (तावत्) एतद्भिन्न भिन्नत्वरूपही जानना चाहिये अर्थात् इनसे भिन्न प्रपञ्चमात्रका भेद इन दशहीमें रहेगा ऐसेही आगेभी लक्षण समझलेने ।

धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च ॥८७॥
एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ॥

अमूर्तगुणा इति । मूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः ।

भाषा–धर्म, अधर्म, भावनाख्य संस्कार; शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ॥ ८७ ॥ ये दश गुण अमूर्त द्रव्यहीमें रहते हैं. ऐसे विद्वान् लोगोंका निश्चयपूर्वक कथन है अर्थात् ये मूर्तद्रव्योंमें कदापि नहीं रहते–इति ।

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः ॥८८॥

उभयेषामिति । मूर्तामूर्तगुणा इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषा–संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग, ये पांच गुण मूर्त तथा अमूर्त दोनों तरहके द्रव्योंमें रहते हैं ॥ ८८ ॥

संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा ॥
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः ॥ ८९ ॥

भाषा-संयोग, विभाग, द्वित्वादिसंख्या, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि चार गुण सर्वदा अनेकाश्रितही रहते हैं ॥ ८९ ॥

अनेकाश्रिता इति संयोगविभागद्वित्वादीनि द्विवृत्तीनि, त्रित्वचतुष्ट्वादिकं त्रिचतुरादिवृत्तीति बोध्यम् ॥ ८९ ॥

भाषा-यहां अनेक पद एकसे भिन्नमात्रका बोधक है. एवं संयोग विभाग द्वित्वादि दो द्रव्योंमें रहते हैं और त्रित्व चतुष्टादि तीनों चारोंमें रहते हैं ऐसे जानना चाहिये ॥ ८९ ॥

अतः शेषा गुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ॥

भाषा-इन चारसे (शेष) बाकी सभी गुण एक २ द्रव्यमें नियमसे रहते हैं.

अतः शेषा इति । रूपरसगन्धस्पर्शैकत्वपरिमाणैकपृथक्त्वपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दा इत्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, परिमाण, एकपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द ये २२ गुण एक एकही द्रव्यमें रहते हैं.

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ९०
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ॥

भाषा-बुद्धि आदि छः, तथा रूपादि स्पर्शान्त चार, एवं स्नेह तथा सांसिद्धिक द्रवत्व ॥ ९० ॥ अदृष्ट भावनाख्य संस्कार तथा शब्द ये सब १६ विशेष गुण कहलाते हैं.

बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना इत्यर्थः । स्पर्शान्ता रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यर्थः । द्रवो द्रवत्वम् ॥ ९० ॥

भाषा-बुद्धि,सुखदुःख,इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये षट् बुद्ध्यादि हैं;रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चार स्पर्शान्त हैं; 'द्रव' नाम द्रवणरूपा क्रियाकाभी है, उसके वारणार्थ 'द्रव्यत्व' यह विवरण किया है. यह निःसन्देह गुणविशेषका वाचक है ॥ ९० ॥

वैशेषिका इति। विशेषा एव वैशेषिकाः, स्वार्थे ठक्, विशेषगुणा इत्यर्थः।

भाषा-(वैशेषिका इति) 'विशेष' तथा 'वैशेषिक' ये दोनों एकार्थबोधक शब्द हैं, केवल 'विनयादिभ्यष्ठक् ५। ४ ३४" इस सूत्रसे किये 'ठक्' प्रत्ययकृत शब्द स्वरूप मात्रका भेद है, अर्थका नहीं. "द्रव्याविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति द्रव्यकर्मावृत्ति जातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्" यह विशेषगुणमात्रका अनुगत एक लक्षण है; अर्थात् द्रव्यकी विभाजक उपाधिद्वय कोईएक पृथिवीत्व जलत्वादि उन दोनोंके समानाधिकरण पृथिवी जलादि उभयमें न रहनेवाली तथा द्रव्यकर्म उभयमेंभी न रहनेवाली जो बुद्ध्यादि कतिपय गुणोंमें रहनेवाली जाति, तादृश जातिमत्त्व पूर्वोक्त सभी विशेष गुणोंमें अनुगत है-इति।

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ॥ ९१ ॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ॥

भाषा-संख्यासे आदिलेकर अपरत्व पर्यन्त सात और नैमित्तिक द्रवत्व ॥९१॥ गुरुत्व तथा वेदाख्यसंस्कार ये दश सामान्यगुण कहलाते हैं.

सङ्ख्यादिरिति। सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानीत्यर्थः। ॥ ९१ ॥

भाषा-संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, तथा अपरत्व ये सात संख्यादि हैं ॥ ९१ ॥

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ॥ ९२ ॥
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः-

द्वीन्द्रियेति। चक्षुषा त्वचापि ग्रहणयोग्यत्वात्।

भाषा-संख्यासे आदि लेकर अपरत्व पर्यन्त सात और द्रवत्व तथा स्नेह ॥९२॥ ये नव गुण नेत्र तथा त्वक् इन दोनों इन्द्रियोंसे ग्रहण होसकते हैं.

-अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ॥

बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः-

बाह्येति। रूपादीनां चक्षुरादिग्राह्यत्वात्।

भाषा—और रूपसे आदि लेकर चार तथा शब्द ये पांचों गुण नेत्रादि बाह्यपांचों इन्द्रियोंसे ग्रहण होते हैं अर्थात् चक्षुः, श्रोत्र, रसना, घ्राण, तथा त्वक् इन पांचों बाह्य एकएक इन्द्रियसे यथाक्रम रूप, शब्द, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये पांच गुण ग्रहण होते हैं ।

—गुरुत्वादृष्टभावनाः ॥ ९३ ॥
अतीन्द्रिया विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः ॥
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥ ९४ ॥

भाषा—गुरुत्व अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म तथा भावनाख्य संस्कार ये चार गुण किसी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होते अर्थात् इन चारोंका केवल अनुमानद्वारा लाभ होता है. और आकाशादि विभु द्रव्योंके जो शब्दादि विशेष गुण हैं वे सब अकारण गुण उत्पन्न हैं अर्थात् जैसे रूपादि कारणगुणोत्पन्न हैं वैसे ये नहीं हैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

विभूनामिति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा इत्यर्थः । अकारणेति । कारणगुणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यंते ते कारणगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते, बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा आत्मादेः कारणाभावात् ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

भाषा—भाव यह कि—"कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः २० अ० २ आह्नि१" यह कणादमुनिका सिद्धान्त है; परन्तु यह विभुके विशेषगुणोंमें नहीं घटता अर्थात् जैसे रूपादि 'स्वाश्रय समवायिसमवेतगुणजन्यत्व' सम्बन्धसे अपने कारणके गुणोंसे उत्पन्न होतेहैं; वैसे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना तथा शब्द ये दश कारणगुणसे उत्पन्न नहीं हैं.

कपालादि कारणगुणसे जो घटादिकार्यमें रूपादि गुण उत्पन्न होतेहैं वही कारण गुणपूर्वक कहलाते हैं. उनको हम आगे कहेंगे. बुद्धि आदि तो वैसे नहींहैं क्योंकि आत्माका तथा आकाशका कोई कारण नहीं है ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम् ॥
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥ ९५ ॥
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः ॥

भाषा—अपाकज अर्थात् अग्निसंयोगसे न उत्पन्न होनेवाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श एवम् अपाकज, द्रवत्व, स्नेह, वेगाख्य संस्कार, गुरुत्व, एकपृथक्त्व,

परिमाण ॥ ९५ ॥ तथा स्थिति, स्थापकाख्य संस्कार ये सब ११ गुण कारण-गुणोंसे उत्पन्न होते हैं.

अपाकजास्त्विति । पाकजरूपादीनां कारणगुणपूर्वकत्वाभावादपाकजा इत्युक्तम् । तथाविधमपाकजम् ॥ ९५ ॥ कारणगुणोद्भवा इति । तथैकत्वमपि बोध्यम् ।

भाषा—पाकज रूपादिकोंकी उत्पत्ति कारणगुणपूर्वका नहीं है; इसलिये 'अपाकज' यह कहा है. मूलगत 'तथाविधम्' इसकाभी 'अपाकज' ही अर्थ है ॥ ९५ ॥ वैसेही एकत्वको भी कारण गुणपूर्वकही जानना चाहिये.

संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः ॥ ९६ ॥

भाषा—संयोग विभाग और वेगाख्य संस्कार ये तीन गुण कर्मसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९६ ॥

कर्मजा इति । यद्यपि कर्मजत्वं न साधर्म्यं घटादावतिव्याप्तेः, संयोगजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । तथापि कर्मवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं बोध्यम्, एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥ ९६ ॥

भाषा—यद्यपि चक्रभ्रमणादि कर्मजन्यत्व घटादिकोंमें भी है. उनमें इन संयोगादि तीनके लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी. एवं हस्त पुस्तकादिसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले कार्य पुस्तकादि संयोगजसंयोगमें इस लक्षणकी अव्याप्ति होगी; क्योंकि 'संयोगजसंयोग' यह कर्मजन्य नहीं है किन्तु संयोगजन्य है तथापि (कर्मसे उत्पन्न होनेवालोंमें रहनेवाली जो गुणत्वकी व्याप्य संयोगत्वादिरूपा जाति तादृशजातिमत्ता) इन तीनके सिवाय और कहीं नहीं है ऐसेही और स्थलोंमें भी ऐसेही जातिघटित लक्षण करके निर्वाह करना उचित है ॥ ९६ ॥

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके ॥
भवेदसमवायित्वं—

भाषा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, पृथक्त्व, स्नेह और शब्द, इन नवोंमें गुणान्तरोंके प्रति नियमसे असमवायि कारणताही रहती है.

स्पर्शान्तेति । स्पर्शोऽत्रानुष्णो ग्राह्यः । एकपृथक्त्वेत्यत्र त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमन्वयादेकत्वं पृथक्त्वं च ग्राह्यम् । पृथक्त्वपदेन चैकपृथक्त्वं विवक्षितम् ।

भाषा-'स्पर्श' शब्दसे यहां अनुष्णस्पर्शका ग्रहण करना. एवं सूत्रमें पठित (एकपृथक्त्व) यहां 'त्व' प्रत्ययका दोनोंके साथ सम्बन्ध करके (एकत्व) तथा 'पृथक्त्व' ऐसे जान लेना. यहां प्रकृतमें 'पृथक्त्व' पदसे केवल एकपृथक्त्व वांछित है.

भवेदसमवायित्वमिति । घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भवन्ति । एवं कपालादिपरिमाणादीनां घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वम् । एवं शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं प्रत्यसमवायिकारणत्वम् । एवं स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोरपि बोध्यम् ।

भाषा-(भवेदसमवायित्वमिति) घटादिके रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श कपालादिकोंके रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शसे यथाक्रम उत्पन्न होते हैं. ऐसेही कपालादिगत परिमाणादिको भी घटादिगत परिमाणादिके प्रति असमवायिकारणता है. ऐसेही शब्दको भी स्वाव्यवहितोत्तर उत्पन्न द्वितीयशब्दके प्रति असमवायिकारणता है. ऐसेही स्थितिस्थापकाख्य संस्कारोंको तथा एकपृथक्त्वको भी जानलेना अर्थात् कारणगत संस्कार एकपृथक्त्व (कटादि) चटाई आदि कार्यगत संस्कारोंके तथा एकपृथक्त्वके जनक हैं.

-अथ वैशेषिके गुणे ॥ ९७ ॥

आत्मनः स्यान्निमित्तत्व-

भाषा-जीवात्माके (बुद्धि) ज्ञानादि विशेषगुणोंमें गुणान्तरोंके प्रति नियमसे निमित्तकारणताही रहती है.

निमित्तत्वमिति । बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादिति भावः ।

भाषा-जीवात्माके ज्ञानादि विशेषगुण पूर्वोक्त युक्तिके अनुरोधसे इच्छादि विशेषगुणों प्रति निमित्तकारणही स्वीकार किये हैं.

-उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ॥

वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥ ९८ ॥

द्विधैव कारणत्वं स्यात्-

भाषा-उष्णस्पर्श, गुरुत्व, वेगाख्यसंस्कार, द्रवत्व, संयोग तथा विभाग इन छःमें ॥ ९८ ॥ असमवायि तथा निमित्तभेदसे दोतरहकी कारणता रहती है.

द्विधैवेति। असमवायिकारणत्वं निमित्तकारणत्वं च। तथाहि। उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं पाकजे निमित्तम्, गुरुत्वं गुरुत्वपतनयोरसमवायि प्रतिघाते निमित्तम्, वेगो वेगस्पन्दयोरसमवाय्यभिघाते निमित्तम्,द्रवत्वं द्रवत्वस्पन्दनयोरसमवायि संग्रहे निमित्तम्, भेरीदण्डसंयोगः शब्दे निमित्तम्। भेर्याकाशसंयोगेऽसमवायी, वंशदलद्वयविभागः शब्दे निमित्तं वंशदलाकाशविभागेऽसमवायीति।

भाषा–अर्थात् असमवायिकारणताभी रहती है और निमित्तकारणताभी रहती है. (तथाहि) जैसे कपालादिगत उष्णस्पर्श घटादिगत उष्णस्पर्शका असमवायिकारण है, परन्तु घटादिगत पाकजरूपादिकोंके प्रति निमित्तकारणभी है. एवं कारणगत गुरुत्व कार्यगत गुरुत्वके प्रति तथा आद्यपतनरूपा क्रियाके प्रति असमवायिकारणहै, परन्तु (प्रतिघात) अभिघाताख्य संयोगके प्रति निमित्तकारणभी है. एवं वेगभी स्वाव्यवहितोत्तर वेगान्तरके तथा स्पन्दरूपाक्रियाके प्रति असमवायिकारण है परंतु बाणादिजन्य अभिघाताख्य संयोगके प्रति निमित्तकारणभी है.एवं कारणगत द्रवत्व भी कार्यगत द्रवत्वका तथा (स्पन्दन) ढलनरूपा क्रियाका असमवायिकारण है परन्तु (संग्रहे) चूर्णादिके पिण्डीभावमें निमित्तकारणभी है. ऐसेही भेरी दण्डका संयोग शब्दमें निमित्तकारण है और भेरीआकाश संयोगके प्रति असमवायिकारण है. एवं (वंश) बांसके दोनों दलोंका विभाग शब्दमें निमित्तकारण है और बांसदलके आकाशसे विभागका असमवायिकारण है--इति।

अथ प्रादेशिको भवेत्॥
वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा॥ ९९॥

प्रादेशिकोऽव्याप्यवृत्तिः॥ ९७॥ ९८॥ ९९॥

भाषा--आकाशादि विभुद्रव्योंके शब्द ज्ञानादि विशेषगुण संयोग तथा विभाग ये सब १२ गुण(प्रादेशिक) अव्याप्यवृत्ति हैं अर्थात् किञ्चिदवच्छेदेन रहते हैं॥९९॥

यहांतक अनेकगुणोंके एक एक साधर्म्यका निरूपण किया अब इससे आगे प्रत्येक गुणके साधर्म्यको कहते हैं--

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरुपलम्भकम्॥
चक्षुषः सहकारि स्यात्--

भाषा–केवल (चक्षुः) नेत्रइन्द्रियसे जिसका ग्रहण उसका नाम 'रूप' है वह रूप द्रव्यादिकोंकी उपलब्धिमें नेत्रइन्द्रियका सहायकभी है।

चक्षुरिति। रूपत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा। रूपशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्नास्तीति चेत्। माऽस्तु रूपशब्दप्रयोगस्तथापि नीलपीतादिष्वनुगतजातिविशेषोऽनुभवसिद्ध एव। रूपशब्दाप्रयोगेऽपि 'नीलो वर्णः पीतो वर्णः' इति वर्णशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिरस्त्येव। एवं नीलत्वादिकमपि प्रत्यक्षसिद्धम्।

भाषा–' रूपं रूपं ' इस अनुगत प्रत्ययसे रूपत्वजाति तो प्रत्यक्ष प्रमाणहीसे सिद्ध है शंका–ऐसी वस्तु तो संसारमें कोई प्रतीत नहीं होती, जिसमें केवल 'रूप' शब्दका प्रयोग किया जाय किन्तु नीलपीतादि व्यक्तियां प्रतीत होती हैं.समा०–मत हो किसी पदार्थमें केवल ' रूप ' शब्दका प्रयोग तथापि नीलपीतादि अनेक व्यक्तियोंमें एक अनुगत जाति विशेष तो अनुभवसिद्ध है, एवं नीलपीतादिव्यक्तियोंमें मत हो अनुगतरूपेण 'रूप' शब्दका प्रयोग; तथापि "नीलो वर्णः पीतो वर्णः" इस अनुगत प्रत्ययसे 'रूप' शब्दपर्यायवाचि 'वर्ण' शब्दका प्रयोग तो होता ही है. एवं रूपत्वकी व्याप्य नीलत्वादि जातियांभी प्रत्यक्षहीं सिद्ध हैं.

न चैकैका एव नीलरूपादिव्यक्तय इत्येकव्यक्तिवृत्तित्वान्नीलत्वादिर्न जातिरिति वाच्यम्। 'नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः' इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात्। अन्यथैकनीलनाशे जगदनीलमापद्येत।

शंका--नीलपीतादि व्यक्ति तो संसारमात्रमें एक २ ही है; इसालिये उन एक २ में रहनेवाले नीलत्वपीतत्वादि धर्म जातिरूप नहीं होसकते. समाधान–आमनिक्षिप्त घटादिमें "नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः" इत्यादि प्रतीति होती है. इस प्रतीतिसे नील पीतादि व्यक्तियोंको उत्पादविनाशवाली होनेसे उनमें अनेकता सिद्ध होती है. (अन्यथा) यदि संसारमात्रमें एकही नीलव्यक्ति अङ्गीकार करें तो उसके नाश होनेसे शेष संसार नीलवर्णरहित होजाना चाहिये.

नच नीलसमवायरक्तसमवाययोरेव विनाशोत्पादविषयकोऽसावेष प्रत्यय इति वाच्यम्। प्रतीत्या समवायानुल्लेखात्।

शंका-"नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः" यह प्रत्यय तो नीलके समवायके नाशको तथा रक्तके समवायकी उत्पत्तिको अवगाहन करता है इसलिये इससे नीलपीतादि व्यक्तियोंमें नानात्व मानना उचित नहीं. समाधान-प्रतीतिमें जिस पदार्थका (उल्लेख) भान हो वही उसके विषय होता है, एवं "नीलो नष्टः" इत्यादि प्रतीतिमें समवायका भान नहीं है; इसलिये इसको समवायावगाहिनीं प्रतीति मानना उचित नहीं है.

न च 'स एवायं नीलः' इति प्रत्ययाल्लाघवाच्चैक्यमिति वाच्यम् । प्रत्यक्षस्य तज्जातीयविषयकत्वात्, सैवेयं गुर्जरीतिवत् । लाघवं तु प्रत्यक्षबाधितम् ।

शंका-"स एवायं नीलः-अर्थात् यह वही नील व्यक्ति है" इत्याकारक प्रत्ययके बलसे तथा लाघवसे नीलपीतादि व्यक्ति एकही एक माननी चाहिये. समाधान-"स एवायं नीलः" इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान तो "सैवेयं गुर्जरी-अर्थात् यह वही गुजरात देशमें होनेवाली औषधी है" इस ज्ञानकी तरह केवल साजात्यको अवगाहन करता है अर्थात् व्यक्तिभेदमें भी पुरुष कहता है कि-मैंने भी वही औषधी खाई है, जो चैत्रने खाई थी. एवं आपका लाघवसे संसारमात्रमें एक २ नीलपीतादि व्यक्तियोंका मानना "नीलो नष्टो रक्त उत्पन्नः" इत्यादि प्रत्यक्षज्ञानसे बाधित है.

अन्यथा घटादीनामप्यैक्यप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशबुद्धेः समवायालम्बनत्वापत्तेरिति । एतेन रसादिकमपि व्याख्यातम् ।

भाषा-(अन्यथा) यदि केवल लाघवमात्रसेही नीलपीतादि व्यक्तियोंमें ऐक्य-स्वीकार करो तो घटपटादि पदार्थोंमें भी ऐक्यही मानना चाहिये. अर्थात् संसारमात्रमें एकहीं घट तथा एकही पटको मानकर उत्पादविनाशबुद्धिको घटपटादिके समवायको अवगाहन करनेवाली समझना चाहिये. (एतेन) इस पूर्वोक्त कथनसे रसादिकोंमें भी यही विचार समझ लेना अर्थात् रसादि व्यक्तियांभी संसारमें अनेक हैं.

चक्षुर्ग्राह्यमिति । चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुणत्वमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । द्रव्यादेरिति । उपलम्भकमुपलब्धिकारणम् । इदमेव विवृणोति । चक्षुष इति । द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रत्युद्भूतरूपं कारणम् ।

भाषा-(चक्षुर्ग्राह्यमिति) नेत्रइन्द्रियसे ग्रहण होने योग्य विशेषगुणरूप है. ऐसा विवरण करनेसे संख्यादिमें अतिव्याप्ति भी नहीं है. ऐसेही आगे रसादिके विवरणमें भी जानलेना, (द्रव्यादेरिति) 'उपलम्भक' नाम उपलब्धिके कारणीभूतका है. इसीका 'चक्षुषः' इत्यादि ग्रन्थसे विवरण करते हैं. द्रव्य गुण कर्म तथा सामान्य चाक्षुषप्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपको कारणता है.

-शुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥

भाषा-वह रूप शुक्ल नीलपीतादिभेदसे अनेक प्रकारका है ॥ १०० ॥

शुक्लादीति । तच्च रूपं शुक्लनीलपीतरक्तकृष्णकर्बुरादिभेदादनेकप्रकारकं भवति । ननु कर्बुरं कथमतिरिक्तं रूपं भवति । इत्थम् । नीलपीताद्यवयवारब्धोऽवयवी न तावन्नीरूपोऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धिप्रसङ्गात्, नाप्यव्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते व्याप्यवृत्तिजातीयगुणानामव्याप्यवृत्तित्वे विरोधात् । तस्मान्नानाजातीयरूपैरवयविनि विजातीयं चित्रं रूपमारभ्यते । अत एवैकं चित्रमित्यनुभवोऽपि, नानारूपकल्पने तु गौरवात् ।

भाषा-वह रूप शुक्ल नील पीत रक्त हरित कपिश कृष्ण कर्बुर आदि भेदसे अनेक प्रकारका है. शंका-(कर्बुर) चित्ररूप अतिरिक्त माननेका कुछ काम नहीं किन्तु नीलपीतादि गुणोंके समुदाचारका नामही चित्ररूप है. समाधान-इस विचारसे अतिरिक्त मानना पड़ता है कि-नीलपीतादि अवयवोंसे उत्पन्न हुआ अवयवी नीरूपभी नहीं है; क्योंकि यदि नीरूप होय तो प्रत्यक्ष नहीं हुआ चाहिये और चित्रावयवीगत नीलपीतादि (व्याप्यवृत्ति) सर्वावयवावच्छेदेन उत्पन्न हुए हैं, यह भी नहीं कहसकते क्योंकि यदि ऐसा होय तो चित्रावयवीमें नीलावच्छेदेन पीतकी या पीतावच्छेदेन भी नीलकी उपलब्धि हुई चाहिये और (अव्याप्यवृत्ति) किंचिदवयवावच्छेदेन नीलादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा भी नहीं कहसकते; क्योंकि (व्याप्यवृत्ति) सर्वावयवावच्छेदेन स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले नीलपीतादि गुणोंको (अव्याप्यवृत्ति) किञ्चिदवयवावच्छेदेन उत्पन्न हुए मानना भी उनके स्वभावसे विरुद्ध है, (तस्मात्) इसलिये अवयवगत नीलपीतादि अनेक प्रकारके रूपोंसे चित्रावयवीमें विलक्षण एक चित्ररूप उत्पन्न होता है यही मानना उचित है; इसीसे "एकं चित्ररूपम्" यह अनुभव भी प्रामाणिक है, 'चित्रम्' इत्याकारक प्रतीतिके विषयमें अनेकरूपोंकी कल्पना करनेमें उपस्थितिकृत गौरव भी है.

इत्थं च नीलादीनां पीताद्यारम्भे प्रतिबन्धकत्वकल्पनादवयविनि न पीताद्युत्पत्तिः। एतेन स्पर्शोऽपि व्याख्यातः।

भाषा-(इत्थञ्च) इस पूर्वोक्त लाघवसे चित्ररूपकी अतिरिक्त सिद्धि हुई तो नीलादि व्यक्तियोंमें पीतादिव्यक्तियोंके उत्पन्न होनेमें प्रतिबन्धकता कल्पना करनेसे नीलरूपवाले अवयवीमें पीतरूपकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती अर्थात् समवायसम्बन्धेन पीतरूपं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन पीतातिरिक्तरूपत्वेन पीतातिरिक्त नीलादिरूपोंको प्रतिबन्धकताका है. इस पूर्वोक्त चित्ररूपके व्याख्यानसे चित्रस्पर्शका व्याख्यानभी समझ लेना अर्थात् चित्रस्पर्शभी अवश्यही अङ्गीकार करना उचित है.

रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्तिः किंतु नानाजातीयरसवदवयवैरारब्धेऽवयविनि रसाभावेऽपि न क्षतिः। तत्र रसनयाऽवयवरस एव गृह्यते, रसनेन्द्रियादीनां द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावात्। अवयविनीरसत्वेऽपि क्षतेरभावात्।

भाषा-एवं रसादिकभी किञ्चिदवयवावच्छेदेन उत्पन्न नहीं होते, किन्तु रूपसे इतनी विलक्षणता है कि-अनेकप्रकारके रसोंवाले अवयवोंसे उत्पन्न हुए अवयवीमें चित्ररस नाभी मानें तो हानि कुछ नहीं; क्योंकि चित्ररसकी प्रतीति तो अवयवगत अनेक रसोंसेभी हो सकती है, एवम् अवयवीमें चित्ररसकी कल्पना करनी व्यर्थ है, (तत्र) चित्ररसग्रहणस्थलमें रसनाइन्द्रियसे अवयवगत रसकाही ग्रहण होता है. रसना घ्राण तथा श्रोत्रइन्द्रियमें द्रव्य ग्रहण करनेकी तो सामर्थ्य ही नहीं इसलिये अवयवीको रसशून्यभी मान लिया जाय तो कुछ हानि नहीं है.

नव्यास्तु तत्राव्याप्यवृत्त्येव नानारूपं नीलादेः पीतादिप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्। अतएव "लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पांडुरः" इत्यादिशास्त्रमप्युपपद्यते।

भाषा-(नव्यास्तु) और चिन्तामणिकारादि नवीनलोग तो यह कहते हैं कि-चित्रावयवीस्थलमें अनेकप्रकारका रूप अव्याप्यवृत्तित्वेन रूपेणही उत्पन्न होता है; ऐसे स्थलमें नीलरूपादिकोंमें पीतरूपादिके प्रति प्रतिबन्धकता कल्पना करनीभी महागौरव है चित्ररूप कोई पृथक् वर्ण नहीं है, इसीसे "लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः॥ श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते" इत्यादि स्कन्दपुराणका वचनभी उपपन्न होसकता है अर्थात् इस वचनमें नील (वृष) बलद [उत्]सर्जनके उद्देशसे अनेक वर्णयुक्त वृषको नीलवृष कहा है, यदि

चित्रवर्ण आचार्यको पृथक् स्वीकृत होता तो "चित्रं वृषं विसर्जयेत्" इतना मात्रही कहता.

न च व्याप्याव्याप्यवृत्तिजातीययोर्द्वयोर्विरोधः,मानाभावात् ।

शंका-व्याप्यवृत्ति स्वभाववाले पदार्थोंको अव्याप्यवृत्ति माननाभी उचित नहीं क्योंकि व्याप्यवृत्तित्वरूप धर्मका तथा अव्याप्यवृत्तित्वरूप धर्मका परस्पर तेजस्तिमिरवत् विरोध है समाधान-रूपादि जो व्याप्यवृत्तित्वेन उत्पन्न होते हैं वे अव्याप्यवृत्तित्वेन उत्पन्न नहीं होसकते; इस विरोधमें कोई प्रमाण नहीं है.

न च लाघवादेकं रूपम् । अनुभवविरोधात् । अन्यथा घटादेरपि लाघवादैक्यं स्यादिति । एतेन स्पर्शादिकं व्याख्यातमिति वदन्ति ॥ १०० ॥

शंका-लाघवसे चित्ररूप एकही मान लिया जाय तो हानि क्या है ? समा० एक माननेमें "अयं नीलादिनानावर्णयुक्तोऽवयवी" इत्यादि अनुभवसे विरोध होता है (अन्यथा) यदि अनुभवसे विरुद्धभी लाघव स्वीकृत होयतो घटपटादि व्यक्तिभी संसारमात्रमें लाघवसे एक मानलेनी चाहिये. (एतेन) इसी कथनसे चित्रस्पर्शादिका निरासभी समझलेना; (इति वदन्ति) यह सब नवीन लोगोंका कथन है ॥१००॥

जलादिपरमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ॥

भाषा-वह रूप जलादि परमाणुओंमें नित्य है और पार्थिवपदार्थमात्रमें जन्यहै.

जलादीति । जलपरमाणौ तेजःपरमाणौ च रूपं नित्यम् । पृथिवीपरमाणुरूपं तु न नित्यं पाकेन रूपान्तरोत्पत्तेः । नहि घटस्य पाकानन्तरं तदवयवोऽपक्व उपपद्यते, न हि रक्तकपालस्य कपालिका नीलावयवा भवति । एवं क्रमेण परमाणावपि पाकसिद्धेः।अन्यजलतेजःपरमाणुरूपाभिन्नं रूपम् । सहेतुकं जन्यम् ।

भाषा-अर्थात् जलीय परमाणुओंमें तथा तैजस परमाणुओंमें रूप नित्य है और पार्थिव परमाणुओंमें रूप अनित्य है क्योंकि वहां (पाकेन) अग्निसंयोगसे रूपान्तरकी उत्पत्ति होतीहै. अग्निसंयोगद्वारा घटके परिपाक होनेसे उसके अवयव परिपक्व नहीं होते, यह कहना उचित नहीं; क्योंकि अग्निसंयोगसे रक्तहुए (कपाल) घटार्धभागका (कपालिका) छोटा हिस्सा नीलपीतादि अवयवोंवाला देखनेमें नहीं आता. इसक्रमसे विचारनेसे पार्थिव परमाणुओंमेंभी पाककी सिद्धि होसकती है

(अन्यत्) जल तथा तेजके परमाणुओंके रूपसे भिन्न जो रूप है वह सभी सहेतुक अग्निसंयोगादि कारणसे उत्पन्न होता है.

रसं निरूपयति, रसस्त्विति—

भाषा—' रसस्तु ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार रसका निरूपण करते हैं—

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥ १०१ ॥
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत् ॥

भाषा—रसनाइन्द्रियसे ग्रहण होनेवालेका नाम 'रस' है वह रस मधुर, लवण, कटु ,कषाय, अम्ल तथा तिक्त भेदसे षट् प्रकारका है ॥१०१॥ और रसनाइन्द्रियका सहायक है,नित्यता तथा अनित्यता इसकी रूपकी तरहही जान लेनी चाहिये.

सहकारीति । रासनज्ञाने रसः कारणमित्यर्थः । पूर्ववदिति जलपरमाणौ रसो नित्योऽन्यः सर्वोऽपि रसोऽनित्य इत्यर्थः ।

भाषा—अर्थात् रासन साक्षात्कारके प्रति विषयतासम्बन्धसे रसको कारणताहै पूर्ववत् अर्थात् रूपकी तरह रसभी जलीय परमाणुओंमें नित्य है तथा पार्थिव पदार्थ मात्रमें अनित्य है.

गन्धं निरूपयति, घ्राणग्राह्य इति—

भाषा—' घ्राणग्राह्यो' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार गन्धका निरूपण करते हैं.

घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥ १०२ ॥

भाषा—केवल घ्राणइन्द्रिय ग्रहणके योग्यका नाम 'गन्ध' है वह गन्ध घ्राण इन्द्रियका ही उपकारक है ॥ १०२ ॥

उपकारको घ्राणजन्यज्ञाने कारणमित्यर्थः । गन्धः सर्वोऽनित्य एव ॥ १०२ ॥

भाषा—(उपकारक) अर्थात् घ्राणज साक्षात्कारके प्रति विषयतासम्बन्धेन उभयविध गन्धको कारणता है. एवं सभी गन्ध अनित्यही हैं रूपादिकी तरह नित्य कोई भी नहीं ॥ १०२ ॥

सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः ।

भाषा—एवं सौरभ तथा असौरभभेदसे वह गन्ध दोप्रकारका है.

स्पर्शं निरूपयति, स्पर्श इति—

भाषा—'स्पर्शः ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्पर्शका निरूपण करते हैं—

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः १०३॥

भाषा-केवल त्वग् इन्द्रियसे ग्रहणके योग्यका नाम ' स्पर्श ' है वह स्पर्श त्वग् इन्द्रियका उपकारक है ॥ १०३ ॥

उपकारक इति । स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमित्यर्थः ॥१०३॥

भाषा-स्पार्शनप्रत्यक्षमें विषयतासम्बन्धेन स्पर्शको कारणता है ॥ १०३ ॥

अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्स त्रिविधो मतः ॥
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत्॥१०४॥

भाषा-वह स्पर्श शीत उष्ण तथा अनुष्णाशीतभेदसे तीन प्रकारकाहै. वह स्पर्श काठिन्यादि धर्मवाला केवल पृथिवीमेंही रहताहै और इस स्पर्शकी नित्यता तथा अनित्यता (पूर्ववत्) रूपादिकी तरहही जानने योग्य है ॥ १०४ ॥

अनुष्णाशीत इति । पृथिव्या वायोश्च स्पर्शोऽनुष्णाशीतः, जलस्य शीतः, तेजस उष्णः । काठिन्येति । कठिनसुकुमारस्पर्शौ पृथिव्या एवेत्यर्थः।कठिनत्वादिकं तु न संयोगनिष्ठो जातिविशेषः, चक्षुर्ग्राह्यतापत्तेः । पूर्ववदिति । जलतेजोवायुपरमाणुस्पर्शा नित्यास्तद्भिन्नस्पर्शास्त्वनित्या इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

भाषा-(अनुष्णाशीत इति) पृथिवीका तथा वायुका स्पर्श अनुष्णाशीत है अर्थात् न उष्ण है. न शीत है;और जलका स्पर्श शीत है. अग्नि आदि तेजःपदार्थका स्पर्श उष्ण है. एवं कठिन कोमलादि स्पर्शभी पृथिवीमें रहता है. कठिनत्वादि धर्मसंयोगनिष्ठ जातिविशेष नहीं हैं क्योंकि यदि संयोगनिष्ठ जातिविशेष होय तो उसका संयोगकी तरह चाक्षुषप्रत्यक्षभी हुआ चाहिये; इसलिये ' काठिनत्व ' आदि पृथिवीगत स्पर्शकेही व्याप्यवृत्ति धर्म हैं. (पूर्ववदिति) जल तेज तथा वायुके परमाणुओंका स्पर्श नित्य हैं इनसे भिन्न पार्थिवपरमाणुओंका स्पर्श अनित्यहै १०४

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ॥

भाषा-ये रूपरसादि चारों केवल पृथिवीमेंही तेजःसंयोगसे उत्पन्न तथा परिवर्तन होते हैं अन्यत्र जलादिकोंमें नहीं होते.

एतेषां रूपरसगन्धस्पर्शानाम् । नान्यत्रेति । पृथिव्या हि रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिः पाकसंयोगादुपलभ्यते, न हि शतधापि

ध्मायमाने जलादौ रूपादिकं परावर्तते । नीरे सौरभमौष्ण्यं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामौपाधिकमेवेति निर्णीयते पवनपृथिव्योः शीतस्पर्शादिवत् ।

भाषा-इन रूप रस गन्ध स्पर्शोंकी अग्निसंयोगसे उत्पत्ति केवल पृथिवीमेंही है और कहीं नहीं, (नान्यत्रेति) पृथिवीके रूप रस गंध तथा स्पर्शका परिवर्तन अग्निसंयोगसे हुआ प्रतीत होता है और जलको सैकड़ोंबार तपानेसेभी उसके रूपका परिवर्तन प्रतीत नहीं होता. एवं जैसे जलके सम्बंधसे वायुमें तथा पृथिवीमें शीत स्पर्शका भान होता है वस्तुतः इनमें शीतस्पर्श नहीं है. वैसेही जलमें सौरभका तथा उष्णताका भानभी पृथिवीतेजःसंसर्गरूप उपाधिके वशसेही विज्ञ पुरुषोंने अन्वयव्यतिरेकद्वारा निर्णय किया है; वस्तुतः जलमें सौरभ तथा उष्णता नहीं है.

तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये ॥ १०५॥

भाषा-उस पृथिवीमेंभी वैशेषिकके सिद्धान्तसे पाक परमाणुओंमें होता है अर्थात् तेजःसंयोगसे प्रत्येक परमाणुमें रूपादिचतुष्टयका परिवर्तन होता है ॥ १०५॥

तत्रापि पृथिवीष्वपि परमाणावेव पाक इति वैशेषिका वदन्ति । तेषामयमाशयः । अवयविनाऽवष्टब्धेष्ववयवेषु पाको न सम्भवति, परंतु वह्निसंयोगेनावयविषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु परमाणुषु पाकः, पुनश्च पक्वपरमाणुसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमेण पुनर्महावयविपर्यन्तमुत्पत्तिः, तेजसामतिशयितवेगवशात् पूर्वव्यूहनाशो झटिति व्यूहान्तरोत्पत्तिश्चेति ।

भाषा-(तत्रापि उस अनेक विध पृथिवीमेंभी परमाणुओंहीमें (पाक) अग्निसंयोगसे रूपादिका परिवर्तन होता है, यह (वैशेषिक) कणादमुनिके अनुयायी लोग कहते हैं. उनके हृदयका भाव यह है कि-घटादि अवयवीविषै (अवष्टब्ध) निरोधित हुए छोटे कपालकादि अवयवोंमें पाक नहीं होसकता; परन्तु प्रबल अग्निसंयोगसे अवयवीके विनाशके अनन्तर प्रत्येक अवयवके स्वतंत्र परमाणुओंमें पाक होता है. फिर परिपक्व परमाणुओंके परस्परसंयोगसे द्व्यणुक त्र्यणुकादि क्रमेण फिर घटादि महाअवयवी पर्यन्त उत्पत्ति होती है. तेजःपदार्थके अत्यन्त वेगवशसे शीघ्रही पूर्व (व्यूह) संघातका नाश तथा संघातांतरकी उत्पत्ति होती है-इति.

अत्र द्व्यणुकादिविनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरुत्पत्त्या रूपादिमद्भवतीति शिष्यबुद्धिवैशद्याय क्षणप्रक्रिया। तत्र विभागजविभागानङ्गीकारे नवक्षणा।

भाषा-यहां 'द्व्यणुकादि विनाशसे लेकर फिर उत्पन्न हुआ अवयवी कितने क्षणोंके पश्चात् रूपरसादिवाला होता है? इस वार्ताका शिष्यलोगोंकी बुद्धिके विशदकरणार्थ निरूपण करते हुए ग्रन्थकार क्षणिक प्रक्रियाको दिखलाते हैं. इस प्रकरणमें यदि विभागज विभागको ना अङ्गीकार करे अर्थात् (कारण) कपालादि तथा (अकारण) आकाशादिके विभागसे जैसे (कार्य) घटादि तथा (अकार्य) आकाशादिका विभाग स्वीकृत है, वैसे (कारण) कपालद्वयादि मात्रके विभागसे (कारण) कपालादि तथा (अकारण) आकाशादिके विभागको न मानें तो नवक्षणमें अवयवी विनष्ट होयकर फिर रूपादिवाला होजाता है.

विभागजविभागाङ्गीकारे तु विभागः किञ्चित्सापेक्षो विभागं जनयेत्, निरपेक्षस्य तत्त्वे कर्मत्वं स्यात्। संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति हि वैशेषिकसूत्रम्। स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वं च तस्यार्थः। अन्यथा कर्मणोऽप्युत्तरसंयोगजनने पूर्वसंयोगनाशापेक्षणादव्याप्तिः स्यादिति।

भाषा-एवं विभागज विभागका अङ्गीकार करें तो विभागभी (किञ्चित्) स्वसमवायिनिष्ठ क्रियाकी (सापेक्षा) सहकारतासे विभागान्तरको उत्पन्न करैगा, क्योंकि पदार्थान्तरकी सहकारतासे विना विभागका जनक तो केवल कर्मही है यदि विभागभी निरपेक्ष होकर विभागान्तरका जनक होगा तो कर्मके लक्षणकी उसमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि संयोगका तथा विभागका जो निरपेक्ष कारण होय वह कर्म होता है. यह वार्ता वैशेषिक शास्त्रके १७ वें सूत्रमें लिखी है अर्थात् (स्व) कर्म, संयोग तथा विभागको उत्पन्न करता हुआ अपनेसे उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले भावान्तरकी अपेक्षा नहीं करता. यह उक्त सूत्रका भावार्थ है (अन्यथा) यदि ऐसा अर्थ नहीं करें तो कर्मकोभी उत्तरसंयोगके उत्पन्न करनेमें पूर्वसंयोग नाशकी अपेक्षाही है, निरपेक्ष कारण नहीं है. एवं उक्त सूत्रलक्षणकी पूर्वयोगसे नाशकी अपेक्षा करनेवाली कर्मव्यक्तिमें अव्याप्ति होगी.

तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षणा। अथ द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात् तदैकादशक्षणा।

भाषा-(तत्र) इस प्रकरणमें (द्व्यणुकादि) द्रव्यारम्भक संयोगका जो विनाश तादृश विनाशविशिष्ट कालकी अपेक्षासे यदि विभागज विभागका विचार किया जाय तो दशक्षणमें अवयवी फिर रूपादिमान् होसकता है और यदि द्रव्यनाश-विशिष्ट कालकी अपेक्षाको लेकर विभागज विभागका विचार किया जाय तो एकादश क्षणमें अवयवी फिर रूपादिवाला होसकता है ।

तथाहि । अथ नवक्षणा-वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म , ततः पर-माण्वन्तरेण विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्व्य-णुकनाशः १। ततः परमाणौ श्यामादिनाशः २ । ततो रक्ता-द्युत्पत्तिः ३ । ततो द्रव्यारम्भानुगुणाक्रिया ४ । ततो विभागः ५ । ततः पूर्वसंयोगनाशः ६ । तत आरम्भकसंयोगः ७ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ८ । ततो रक्ताद्युत्पत्तिः ९ ।

भाषा-(तथाहि) इसी वार्ताको नवक्षणादिःप्रक्रियाके क्रमसे लिखते हैं—पहले अग्निसंयोगसे द्व्यणुकारम्भक परमाणुद्वयमेंसे एक परमाणुमें क्रिया होती है उस क्रियासे पीछे द्व्यणुकारम्भक परमाणुअन्तरके साथ उस क्रियायुक्त परमाणुका विभाग होता है. उसके पीछे द्व्यणुकारम्भक संयोगका नाश होता है. उसके पीछे द्व्यणुकका नाश होता है १ । प्रथमक्षणकी गणनाभी यहांहीसे करनी उचित है; क्योंकि पीछे ग्रन्थकारने "द्व्यणुकादिनाशमारभ्य" इत्यादि कथनसे यही प्रतिज्ञा करी है. उसके पीछे परमाणुगत श्यामादि गुणोंका नाश होता है २ । उसके पीछे तीसरे क्षणमें परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होती है ३ । उसके पीछे चौथे क्षणमें द्व्यणुकरूप द्रव्यकी उत्पादिका क्रिया होती है ४ । उसके पीछे पञ्चमक्षणमें उस क्रियासे विभाग होता है ५ । उसके पीछे छठे क्षणमें विश्लिष्टपरमाणुओंके पूर्वसंयोगका नाश होता है ६ । उसके पीछे सातवें क्षणमें द्व्यणुकारम्भकसंयोग होता है ७ । उसके पीछे आठवें क्षणमें फिर द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है । उसके पीछे नवम क्षणमें रक्तादिगुणोंकी उत्पत्ति होती है ९ । इति ।

ननु श्यामादिनाशक्षणे रक्तोत्पत्तिक्षणे वा परमाणौ द्रव्यार-म्भानुगुणाक्रियाऽस्त्विति चेत् । न । अग्निसंयुक्ते परमाणौ यत्कर्म तद्विनाशमन्तरेण गुणोत्पत्तिमन्तरेण च तत्र परमाणौ क्रियान्त-राभावात्, कर्मवति कर्मान्तरानुत्पत्तेः । निर्गुणे द्रव्ये द्रव्या-रम्भानुगुणाक्रियानुपपत्तेश्च ।

शंका-श्यामादि गुणोंके नाशक्षणमें या रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिक्षणमें परमाणुओंमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पादिका क्रिया मान लीजाय तो हानि क्या है? समाधान-अग्निसंयुक्त परमाणुओंमें जो द्व्यणुकादिका विनाशक प्रथम कर्म है उसके विनाशसे विना और परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिसे विना उनही परमाणुओंमें द्व्यणुकादि द्रव्यारम्भकी. दूसरी क्रिया नहीं होसकती प्रथमक्रिया स्वसत्त्वावस्थामें दूसरी क्रियाकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक होती है; इसलिये क्रियावालेमें क्रियान्तर नहीं होसकती और निर्गुण द्रव्यमें द्रव्यारम्भणानुकूल क्रियाका होनाही असम्भव है।

तथापि परमाणौ श्यामादिनिवृत्तिसमकालं रक्ताद्युत्पत्तिः स्यादिति चेत्। न। पूर्वरूपादिध्वंसस्यापि रूपान्तरे हेतुत्वात्॥

॥ इति नवक्षणा ॥

शंका-तथापि परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंकी निवृत्तिक्षणमेंही रक्तादि गुणोंकी उत्पत्तिभी मानलीजाय तो एक क्षणका लाघव है. समाधान-यह कथनभी सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि पूर्वरूपादि ध्वंसको रूपान्तरादिकी उत्पत्तिमें कारणता है और कार्यकारणका समकालमें होना असंभव है। इति नवक्षणा ॥

अथ दशक्षणा-सा चारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सति स्यात्।

अथ दशक्षणा-वह दशक्षणप्रक्रिया द्रव्यारंभसंयोगविनाशविशिष्ट कालकी अपेक्षासे विभागजविभागका अङ्गीकार करनेसे प्रतीत होती है अर्थात् द्व्यणुकादि द्रव्यारंभक संयोगके विनाशकालहीमें यदि परमाणुद्वयके विभागसे परमाणु तथा आकाशादिका विभागभी मानलिया जाय तो दशक्षणमें पुनः द्रव्यरूपादिमान् होता है.

तथाहि। वह्निसंयोगाद्द्व्यणुकारम्भके परमाणौ क्रिया। ततो विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशविभागजविभागौ १। ततः श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ २। ततो रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ ३। ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मणो नाशः ४। ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद्द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया ५। ततो विभागः ६। ततः पूर्वसंयोगनाशः ७। तत आरम्भकसंयोगः ८। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ९। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः १० ॥ इति दशक्षणा ॥

भाषा-(तथाहि) प्रथम अग्निसंयोगसे द्व्यणुकारम्भक परमाणुमें क्रिया होतीहै उस क्रियासे पीछे परमाणुद्वयका विभाग होता है. उस विभागसे पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यके आरम्भक संयोगका नाश होताहै उसके पीछे द्व्यणुकरूप द्रव्यका नाश तथा परमाणु आकाशका विभाग ये दोनों एकही क्षणमें होते हैं १ । उससे पीछे द्वितीय क्षणमें परमाणुगत श्यामादिरूपका नाश तथा परमाणु आकाशके प्रथम संयोगका नाश ये दोनों एकही क्षणमें होते हैं २ ।उससे पीछे तृतीयक्षणमें परमाणुगत रक्तादिकी उत्पत्ति तथा परमाणुआकाशका उत्तरसंयोग ये दोनों एकही क्षणमें होतेहैं ३ ।उससे पीछे चतुर्थक्षणमें अग्निनोदनसे उत्पन्न हुई परमाणुगत क्रियाका नाश होताहै ४। उससे पीछे पंचमक्षणमें अदृष्टवाले आत्माके संयोगसे अर्थात् वह परिपक्व द्रव्य जिस जीवात्माके भोगार्थ बनाहै उसके सम्बन्धसे द्रव्यारम्भणानुकूल क्रिया होती है ५। उससे पीछे छठे क्षणमें उस क्रियासे परमाण्वाकाशादिका विभाग होता है ६ । उस विभागसे पीछे सातवें क्षणमें विभक्त अवयवोंके पूर्वसंयोगका नाश होताहै ७। उससे पीछे अष्टमक्षणमें द्रव्यारम्भक संयोग होताहै ८ । उससे पीछे नवम क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होती है ९।उससे पीछे दशमक्षणमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होतीहै १० । इति ।

अथैकादशक्षणा-वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म । ततो विभागः, ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः १ । ततो द्व्यणुकनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागश्यामनाशौ २ । ततः पूर्वसंयोगनाशरक्तोत्पत्ती ३ । तत उत्तरसंयोगः ४ । ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मनाशः५। ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद्द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया६ । ततो विभागः७। ततः पूर्वसंयोगनाशः ८ । ततो द्रव्यारम्भकसंयोगः ९ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः १० । ततो रक्ताद्युत्पत्तिः ११ । इति ॥

अथ एकादशक्षणप्रक्रिया-अग्निसंयोगसे परमाणुओंमें क्रिया होती है उस क्रियासे एक परमाणुका दूसरेसे विभाग होताहै उस विभागसे द्रव्यके आरम्भकसंयोका नाश होता है उससे पीछे द्व्यणुकरूप कार्यद्रव्यका विनाश होता है १ । उससे पीछे द्व्यणुकरूप द्रव्यनाशाधिकरणकालकी अपेक्षासे दूसरे क्षणमें परमाणुद्वयविभागसे परमाण्वाकाशका विभाग तथा परमाणुगत श्यामादिरूपका नाश होताहै २ । उससे पीछे तीसरे क्षणमें प्रथम जहां परमाणुओंका संयोग था उसका नाश, तथा

रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होती है ३। उससे पीछे चौथे क्षणमें क्रियाकी विश्रान्तिका कारक परमाणुओंका उत्तर संयोग होताहै ४। उससे पीछे पञ्चमक्षणमें अग्निके नोदनसे उत्पन्न हुए परमाणुगत कर्मका नाश होताहै ५। उससे पीछे छठे क्षणमें अदृष्टवाले जीवात्माके संयोगसे द्व्यणुकादि द्रव्यके आरम्भणानुकूला क्रिया होती है ६। उस क्रियासे पीछे सातवें क्षणमें फिर विभाग होता है ७। उसके पीछे अष्टमक्षणमें प्रथम हुए संयोगका नाश होता है ८। उससे पीछे नवमक्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यारम्भक संयोग होता है ९। उससे पीछे दशमक्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होती है १०। उससे एकादशक्षणमें फिर द्रव्यमें रक्तादिगुणोंकी उत्पत्ति होतीहै ११। इति।

मध्यमशब्दवदेकस्मादग्निसंयोगान्न रूपनाशरक्तोत्पादौ, तावत्कालमेकस्याग्नेरस्थिरत्वात्। किंच यद्युत्पादको नाशकस्तदा नष्टे रूपादावग्निनाशे नीरूपश्चिरं परमाणुः स्यात्। नाशकश्चेदुत्पादकस्तदा रक्तोत्पत्तौ तदग्निनाशे रक्ततरता न स्यात्॥

भाषा-मध्यमशब्दकी तरह एकही अग्निसंयोग श्यामादि गुणोंका नाशक तथा रक्तादि गुणोंका उत्पादक नहीं होसकता अर्थात् आदि अन्तके शब्दद्वयको छोडकर मध्यवर्ति यावत् शब्दोंको जैसे स्वपूर्वशब्दनाशके प्रति तथा स्वउत्तर शब्द उत्पत्तिके प्रति कारणता है वैसे द्व्यणुकादि द्रव्यके विनाशक एकही अग्निसंयोगसे श्यामादि गुणोंका विनाश तथा रक्तादिकी उत्पत्ति नहीं होसकती, क्योंकि (तावत्कालम्) श्यामनाशोत्पत्तिके अव्यवहित पूर्वक्षणपर्यन्त वह द्व्यणुकादि द्रव्यका विनाशक एक अग्निसंयोगस्थायी नहीं रहता, (किञ्च) इसमें औरभी युक्ति है कि-यदि रक्तादि उत्पादक अग्निसंयोगकोही श्यामादिविनाशकभी मानें तो श्यामादिरूपके नष्ट होनेसे दैवात् यदि अग्निसंयोगकाभी नाश होय तो पीछे चिरकालपर्यन्त परमाण्वादि द्रव्य रूपरहितही पडा रहना चाहिये; परन्तु यह वार्ता किसी विद्वान्के अनुभवसम्मत नहीं ऐसेही यदि श्यामादि गुणोंके विनाशक अग्निसंयोगकोही रक्तादिका उत्पादिक भी मानें तो साधारण रक्तकी उत्पत्तिके अनन्तर यदि दैवात् अग्निसंयोगका नाशहोय तो रक्ततरता नहीं हुई चाहिये परन्तु साधारण रक्त हुये पीछे अग्निसंयोगका नाश होनेसेभी रक्ततर स्वयं होजाताहै यह वार्ता अनुभवसिद्धहै इसलिये श्यामादिके विनाशक तथा रक्तादिके अग्निसंयोग भिन्न २ हैं; यही मानना उचित है।

अथ पञ्चक्षणा-एवं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात् पञ्चमादि क्षणेऽपि गुणोत्पत्तिः।

अथ पञ्चक्षणा-एवं यदि परमाणु अन्तरमें कर्मका चिन्तन करें अर्थात् द्व्यणुककी विनाशक क्रियावाले परमाणुसे भिन्न जो द्व्यणुकान्तरका आरम्भक परमाणु उस परमाणुमें यदि कर्मका चिन्तन करें अर्थात् द्व्यणुकारम्भक संयोगके विनाशादि उत्पत्तिक्षणमें यदि द्व्यणुकान्तरारम्भक कर्मका चिन्तन करें तो पञ्चमादि क्षणोंमें भी रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति हो सकती है-

तथाहि । एकत्र परमाणौ कर्म, ततो विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । ततस्तु द्व्यणुकनाशः परमाण्वन्तरकर्मजश्च विभाग इत्येककालः १ । ततः श्यामादिनाशः, विभागाच्च पूर्वसंयोगनाश इत्येककालः २ । ततो रक्तोत्पत्तिः द्रव्यारम्भकसंयोगश्चेत्येककालः ३ । अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः ४ । अथ रक्तोत्पत्तिः ५ ॥ इति पञ्चक्षणा ॥

भाषा-(तथाहि) अग्निसंयोगसे एक परमाणुमें क्रिया हुई उस क्रियासे एक परमाणुका दूसरेसे विभाग हुआ, उस विभागसे द्व्यणुकारम्भक संयोगका विनाश तथा परमाणुअन्तरमें कर्म हुआ उससे पीछे द्व्यणुकरूप द्रव्यका नाश तथा परमाणुअन्तरमें कर्मजन्य विभाग हुआ,इतना द्वितीयक्षणरूप एक काल जानना चाहिये१। उससे पीछे नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंका विनाश तथा परमाणुअन्तर विभागसे पूर्वसंयोगका विनाश हुआ, इतना द्वितीयक्षणरूप एक काल जानना चाहिये २ । उससे पीछे नष्टद्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति तथा द्व्यणुकादि द्रव्यका आरम्भक संयोग हुआ,इतना तृतीय क्षणरूप एककाल जानना चाहिये ३ । उसके पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति हुई ४ । उससे पीछे रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ५ ॥ इति पञ्चक्षणाप्रक्रिया ॥

अथ षट्क्षणा--द्रव्यनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्षष्ठे गुणोत्पत्तिः ।

अथ षट्क्षणा-एवं पूर्वोक्त रीतिसे यदि द्व्यणुकादि द्रव्य नाश समकालमें परमाणुअन्तरमें कर्मका चिन्तन करें तो छठे क्षणमें रक्तादिगुणोंकी उत्पत्ति होती है.

तथाहि । परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः । अथ द्व्यणुकनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी १ । अथ श्यामनाशः परमाण्वन्तरकर्मजो विभागश्च २ । ततो रक्तोत्पत्तिः

परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशश्च३। ततः परमाण्वन्तरसंयोगः ४। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ५। अथ रक्तोत्पत्तिः ६॥ इति षट्क्षणा॥

भाषा-(तथाहि) अग्निसंयोगज परमाणुकी क्रियासे परमाणुअन्तरका विभाग होता है, उस विभागसे द्व्यणुकादि द्रव्यके आरम्भक संयोगका विनाश होता है, उससे पीछे द्व्यणुकका विनाश तथा परमाणुअन्तरमें क्रिया होती है १। उससे पीछे दूसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंका विनाश तथा परमाणु अन्तरमें होनेवाली क्रियासे उत्पन्न होनेवाला विभाग होता है २। उससे पीछे तीसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादिरूपकी उत्पत्ति होती है तथा परमाणु अन्तरमें पूर्वसंयोगका विनाश होता है ३। उससे पीछे चौथे क्षणमें रक्तहुए परमाणुका परमाणु अन्तरके साथ संयोग होता है ४। उससे पीछे पञ्चम क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होती है ५। छठे क्षणमें सम्पन्न द्व्यणुकादि द्रव्यमें रक्तादिरूपकी उत्पत्ति होती है ॥ ६ ॥ इति षट्क्षणा प्रक्रिया ॥

अथ सप्तक्षणा-एवं श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्सप्तक्षणा।

अथ सप्तक्षणा-एवं यदि श्यामादि गुणनाशक्षणमें पूर्वोक्त रीतिसे परमाणुअन्तरमें कर्मका चिन्तन करे तो सप्तक्षणमें पुनः द्रव्य रूपादिगुणोंवाला होता है.

तथाहि। परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरेण विभागः,तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः १। ततः श्यामादिनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी २। ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे कर्मजविभागश्च ३। ततः परमाण्वन्तरेण पूर्वसंयोगनाशः ४। ततः परमाण्वन्तरेण संयोगः ५। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ६। ततो रक्तोत्पत्तिः ७॥ इति सप्तक्षणा॥

भाषा-(तथाहि) अग्निसंयोगसे परमाणुमें क्रिया होती है; उस क्रियासे एक परमाणुका दूसरेसे विभाग होता है, उस विभागसे द्रव्यारंभक संयोगका विनाश होता है १। उससे पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यका विनाश होता है १। उससे पीछे दूसरे क्षणमें नष्टद्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादिगुणोंका विनाश तथा परमाणुअन्तरमें क्रिया होती है २। उससे पीछे तीसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति तथा परमाणुअन्तरमें क्रियाजन्य विभाग होताहै ३। उससे पीछे चौथे क्षणमें परमाणुअन्तरके साथ पूर्व संयोगका नाश

होताहै४।उससे पीछे पंचमक्षणमें रक्तपरमाणुका परमाणुअन्तरके साथ संयोग होता है५।उससे पीछे छठे क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होतीहै६ । उससे पीछे सातवें क्षणमें उस द्रव्यमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होती है. ७ । इति सप्तक्षणा प्रक्रिया ॥

अथाष्टक्षणा—एवं रक्तोत्पत्तिसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनादष्टक्षणा ।

अथ अष्टक्षणा—एवं यदि रक्तादिगुणोंकी उत्पत्तिकालमें पूर्वोक्त रीतिसे परमाणु अन्तरमें कर्मका चिन्तन करें तो अष्टक्षणमें द्रव्य पुनः रूपादि गुणयुक्त होता है.

तथाहि । परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः १ । ततः श्यामनाशः २। ततो रक्तोत्पत्तिपरमाण्वन्तरकर्मणी ३ । ततः परमाण्वन्तरकर्मजविभागः ४ । ततः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशः ५ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः ६ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः ७ । अथ रक्तोत्पत्तिः ८ । इत्यष्टक्षणा ॥ १०५ ॥

भाषा-(तथाहि) अग्निसंयोगसे परमाणुमें क्रिया हुई, उस क्रियासे परमाणुके परमाणुअन्तरसे विभाग हुआ. उस विभागसे द्रव्यारम्भक संयोगका विनाश हुआ. उससे पीछे द्व्यणुकादि द्रव्यका नाश हुआ १। उससे पीछे दूसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें श्यामादि गुणोंका नाश हुआ २। उससे पीछे तीसरे क्षणमें नष्ट द्रव्यके परमाणुओंमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति तथा परमाणु अन्तरमें क्रिया होतीहै ३। उससे पीछे चौथे क्षणमें परमाणुअन्तरमें उत्पन्न हुए कर्मसे विभाग होता है ४ । उससे पीछे पंचमक्षणमें परमाणुअन्तरमें पूर्वसंयोगका विनाश होता है ५ । उससे पीछे छठे क्षणमें रक्तपरमाणुका परमाणुअन्तरके साथ संयोग होता है ६ । उससे पीछे सातवें क्षणमें द्व्यणुकादि द्रव्यकी उत्पत्ति होती है ७ । उससे पीछे अष्टमक्षणमें उस द्रव्यमें रक्तादि गुणोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १०५ ॥ इति अष्टक्षणा प्रक्रिया ॥

नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते ॥

भाषा—नैयायिकोंके मतमें तो द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यमेंभी पाक होसकता है.

नैयायिकानामिति । नैयायिकानां मते द्व्यणुकादाववयविन्यपि पाको भवति । तेषामयमाशयः । अवयविनां सच्छिद्रत्वाद्वह्नेः सूक्ष्मावयवैरन्तः प्रविष्टैरवयवेष्ववष्टब्धेष्वपि पाको न विरुध्यते, वैशेषिकमतेऽनन्तावयवितन्नाशकल्पने गौरवात् ।

भाषा--गौतमादि नैयायिकोंके सिद्धान्तमें तो द्व्यणुकादि अवयवोंमेंभी अग्निसंयोगसे पाक होसकताहै परमाणुपर्यंत धावन करनेका कुछ प्रयोजनही नहीं.उनके हृदयका भाव यह है कि–घटादि अवयवी सदा छिद्रयुक्तही रहते हैं; उन छिद्रोंमें अग्निके सूक्ष्म अवयव प्रवेश कर जाते हैं; इसलिये परस्पर मिले मिलाये अवयवीरूप अवयवोंमेंभी पाक मान लेनेमें कुछ विरोध नहीं है. एवं वैशेषिकके मतमें, अनन्त अवयवी तथा उसका ध्वंस कल्पनेमें गौरवभी है.

इत्थं च ' सोऽयं घटः ' इत्यादिप्रत्यभिज्ञापि संगच्छते । यत्र तु न प्रत्यभिज्ञा तत्रावयविनाशोऽपि स्वीक्रियत इति ।

भाषा--इस रीतिसे जब अवयवीका विनाश अङ्गीकार न किया तो "सोऽयं घटः" इत्याकारक प्रत्याभिज्ञाज्ञानभी बन सकता है अर्थात् यदि अवयवी अग्निसंयोगसे विनष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होय तो"सोऽयं घटः" यह प्रत्यभिज्ञाज्ञान नहीं हुआ चाहिये परन्तु होता तो है. इसलिये अग्निसंयोगसे अवयवीका विनाश मानना उचित नहीं परन्तु जहां 'सोऽयम्' इत्यादि प्रत्याभिज्ञात्मक बुद्धि नहीं होती वहां अवयवीका अग्निआदिसंयोगसे विनाशभी हमको स्वीकार है–इति ।

संख्यां निरूपयितुमाह, गणनेति–

भाषा–'गणना' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संख्याका निरूपण करते हैं–

गणनाव्यवहारे तु हेतुः संख्याऽभिधीयते ॥ १०६ ॥

भाषा–गणनाव्यवहारमें हेतुभूत गुणका नाम संख्या है ॥ १०६ ॥

गणनाव्यवहारासाधारणकारणं संख्येत्यर्थः ॥ १०६ ॥

भाषा–अर्थात् परिगणनरूप व्यवहारका असाधारण कारणरूप संख्यात्मक गुण है ॥ १०६ ॥

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते ॥

भाषा–उसमें एकत्वरूप संख्या नित्यपदार्थोंमें नित्य है तथा अनित्यपदार्थोंमें अनित्य है.

नित्येष्विति । नित्येषु परमाण्वादिष्वेकत्वं नित्यम् । अनित्ये घटादावेकत्वमनित्यमित्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् परमाणुआदि नित्यपदार्थोंमें एकत्व नित्य है तथा घटादि अनित्योंमें एकत्व अनित्य है.

द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ॥१०७॥

भाषा–और द्वित्वादि संख्यासे लेकर परार्द्ध पर्यन्त यावत् संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्य है ॥ १०७ ॥

द्वित्वादय इति । द्वित्वादयो व्यासज्यवृत्तिसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्याः ॥१०७ ॥

भाषा–अर्थात् (व्यासज्यवृत्ति) धर्मद्वय समनियतवृत्ति द्वित्वादि परार्द्धपर्यंत यावत् संख्या अपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न होती है. "एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा ॥ लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः ॥ अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दश वृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ १ ॥" इस गणितविद्याके नियमानुसार यदि एक अंकके आगे "१०००००००००००००००००" ऐसे सत्रह शून्य लगादिये जावें तो उस संख्याका नाम परार्द्ध है. एवं द्वित्वादि संख्यासे लेकर एतादृश परार्द्धपर्यन्त यावत् संख्या अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होती है ॥ १०७ ॥

अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः ॥

भाषा–यह सब द्वित्वादि धर्म अनेक आश्रयोंमें पर्याप्तिसम्बन्धसे रहते हैं, यह पूर्वजविद्वान् लोगोंका अनुभवानुरोधेन कथन है।

अनेकेति । यद्यपि द्वित्वादिसमवायः प्रत्येकं घटादावपि वर्तते, तथाऽप्येको द्वावितिप्रत्ययाभावादेको न द्वाविति प्रत्ययसद्भावाच्च द्वित्वादीनां पर्याप्तिलक्षणः कश्चन सम्बन्धोऽनेकाश्रयोऽभ्युपगम्यते ।

भाषा–यद्यपि द्वित्वादिका समवाय भी प्रत्येक घटादिमें रहता है, इसलिये ऐसे स्थलमें पर्याप्तिसम्बन्धकी कल्पना करनी उचित नहीं तथापि "एको द्वौ" इत्याकारक प्रत्ययके न होनेसे तथा "एको न द्वौ" इत्याकारक प्रत्ययके होनेसे द्वित्वादिकोंका 'पर्याप्ति' नामक कोई एक सम्बन्ध अनेक द्रव्यरूप आश्रयोंमें रहनेवाला प्रतीत होता है. "अयमेको घटः, इमौ द्वौ" इत्याकारक प्रतीति सिद्ध स्वरूप सम्बन्धविशेषका नाम 'पर्याप्ति' है ।

अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः ॥ १०८ ॥

भाषा–उस अपेक्षाबुद्धिके नाश होनेसे उन द्वित्वादि धर्मोंकाभी विनाश होता है ॥ १०८ ॥

अपेक्षाबुद्धिनाशादिति । प्रथममपेक्षाबुद्धिः, ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वानिर्विकल्परूपं, ततो द्वित्वत्ववि-शिष्टप्रत्ययमपेक्षाबुद्धिनाशश्च, ततो द्वित्वनाश इति ।

भाषा-प्रथम क्षणमें " अयमेकः अयमेकः " इत्याकारक अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है. दूसरे क्षणमें उस अपेक्षाबुद्धिसे द्वित्वकी उत्पत्ति होती है. तीसरे क्षणमें द्वित्वके द्वित्वत्वरूप विशेषणका निर्विकल्पात्मक " इमे द्वित्वद्वित्वत्वे " इत्याकारक ज्ञान होता है. चौथे क्षणमें द्वित्वत्वविशिष्ट द्वित्वका लौकिक प्रत्यक्ष तथा अपेक्षाबुद्धिका विनाश होता है, पीछे पञ्चम क्षणमें द्वित्वादिका विनाश होता है ।

यद्यपि ज्ञानान्तरं द्विक्षणमात्रस्थायि, योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात् । तथाप्यपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते, अन्यथा निर्विकल्पककालेऽपेक्षाबुद्धिनाशानन्तरं द्वित्वस्यैव नाशः स्यान्न तु द्वित्वप्रत्यक्षम्, तदानीं विषयाभावात्, विद्यमानस्यैव चक्षुरादिना ज्ञानजननोपगमात् । तस्माद्द्वित्वप्रत्यक्षादिकमपेक्षाबुद्धेर्नाशकं कल्प्यते ।

भाषा-यद्यपि और साधारण यावत् ज्ञान द्विक्षणमात्र स्थित रहते हैं, क्योंकि यह नियम है कि-प्रत्यक्षके योग्य विभुके विशेषगुण स्वउत्तरवर्ति विभु विशेषगुणसे नाश हुआ करते हैं तथापि अपेक्षाबुद्धिकी तीनक्षण स्थितिकी कल्पना करनी पड़ती है (अन्यथा) यदि तीन क्षण स्थितिकी कल्पना न करें अर्थात् और ज्ञानोंकी तरह द्विक्षणस्थायिही अपेक्षाबुद्धिभी मानें तो द्वित्वत्वनिर्विकल्परूप ज्ञानकालहीमें अपेक्षाबुद्धिके नाशके अनन्तर द्वित्वकाभी नाश होगा तो द्वित्वका साक्षात्कार नहीं होसकेगा; क्योंकि उस कालमें द्वित्वआत्मकविषय नहीं रहा है और चक्षुरादि इन्द्रियद्वारा विद्यमान विषयकाही ज्ञान होता है. यह वार्ता सभी विद्वानोंके संमत है. इसलिये द्वित्वादिका साक्षात्कारही अपेक्षाबुद्धिका विनाशक है. यह कल्पना करनी पडती है ।

न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यम् । कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावादपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशस्तन्नाशक इति कल्पनात् ।

शंका-अपेक्षाबुद्धिसे विनाशके पीछे द्वित्वादिका विनाश कैसे होता है ? समाधान-अपेक्षाबुद्धिके असत्त्वकालमें द्वित्वादिधर्मोंका साक्षात्कार नहीं होता इसलिये यह निश्चय होता है कि-अपेक्षाबुद्धिही द्वित्वादि धर्मोंको उत्पन्न करनेवाली है और अपेक्षाबुद्धि विनाशही उन द्वित्वादि धर्मोंका विनाशक है ।

अतएव तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिकं तेनैव गृह्यत इति कल्प्यते ।

भाषा-(अतएव) पूर्वोक्त युक्तिसे अपेक्षाबुद्धिको अवश्य द्वित्वादिउत्पादिकता है; इसीलिये यह भी कल्पना होती है कि-उस उस पुरुषकी अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न हुए द्वित्वादिको वही वही पुरुष ग्रहण करसकता है; दूसरा नहीं.

न चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वप्रत्यक्षे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, लाघवेन द्वित्वं प्रति कारणत्वस्यैवोचितत्वात् । अतीन्द्रिये द्व्यणुकादावपेक्षाबुद्धिर्योगिनाम्, सर्गादिकालीनपरमाण्वादावीश्वरीयापेक्षाबुद्धिर्ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिनामपेक्षाबुद्धिर्वा द्वित्वादिकारणमिति।

शंका--अपेक्षाबुद्धिसे यदि द्वित्वादि उत्पत्तिके प्रति कारणता न माने किन्तु केवल द्वित्वादि प्रत्यक्षके प्रतिही कारणता मानें तो हानि क्या है ? समाधान-लाघवानुरोधसे द्वित्वादिके प्रतिही अपेक्षाबुद्धिको कारणता माननी उचित है अर्थात् ' द्वित्वप्रत्यक्षत्व ' की अपेक्षासे ' द्वित्वत्व ' रूप धर्मको कार्यतावच्छेदक माननेमें लाघव है. द्व्यणुकादि अतीन्द्रियपदार्थोंमें योगी लोगोंकी अपेक्षाबुद्धि होती है. सृष्टिके आदिकालमें परमाणुआदिकोंमें ईश्वरकी अपेक्षाबुद्धि होती है अथवा दूसरे ब्रह्माण्डमें होनेवाले योगीलोगोंकी अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादिका कारण होती है-इति ।

अपेक्षाबुद्धिः केत्यत आह, अनेकेति-

शंका-वह अपेक्षाबुद्धि कैसी होती है ?

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते ॥

समा०-अनेक पदार्थोंमें एकत्वअवगाहन करनेवाली बुद्धिका नाम ' अपेक्षाबुद्धि ' है.

अयमेकोऽयमेकः इत्याकारिकेत्यर्थः । इदं तु बोध्यम् । यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र द्वित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्योत्पद्येत यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः ।

भाषा-अर्थात् अनेक पदार्थोंमें " अयमेकोऽयमेकः " इत्याकारक बुद्धिका नाम ' अपेक्षाबुद्धि ' है. यहांपर यह भेदभी जानने योग्य है कि, 'कन्दली' नामक ग्रंथका कर्ता श्रीधर पंडित तो यह कहता है कि--जिस स्थलमें एकत्वका ज्ञान अनियत है अर्थात् नियमपूर्वक नहीं होता उस स्थलमें द्वित्वादि भिन्न बहुत्वसं-

ख्याकी उत्पत्ति होती है. जैसे सेना सभादि पुरुषसमूहमें या वनवाटिकादि वृक्षस-
मूहमें एकत्वज्ञान अनियत है; इसलिये इत्यादि स्थलोंमें द्वित्वादिभिन्न बहुतसं-
ख्याकी उत्पत्ति होती है-इति

आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यन्ते, तथाच त्रित्वत्वादिव्यापिका बहुत्वत्वजातिर्नातिरिच्यते । सेनावनादौ चोत्पन्नेऽपि त्रित्वादौ त्रित्वत्वाद्यग्रहो दोषात् ।

भाषा-और उदयनाचार्य तो यह कहते हैं कि-त्रित्वादिहीका नामान्तर 'बहुत्व' है, बहुत्व कोई त्रित्वादिसे पृथक् धर्म नहीं है. एवं त्रित्वत्वादि धर्मोंकी व्यापकीभूता बहुत्वत्वरूपा जातिभी कोई अतिरिक्त नहीं है. सेनावनादिकोंमें भी त्रित्वादि उत्पन्न तो होते हैं परन्तु उनमें नियतानेक एकत्वज्ञानाभावरूप दोषके प्रभावसे त्रित्वत्वादि धर्मोंका ग्रहण नहीं होता.

इत्थं च 'इतो बहुतरेयं सेना' इति प्रतीतिरुपपद्यते, बहुत्वस्य संख्यान्तरत्वे तु तत्तारतम्याभावान्नोपपद्येतेत्यवधेयम् ॥

भाषा-(इत्थञ्च) ऐसे मन्तव्यसे ' इतो बहुतरेयं सेना ' अर्थात् इस सेनासे इस द्वितीय सेनाके बहुत्वम स्वसजातीयनिरूपित उत्कर्ष प्रतीत होता है. इस प्रतीतिकीभी उपपत्ति हो सकती है; परन्तु यदि बहुत्वको त्रित्वादिसे संख्यान्तर मानें तो उसकी अपने आपमें न्यून अधिकता कुछ नहीं बन सकती, इसलिये " इतो बहुतरेयं सेना " इस प्रतीतिका उपपन्न होना दुर्घट है--इति ।

परिमाणं निरूपयति, परिमाणमिति-

भाषा-'परिमाणं' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार परिमाणका निरूपण करते हैं--

परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम् ॥ १०९ ॥
अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः ॥

भाषा-मानव्यवहारके कारणीभूतका नाम ' परिमाण ' है ॥ १०९ ॥ वह परिमाण अणु दीर्घ महत् तथा ह्रस्व भेदसे चार प्रकारका है.

परिमितिव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणमित्यर्थः ॥ १०९ ॥ तच्चतुर्विधम् अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं च । इदं चातुर्विध्यं प्रत्यक्षसिद्धम् । तत्राणुत्वह्रस्वत्वे महत्त्वदीर्घत्वे समनियते ।

भाषा-अर्थात् "इदम् अणु, इदम् महत्" इत्याकारक जो (परिमिति) परिमापण

रूप व्यवहार उसका असाधारण कारणीभूत परिमाण है ॥१०९॥ वह अणु महत् दीर्घ तथा ह्रस्वभेदसे चार प्रकारका है. यह चारों प्रकारका प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध है. उनमें अणुत्व ह्रस्वत्व तथा महत्त्व दीर्घत्व ये दो दो आपसमें समनियत रहते हैं. भाव यह कि इन चारों प्रकारके परिमाणको पहले परम मध्यम भेदसे दोप्रकारका जानना चाहिये. उनमें परमअणुत्व तथा परमह्रस्वत्व परमाणुओंमें तथा मनमें है. एवं मध्यम अणुत्व तथा मध्यमह्रस्वत्व द्व्यणुकमें है. एवं परममहत्त्व तथा परम-दीर्घत्व गगनादिकोंमें है और मध्यममहत्त्व तथा मध्यमदीर्घत्व घटादि पदार्थोंमें है. इस रीतिसे ये दो दो परस्पर समनियत हैं.

अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ११०॥
संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ॥
अनित्यं-

भाषा-वह परिमाण घटपटादि अनित्यपदार्थोंमें अनित्य है तथा गगनादि नित्य-पदार्थोंमें नित्य है ॥ १२० ॥ इनमें अनित्यपरिमाणकी संख्यासे परिमाणसे तथा (प्रचय) शिथिलारूप संयोगसे उत्पत्ति होती है.

तत्परिमाणम् । नित्यमित्यत्र परिमाणमित्यनुषज्यते । जायत इत्यत्रापि परिमाणमित्यनुवर्तते । अनित्यमिति पूर्वेणान्वितम् । तथाचानित्यं परिमाणं संख्याजन्यं परिमाणजन्यं प्रचयजन्यं चेत्यर्थः ।

भाषा-मूलपठित 'तत्' शब्दसे परिमाणका ग्रहण है, एवं 'नित्यम्' इस पदके साथ 'परिमाणम्' इस पदका पूर्वकारिकासे अनुवर्तन करके सम्बन्ध करना. एवं ' जायते ' इस क्रियापदके साथभी 'परिमाणम्' इस पदका पीछेसे सम्बन्ध करना कारिकाके उत्तरार्द्धके आदिमें पठित 'अनित्य' पदका पूर्व पदोंके साथ अन्वय है. एवं यह अर्थ हुआ कि-अनित्यपरिमाण संख्याजन्य परिमाणजन्य तथा प्रचयजन्य होनेसे तीन प्रकारसे उत्पन्न होता है.

तत्र संख्याजन्यमुदाहरति, द्व्यणुकादाविति-

भाषा-उनमें 'द्व्यणुकादौ' इत्यादि ग्रन्थसे संख्याजन्यको दिखलाते हैं-

-द्व्यणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम् ॥ १११ ॥

भाषा-द्व्यणुकादिकोंका परिमाण संख्यासे उत्पन्न होताहै ॥ १११ ॥

द्व्यणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा न कारणम् । परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वात् । द्व्यणुकादिपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्, त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम्, अतः परमाणौ द्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य, द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्य समवायिकारणमित्यर्थः ॥ १११ ॥

भाषा-द्व्यणुकके या त्रसरेणुके परिमाणके प्रति परमाणु परिमाणको या द्व्यणुक परिमाणको कारणता नहीं है; क्योंकि परिमाणको नियमसे स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाणजनकता है. भाव यह कि-परिमाणका यह स्वभाव है कि, यह अपनेसे उत्कृष्ट परिमाणहीका जनक होताहै और द्व्यणुकादिका परिमाण तो परमाणुके अणुत्वकी अपेक्षासे कुछ उत्कृष्ट नहीं है और त्रसरेणुका परिमाण परमाणुपरिमाणका सजाति नहीं है क्योंकि त्रसरेणुका परिमाण इन्द्रियग्राह्य होनेसे मध्यममहत् है तथा परमाणुका परिमाण परम अणु है इसलिये परमाणुद्वयगत द्वित्वसंख्या द्व्यणुकपरिमाणके प्रति तथा द्व्यणुक तीनगत त्रित्वसंख्या त्रसरेणुपरिमाणके प्रति असमवायिकारण है; यही मानना उचित है ॥ १११ ॥

परिमाणजन्यमुदाहरति, परिमाणं घटादाविति-

भाषा-एवं 'परिमाणं' इत्यादि ग्रन्थसे परिमाणजन्य परिमाणको दिखलाते हैं.

परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते ।

परिमाणजं कपालादिपरिमाणजन्यम् ।

भाषा-घटादिगत परिमाणके प्रति कपालादिगत परिमाणको असमवायि कारणता है.

प्रचयजन्यमुदाहर्तुं प्रचयं निर्वक्ति, प्रचय इति-

भाषा-एवं प्रचयजन्य परिमाण प्रदर्शनार्थ पहले 'प्रचयः' इत्यादि ग्रन्थसे प्रचयको दिखलाते हैं.

प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते॥११२॥
परिमाणं तूलकादौ-

भाषा-'प्रचय' नाम शिथिलाख्य संयोगका है ॥ ११२ ॥ उस संयोगसे (तूल) रूई आदिकोंमें परिमाणान्तरकी उत्पत्ति होती है.

परिमाणं चाश्रयनाशादेव नश्यतीत्याह, नाश इति–

भाषा–उस परिमाणका स्वाश्रय नाश होनेसे नाश होताहै; इसीको 'नाशस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं.

–नाशस्त्वाश्रयनाशतः ॥

अर्थात् परिमाणस्यैव ।

भाषा–उस परिमाणका अपने आश्रयद्रव्यके नाश होनेसें नाश होताहै अर्थात् आश्रयद्रव्यके नाशमात्रसे केवल परिमाणहीका नाश होता है, गुणान्तरका नहीं.

न चावयविनाशः कथं परिमाणनाशकः, सत्यप्यवयविनि त्रिचतुरादिपरमाणुविश्लेषे तदुपचये चावयविनः प्रत्यभिज्ञानेऽपि परिमाणान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति वाच्यम् ।

शंका–अवयवीका नाश उसके परिमाणका नाशक तो नहीं बनसकता; क्योंकि पटादि अवयवी बनाभी रहे परन्तु यादि उनमेंसे तीन चार (परमाणु) हिस्से अर्थात् तन्तु आदि निकाल लिये जायँ अथवा और डालदिये जायँ तो 'यह वही पट है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाज्ञान उसमें होनेसेभी उसका परिमाणान्तर होजाताहै;यह वार्ता तो प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है अर्थात् ऐसे स्थलमें अवयवीनाशरूप कारणके न होनेपरभी परिमाणनाशरूप कार्य देखनेमें आया; इसलिये व्यतिरेकव्यभिचार हुआ.

परमाणुविश्लेषे द्व्यणुकस्य नाशोऽवश्यमभ्युपेयस्तन्नाशे च त्र्यणुकनाश इत्येवं क्रमेण महावयविनो नाशस्यावश्यकत्वात् । सति च नाशकेऽनभ्युपगममात्रेण नाशस्यापवदितुमशक्यत्वात् । शरीरादाववयवोपचयेऽसमवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आवश्यकः ।

समाधान–परमाणुद्वयके विश्लेषसे द्व्यणुकका विनाश तो आपको स्वीकृतही होगा, एवं द्व्यणुकके नाश होनेसे त्रसरेणुका नाशभी माननेही योग्यहै; इसी क्रमसे महाअवयवीपर्यन्त विनाशका विचार अवश्य करना उचित है इस क्रमसे यदि परिमाणका विनाशक अवयवीनाशही बुद्धिमें आजाय तो केवल उसके नाश स्वीकारकरणमात्रसे आप अवयवीनाशका अपलाप नहीं करसकते, असमवायिकारणके विनाशसे कार्यका विनाश नियमसे होताहै. एवं शरीरादिकोंमेंभी (अवयव) अङ्गोंके

बढहनेसे शरीरके असमवायिकारण अवयवसंयोगका विनाश अवश्य होताहै, इसलिये अवयवी शरीरका विनाशभी अवश्य मानना चाहिये.

न च पटविनाशेऽपि तन्त्वन्तरसंयोगात् परिमाणाधिक्यं न स्यादिति वाच्यम्। तत्रापि वेमाद्यभिघातेनासमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशात् पटनाशस्यावश्यकत्वात्।

शंका-दोचार तन्तुओंके निकलनेसे पटके विनाश होनेपरभी उस पटमें यदि तन्तु अन्तरका संयोग होय तो वही पट अधिक परिमाणवाला होजाताहै, वह नहीं हुआ चाहिये. समाधान-ऐसे स्थलोंमेंभी वेमादिके अभिघातारूय संयोगसे पटका असमवायिकारण जो परस्पर तन्तुद्वयसंयोग उसका नाश होताहै इसलिये पटका विनाश भी अवश्यही मानना चाहिये.

किंच तन्त्वन्तरस्य तत्पटावयवत्वे पूर्वं तत्पट एव न स्यात्, तन्त्वन्तररूपकारणाभावात्। तन्त्वन्तरस्यावयवत्वाभावे च न तेन परिमाणाधिक्यं संयुक्तद्रव्यान्तरवत्।

भाषा-(किञ्च) तन्तुअन्तरभी यादि उसी पूर्वपटके अवयवही मान लिये जांय तो उन तन्तुओंके सम्बन्धसे पहले वह पटही नहीं होना चाहिये, क्योंकि स्वसम्बन्धसे प्रथम तन्तुअन्तररूप कारण विद्यमानही नहींहै और यदि तन्तुअन्तरको उस पटका (अवयव) समवायिकारणही नहीं माने तो उनसे पटपरिमाणके अधिक होनेकी संयुक्तद्रव्यकी तरह शंकाही नहीं होसकती अर्थात् जैसे घटपटादिके परस्पर संयोगसे घटके या पटके परिमाणको अधिक कोई नहीं मानता किन्तु संयुक्तमात्र व्यवहार करतेहैं वैसेही तन्तुअन्तरके सम्बन्धसे प्रथम पटमेंभी समझना चाहिये.

तस्मात्तत्र तत्वन्तरसंयोगे सति पूर्वं पटनाशस्ततः पटान्तरोत्पत्तिरित्यवश्यं स्वीकार्यम्। अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं तु साजात्येन दीपकलिकादिकवत्।

भाषा-इसलिये ऐसे स्थलमें यही सिद्धान्त अवश्य मानना उचित है कि तन्तु अन्तरके संयोग होनेसे उस पूर्वपटका विनाश हुआहै और नूतन पटान्तरकी उत्पत्ति हुई है. एवम् "स एवायं पटः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञाज्ञानका निर्वाह दीपशिखाकी तरह सजातीयके अवगाहन करनेवाला समझना चाहिये अर्थात् जैसे क्षण २ में बदलती हुई दीपशिखामें "यह वही दीपशिखा प्रज्वलित है" इत्यांकारक साजात्यावलम्बी प्रत्यय लोकमें सर्वानुभवसिद्ध है वैसेही प्रकृतमें भी जानना चाहिये.

न च पूर्वतन्तव एव तन्त्वन्तरसहकारात् पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति वाच्यम्। मूर्तयोः समानदेशताविरोधात्। एकदा नानाद्रव्यस्य तत्रोपलम्भस्य बाधितत्वाच्च। पूर्वद्रव्यस्य प्रतिबन्धकस्य विनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्तिरित्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्।

शंका–प्रथम तन्तुही यदि और तन्तुओंकी सहकारतासे पहले पटके रहनेपरभी दूसरे पटको उत्पन्न करें तो क्या दोष है? समाधान–दो मूर्तद्रव्य समान एक देशमें नहीं रहसकते अर्थात् मूर्तद्रव्य देशका प्रतिरोधक होता है, इसलिये दो मूर्त एक देशमें नहीं रह सकते और ऐसे स्थलमें एकही वार नानाद्रव्यकी उपलब्धिभी नहीं होती अर्थात् एकही पटादि पदार्थ एकही कालमें दोतरहका कभी किसी पुरुषको दिखाई नहीं दिया इसलिये उत्तरद्रव्यकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकरूप पूर्वद्रव्यके विनाश होनेसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति होती है; इस वार्ताको अवश्य मानना चाहिये.

पृथक्त्वं निरूपयति, संख्यावदिति–

भाषा–एवं 'संख्यावत्' इत्यादि ग्रन्थसे पृथक्त्वका निरूपण करते हैं–

संख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम्॥११३॥

भाषा–पृथक्प्रत्ययका कारणीभूत पृथक्त्वगुणभी संख्याकी तरहही जानना चाहिये ॥ ११३ ॥

पृथक्प्रत्ययासाधारणं कारणं पृथक्त्वम्। तन्नित्यतादिकं संख्यावत्। तथाहि। नित्येष्वेकत्वं नित्यमनित्येष्वनित्यम् अनित्यमेकत्वं स्वाश्रयद्वितीयक्षणे चोत्पद्यते आश्रयनाशान्नश्यति। तथैकपृथक्त्वमपि। द्वित्वादिवच्च द्विपृथक्त्वादिकमपीत्यर्थः॥ ११३ ॥

भाषा–अर्थात् "अयम् अस्मात् पृथक्" इत्याकारक प्रत्ययका असाधारण कारण 'पृथक्त्व' है उसके नित्य अनित्य होनेका विचार संख्याकी तरह जानना चाहिये. (तथाहि) अर्थात् जैसे नित्यपदार्थोंमें एकत्व नित्य है और अनित्योंमें अनित्य है और वह अनित्य एकत्व अपने आश्रयमें स्वाश्रयकी उत्पत्तिसे दूसरे क्षणमें उत्पन्न होता है, एवं स्वाश्रयनाशहीसे नाश होता है. वैसेही पृथक्त्वकोभी जानना चाहिये. एवं पूर्वोक्त द्वित्वादिकोंकी तरह द्विपृथक्त्वादिकोंका उत्पत्तिविनाशभी जानलेना चाहिये अर्थात् अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारणसे इनकी उत्पत्ति है तथा अपेक्षाबुद्धि आदिके विनाशसे इनका विनाश है ॥ ११३ ॥

ननु, 'अयमस्मात् पृथग्' इत्यादावन्योन्याभावो भासते तत्कथं पृथक्त्वं गुणान्तरं स्वीक्रियते, नचास्तु पृथक्त्वं, न त्वन्योन्याभाव इति वाच्यम्, रूपं न घट इति प्रतीत्यनापत्तेः। न हि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्ति, न वा घटे घटावधिकं पृथक्त्वमस्ति येन परम्परासम्बन्धः कल्प्य इत्यत आह, अन्योन्याभावात् इति।

शंका–"अयमस्मात् पृथक्" इत्यादि प्रतीतिमें अन्योन्याभावका भान होता है इसलिये इस प्रतीतिसे पृथक्त्वको गुणान्तर मानना योग्य नहीं और यदि कहो कि पृथक्त्वके गुणान्तर माननेसे सर्वत्र निर्वाह हो सकता है इसलिये अन्योन्याभाव माननेकी आवश्यकताही नहीं तो यहभी ठीक नहीं, क्योंकि यदि अन्योन्याभावप्रतीति सिद्ध न होय तो "रूपं न घटः" यह प्रतीति नहीं हुई चाहिये. भाव यह कि–इस प्रतीतिका निर्वाह पृथक्त्वसे नहीं होसकता; क्योंकि रूपमें घटात्मक अवधिको लेकर कोई पृथक्त्वनामक गुणान्तर नहीं है और घटमें स्वात्मक अवधिको लेकरभी पृथक्त्व नहीं रहता जिससे 'सामानाधिकरण्य' रूप परंपरासम्बन्धकी कल्पनासे उक्त प्रतीतिका निर्वाह किया जाय इसी भावको लेकर मूलकार 'अन्योन्य' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थको कहते हैं–

विलक्षणेति। ननु शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्यमिति चेत् न। विनाऽर्थभेदं घटात् पृथगितिवत् घटो न पटः इत्यत्रापि पञ्चमी स्यात्। तस्मात् यदर्थकयोगे पञ्चमी सोऽर्थो नञर्थाऽन्योन्याभावतो भिन्नो गुणान्तरं कल्प्यत इति॥ ११४॥

समाधान–इस पृथक्त्वात्मकगुणकी अन्योन्याभावसे चरितार्थता नहीं होती; क्योंकि "अयमस्मात् पृथक्" इससे "इदमिदं न" यह प्रतीति विलक्षण है॥११४॥

अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते॥
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा॥ ११४॥

शंका–इन दोनों प्रतीतियोंमें परस्पर केवल शब्दमात्रकी विलक्षणता है किन्तु अर्थभेद नहीं है. समाधान–यदि अर्थभेद न होय जैसे "घटात् पृथक्" इस प्रयोगमें पञ्चमीविभक्ति हुई है, वैसे 'घटो न पटः' इस प्रयोगमेंभी पञ्चमी होनी चाहिये. भाव यह कि–यदि'नञ्' तथा'पृथक्'अव्यय इन दोनोंका एकही अर्थ होय तो

जैसे पृथक्के योगसे "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २ । ३ । ३२ " इस सूत्रसे पञ्चमीआदि विभक्ति होती है; वैसेही 'नञ्' के योगमें भी होनी चाहिये; परन्तु किसी स्थलमें भी विधानके न होनेसे होती नहीं है. इसलिये दोनोंका एक अर्थ मानना भी उचित नहीं है; इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जिस अर्थके योगमें पञ्चमी हुई है, वह अर्थ नञ् अर्थ अन्योऽन्याभावसे भिन्न अवश्य कोई गुणान्तर है--इति ॥ ११४ ॥

संयोगं निरूपयति, अप्राप्तयोरिति-

भाषा-एवम् 'अप्राप्तयोः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संयोगका निरूपण करते हैं--

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ॥

तं विभजते, कीर्तित इति-

कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः ॥ ११५ ॥
तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः ॥

एष संयोगः ॥ ११५ ॥

आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः॥११६॥
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः ॥
कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥ ११७ ॥
तृतीयः स्यात्-

भाषा-अप्राप्त द्रव्योंके परस्पर (प्राप्ति) मिलापका नाम 'संयोग' है; वह संयोग तीन प्रकारका है. उनमें प्रथम अन्यतर क्रियासे उत्पन्न होता है ॥ ११५ ॥ दूसरा उभयक्रियासे उत्पन्न होता है और तीसरा संयोगसे संयोग उत्पन्न होता है, इनमें प्रथम पर्वत पक्षी आदिकोंका संयोग है अर्थात् पर्वत अचल है, केवल पक्षी-आदिकी क्रियासे पर्वतमें संयोग होता है ॥ ११६ ॥ एवं परस्पर (मेष) मेढेआ-दिका (सन्निपात) टक्कर लगानारूप दूसरा संयोग है अर्थात् ऐसा संयोग उभ-यत्र क्रिया हो तो होता है. एवं कपालवृक्षके संयोगसे होनेवाला घटवृक्षका संयोग ॥ ११७ ॥ तीसरा संयोग है.

सन्निपातः संयोगः । द्वितीय उभयकर्मजः ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

तृतीय इति, संयोगज इत्यर्थः।तृतीयः स्यादिति च पूर्वेणान्वितम्।

भाषा--मूलमें ' सन्निपात ' यह शब्द संयोगका वाचक है. एवं द्वितीय शब्द उभयक्रियाजन्य संयोगपर है ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ (तृतीय इति) अर्थात् संयोगसे उत्पन्न होनेवाला संयोग मूलघटित 'तृतीयः स्यात्' इस भागका पूर्वले पदोंके साथ अन्वय है.

-कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्तितः ॥
अभिघातो नोदनं च शब्दहेतुरिहादिमः ॥ ११८ ॥
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात्-

भाषा--वह क्रियाजन्य संयोग फिर दो प्रकारका है. एक अभिघाताख्य संयोग है; और दूसरा नोदनाख्य है. जिस संयोगके होनेसे शब्द होय वह अभिघाताख्य संयोग है ॥ ११८ ॥ एवं जिसके होनेसे शब्द न होय वह नोदनाख्य संयोग है.

आदिमोऽभिघातः ॥ ११८ ॥ द्वितीयो नोदनाख्यः संयोग इति ।

भाषा--मूलमें ' आदिम ' शब्दसे अभिघाताख्य संयोगका ग्रहण है ॥ ११८ ॥ तथा ' द्वितीय ' शब्दसे नोदनाख्यसंयोगका ग्रहण है.

विभक्तप्रत्ययासाधारणं कारणं विभागं निरूपयति, विभाग इति-

भाषा--एवम् ' विभाग ' इत्यादि ग्रन्थसे विभक्तप्रत्ययके असाधारण कारणीभूत विभागका निरूपण करते हैं--

-विभागोपि त्रिधा भवेत् ॥
एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्व्यकर्मोद्भवोऽपरः ॥ ११९ ॥
विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत् ॥
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ १२० ॥

भाषा--एवं संयोगकी तरह विभाग भी तीन प्रकारका है. उनमें प्रथम एककी क्रियासे उत्पन्न होता है; दूसरा दोनोंकी क्रियासे उत्पन्न होता है ॥ ११९ ॥ और तीसरा विभागसे विभाग उत्पन्न होता है. वह तीसरा फिर दो प्रकारका है. पहला केवल कारणमात्रके विभागसे उत्पन्न होता है और दूसरा कारणाकारण उभयके विभागसे उत्पन्न होता है ॥ १२० ॥

एककर्मेति । उदाहरणं तु श्येनशैलविभागादिकं पूर्ववद्बोध्यम् ॥ ॥ ११९ ॥ तृतीयो विभागजः कारणमात्रविभागजन्यः कारणाकारणविभागजन्यश्चेति । आद्यस्तावत्-यत्र कपाले कर्म ततः

कपालद्वयविभागस्ततो घटारम्भकसंयोगनाशस्ततो घटनाशस्ततस्तेनैव कपालविभागेन स्वकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते, तत आकाशसंयोगनाशः, तत उत्तरदेशसंयोगस्ततः कर्मनाश इति।

भाषा–तीनों प्रकारके विभागके उदाहरणभी पीछे लिखे तीनों प्रकारके संयोगकी तरहही जानने चाहिये अर्थात् श्येन शैलादिका विभाग अन्यतरक्रियाजन्य है तथा मेषद्वयका विभाग उभयक्रियाजन्य है और तीसरा विभागजविभाग दोप्रकारका है. एक कारणमात्र विभागजन्य है, दूसरा कारणाकारणविभागजन्य है; उनमें प्रथमका उदाहरण जैसे पहले कपालमें क्रिया हुई उस क्रियासे कपालद्वयका विभाग हुआ, उस विभागसे पीछे घटके आरम्भक कपालद्वयके संयोगका विनाश हुआ पीछे घटका नाश हुआ उससे पीछे उसी कपालद्वयविभागसे पूर्वोक्त क्रियायुक्त कपालका आकाशके साथ विभाग उत्पन्न होता है;उससे पीछे आकाशसंयोगका विनाश होता है उससे पीछे कपालका उत्तर देशके साथ संयोग होता है. उससे पीछे कपालगत क्रियाका विनाश होता है–इति।

न च तेन कर्मणैव कथं देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम्। एकस्य कर्मणा आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्यानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य च विरोधात्।

शंका–उस कपालद्वयविभागजनक प्रथमक्रियाहीसे यादि (देशान्तर) कपालाकाशादि विभागभी मान लिया जाय तो हानि क्या है ? अर्थात् वह प्रथमक्रियाही कपालाकाशादि देशान्तर विभागकोभी उत्पन्न क्यों नहीं करती ? उसके लिये जुदा कपालद्वयविभागमें कारणता कल्पनेकी कौन आवश्यकता है. समाधान–एक क्रियामें (आरम्भकसंयोग) कपालद्वय संयोगादिविरोधि विभागजनकता तथा (अनारम्भकसंयोग) कपालाकाशसंयोगादि विरोधिविभागजनकता नहीं रहती क्योंकि इन दोनों धर्मोंका परस्पर विरोधहै.

अन्यथा विकसत् कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्।

भाषा–(अन्यथा) यदि आरम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको तथा अनारम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको एकही मानें तो विकसत्कमलके कुडमलका भङ्ग हो जाना चाहिये अर्थात् खिलते हुए कमलकी डोडी टूट जानी चाहिये. यहां भाव यह है कि-खिलतेहुए कमलमें अग्रावच्छेदेन अनारम्भक संयोगके विरोधिविभागकी जनिका क्रिया है,उसी क्रियासे यदि मूलावच्छेदेन आरम्भकसंयो-

गविरोधिविभागभी मान लिया जाय तो उस विभागसे कमलके आरम्भकसंयोगके नाश होनेके पश्चात् कमलका विनाशभी हुआ चाहिये परन्तु ऐसा होता देखनेमें नहीं आता.

तस्माद्यदीदमनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं जनयेत्, तदा आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं न जनयेत् ।

भाषा-इसलिये आरम्भकसंयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको तथा अनारम्भक-संयोगविरोधि विभागजनक क्रियाको एक मानना उचित नहीं है; किन्तु यही मानना उचित है कि क्रिया जिस कालमें अनारम्भकसंयोगविरोधि विभागको उत्पन्न करती है उस कालमें आरम्भक संयोगके विरोधिविभागको नहीं उत्पन्न करती.

न च कारणविभागेनैव द्रव्यनाशात्पूर्वं कुतो देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम् । आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागवतोऽवयवस्य सति द्रव्ये देशान्तरविभागसम्भवात् । १ ।

शंका-कारणविभागहीसे अर्थात् कपालद्वयविभागादिहीसे घटादि द्रव्यनाशसे पहले देशान्तरविभागभी क्यों नहीं उत्पन्न होता?यदि होता है तो "ततो घटनाशः, ततस्तेनैव कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते" यह पूर्वकथन आपका असङ्गत होगा.समाधान-कपालद्वय विभागादिसे घटादिद्रव्यनाशके पहले देशान्तर विभाग उत्पन्न नहीं होसकता; क्योंकि आरम्भसंयोगके (प्रतिद्वंद्वि) विरोधि-विभागवाले कपालादि अवयवका (सति द्रव्ये) द्रव्यनाशके विना देशान्तरके साथ विभाग होना असम्भव है १ ।

द्वितीयस्तावत् । यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्तप्रत्ययो भवति तत्र च शरीरतरुविभागे हस्तक्रिया न कारणं व्यधिकरणत्वात्, शरीरे तु क्रिया नास्त्येव,अवयविकर्मणो यावदवयवकर्मनियतत्वात् । अतस्तत्र कारणाकारणविभागेन कार्याकार्यविभागो जन्यत इति । २ ।

भाषा-एवं द्वितीयका उदाहरण जैसे जहां(हस्त)हाथमें क्रिया होनेसे हाथ वृक्षका विभाग हुआहै. पश्चात् उसीसे शरीरमेंभी विभक्त(प्रत्यय) प्रतीति होतीहै,वहां शरीर वृक्षके विभागमें हस्तक्रियाको कारणता नहीं है क्योंकि इन दोनोंका परस्पर एक अधिकरण नहींहै और कार्यकारणभाव नियमसे समानाधिकरण पदार्थोंहीका होताहै.

शरीरवृक्षके विभागके प्रति शरीरक्रियाकी कारणता कहें तो वहभी ठीक नहीं क्यों-कि शरीरमें क्रिया हुईही नहीं, भाव यह कि-अवयवीके यावत् अवयवोंमें क्रिया होनेसे अवयवीमें क्रिया मानी जाती है, अन्यथा नहीं; इसलिये ऐसे स्थलमें कार-णाकारणके विभागसे कार्याकार्यविभागका उत्पन्न होनाही मानने योग्य है अर्थात् हस्तवृक्षके विभागहीसे शरीरवृक्षका विभाग उत्पन्न हुआ मानना चाहिये, हस्तवृ-क्षके विभाग होनेहीसे शरीरमेंभी विभक्तप्रत्यय होता है । २ ।

अत एव विभागो गुणान्तरम्। अन्यथा शरीरे विभक्तप्रत्ययो न स्यात् । अतः संयोगनाशेन विभागो नान्यथासिद्धो भवति १२०॥

भाषा-इसीलिये विभागभी गुणान्तर है, किन्तु संयोगनाशरूप नहीं है,(अन्यथा) यदि गुणान्तर न मानें किन्तु संयोग नाशरूपही मानें तो शरीरमें विभक्तप्रत्यय नहीं होना चाहिये इसलिये संयोगनाशसे विभाग अन्यथा सिद्ध नहीं है ॥ १२० ॥

परापरव्यवहारनिमित्ते परत्वापरत्वे निरूपयति, परत्वं चेति-

भाषा-एवं ' परत्वम् ' इत्यादि ग्रन्थसे परापर व्यवहारके निमित्त कारणीभूत परत्व तथा अपरत्वका निरूपण करते हैं-

परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम् ॥
दैशिकं कालिकं चेति मूर्त एव तु दैशिकम् ॥१२१॥
परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम् ॥ १२२ ॥

भाषा-दैशिक कालिक भेदसे परत्व तथा अपरत्व दोप्रकारका कहा है, उनमेंसे दैशिक परत्वापरत्व तो मूर्तपदार्थहीमें रहते हैं ॥ १२१ ॥ अधिकमूर्तसंयोगज्ञानसे परत्व उत्पन्न होता है, एवम् उससे (अल्प) न्यून मूर्तसंयोगज्ञानसे अपरत्व उत्पन्न होता है ।

दैशिकमिति । दैशिकपरत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्तरितत्वज्ञानादु-त्पद्यते । एवं तदल्पीयस्त्वज्ञानादपरत्वमुत्पद्यते । अत्रावधि-त्वार्थं पञ्चम्यपेक्षा । यथा पाटलिपुत्रात् काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः,पाटलिपुत्रात् कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपर इति ॥१२१॥१२२॥

भाषा-अनेक मूर्तपदार्थोंके परस्पर संयोगसंयोगान्तरज्ञानसे दैशिकपरत्व उत्पन्न होताहै. एवं परत्वउत्पादक संयोगसंयोगान्तरकी अपेक्षा न्यून संयोग संयोगान्तरके

ज्ञानसे अपरत्व उत्पन्न होता है, यहां अवधिज्ञानार्थ पञ्चमीविभक्तिकी अपेक्षा है; (पाटलिपुत्रात्) "पटनाको अवधि मानकर काशीकी अपेक्षा प्रयाग परे है अर्थात् पटनेमें स्थित पुरुषको काशीकी अपेक्षा प्रयाग दूर है, एवं पटनेहीमें स्थित पुरुषको कुरुक्षेत्रकी अपेक्षा प्रयाग अपर है अर्थात् समीप है ", इत्याकारक व्यवहारके असाधारण निमित्तभूत मूर्तपदार्थोंमें परत्वापरत्व ये दो धर्म रहते हैं ॥१२१॥१२२॥

तयोरसमवायी तु दिक्संयोगस्तदाश्रये ॥

भाषा-उन दैशिक परत्वापरत्वोंका असमवायिकारण दैशिक परत्वापरत्व आश्रयके साथ दिशाका संयोगरूपही है ।

तयोर्दैशिकपरत्वापरत्वयोः । असमवायी असमवायिकारणम् तदाश्रये दैशिकपरत्वापरत्वाश्रये ।

भाषा-मूलनिष्ठ ' तयोः' इस पदसे दैशिक परत्वापरत्वका ग्रहण है. एवम् 'असमवायी' पदसे असमवायिकारणका ग्रहण है, 'तदाश्रये' इस पदसे दैशिक परत्वापरत्वके आश्रय अर्थात् पूर्वोक्तरीतिसे जिन प्रयागादि स्थलोंमें दैशिक परत्वापरत्व उत्पन्न होता है उसका ग्रहण है.

दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥ १२३ ॥
परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः ॥

भाषा-एवं सूर्यक्रियाके भूयस्त्वज्ञानसे कालिकपरत्व उत्पन्न होता है ॥ १२३ ॥ तथा सूर्यक्रियाके अल्पीयस्त्वज्ञानसे कालिकअपरत्व उत्पन्न होता है ।

दिवाकरेति । अत्र परत्वमपरत्वं च कालिकं ग्राह्यम् । यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः, यस्य न्यूनः स कनिष्ठः । कालिकपरत्वापरत्वे जन्यद्रव्य एव ।

भाषा--(अत्र) इस प्रकरणमें 'परत्व' तथा 'अपरत्व' कालिक जानना चाहिये (यस्य) जिस पीछे उत्पन्न हुए पदार्थके साथ सूर्यक्रियाकी अपेक्षासे (यस्य) जिस प्रथम उत्पन्न हुए पदार्थसे सूर्य्यकी क्रिया अधिक सम्बन्ध रखती है, वह पदार्थ ज्येष्ठ है अर्थात् अधिक आयुवाला है. एवं जिससे जिसमें न्यून सम्बन्ध वह उससे कनिष्ठ है अर्थात् कम आयुवाला है यह कालिक परत्वापरत्व व्यवहार केवल जन्यद्रव्यहीमें होता है और पदार्थोंमें नहीं होता.

अत्र त्वसमवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः॥१२४॥

अत्र कालिकपरत्वापरत्वयोः ॥ १२४ ॥

भाषा-(अत्र) इस कालिक परत्वापरत्वमें काल (पिण्ड) जन्यद्रव्यके संयोगको असमवायिकारणता है ॥ १२४ ॥

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः ॥

तेषां कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानाम् ।

भाषा-उन कालिक तथा दैशिक परत्वापरत्वोंका अपेक्षाबुद्धिके नाश होनेसे नाश होता है.

क्रमप्राप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह, । बुद्धेरिति--

भाषा-यहां ' बुद्धेः ' इत्यादि ग्रन्थसे क्रमप्राप्त बुद्धिका निरूपण करते हैं-

बुद्धेः प्रकारः प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः॥ १२५ ॥
अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते ॥
अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥ १२६ ॥

भाषा-बुद्धिका प्रकार तो हम बहुलरूपसे पीछे आत्मनिरूपणहीमें कह चुके हैं ॥ १२५ ॥ परन्तु उसमें जितना कुछ थोड़ासा (अवशिष्ट) बाकी है वह यहां भी दिखलाते हैं. अप्रमा तथा प्रमाभेदसे ज्ञान दो प्रकारका होता है ॥ १२६ ॥

अप्रमां निरूपयति, तच्छून्य इति--

भाषा-यहां ' तच्छून्ये ' इत्यादि मूलग्रन्थसे अप्रमाज्ञानका निरूपण करते हैं-

तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ॥
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः ॥१२७॥

भाषा-(तत्) रजतत्वादिधर्माभाववाली शुक्तिमें जो (तन्मतिः) " रजतत्ववद् रजतम् " इत्याकारक बुद्धि, ऐसी बुद्धिका नाम ' अप्रमा ' है. विपर्यय तथा संशय आत्मकज्ञान उसी अप्रमात्मक बुद्धिहीका प्रपञ्च समझना चाहिये ॥१२७॥

तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः । तत्प्रपञ्चोऽप्रमाप्रपञ्चः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

भाषा-अर्थात् तद्धर्माभाववालेमें जो तद्धर्मप्रकारक ज्ञान उस ज्ञानका नाम 'भ्रम है. मूलगत 'तत्प्रपञ्चः' इस पदसे अप्रमाज्ञानका प्रपञ्च समझना चाहिये ॥१२७॥

आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शंखादौ पीततामतिः ॥

भवेन्निश्चयरूपा या-

आद्य इति, विपर्यास इत्यर्थः ।

भाषा-देहमें आत्मबुद्धि, तथा शंखमें पीतबुद्धि, शुक्तिमें रजतबुद्धि, इत्यादि यदि निश्चयरूपा होय तो उस बुद्धिका नाम 'विपर्ययज्ञान' है.

शरीरादौ यदात्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽहमित्याकारकमेवं शंखादौ 'पीतः शंखः' इत्याकारकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तद्भ्रम इति ।

भाषा-शरीरादिमें जो "गौरोऽहं, श्यामोऽहम्" इत्याकारक आत्मत्वप्रकारक ज्ञान तथा शंखादिमें जो "पीतः शंखः" इत्याकारक पीतत्वप्रकारक ज्ञान यह यदि निश्चयरूप होय तो उसका नाम 'भ्रम' है-इति ।

-संशयोऽथ प्रदर्श्यते ॥ १२८ ॥

किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ॥

भाषा-अब संशयात्मक ज्ञानका आकार दिखलाते हैं कि-॥ १२८ ॥ क्या यह पुरुष है कि स्थाणु है ? इत्यादि ज्ञानका नाम 'संशय' है.

किंस्विदिति वितर्के ।

भाषा-मूलगत 'किंस्वित्' यह पद वितर्कका बोधक है तथा 'स्थाणुः' यह पद शाखाच्छिन्नवृक्षका बोधक है. भाव यह कि-'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मावगाहि ज्ञान' का नाम 'संशय' है. उदाहरण इसका 'किंस्वित्' इत्यादि ग्रन्थसे मूलहीमें है.

निश्चयस्य लक्षणमाह, तदभावेति-

भाषा-एवं 'तदभाव' इत्यादि ग्रन्थसे प्रमात्मक निश्चयज्ञानका लक्षण कहते हैं.

तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः ॥ १२९ ॥

भाषा-जो धर्म जिसमें नहीं रहता वह उसमें न भासे किन्तु जो धर्म जिस वस्तुमें विद्यमान है तद्धर्मप्रकारक ज्ञानही होय तो उसका नाम 'निश्चय' अर्थात् 'प्रमाज्ञान' है ॥ १२९ ॥

तदभावाप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं निश्चयः॥ १२८ ॥ १२९॥

भाषा-अर्थात् शुक्तित्वादि धर्माभावाप्रकारकत्वे सति जो शुक्तित्वप्रकारक शुक्तिविशेष्यक 'शुक्तिरियम्' इत्यादि ज्ञान, उसका नाम 'निश्चय' है; इस लक्षणमें प्रथम सप्तम्यन्त विशेषण संशयमें अतिव्याप्तिवारणार्थ जानना चाहिये ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

संशयं लक्षयति, स संशय इति–

भाषा–एवं 'स संशयो' इत्यादि मूलग्रंथसे संशयका लक्षण दिखलाते हैं–

स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ॥

भाषा–(एकत्र) एक धर्मीमें विरुद्धभावाभाव धर्मावगाही ज्ञानका नाम 'संशयज्ञान' है.

एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् एक धर्मिविषयक विरुद्धभावाभावप्रकारक ज्ञानका नाम 'संशय है. उदाहरण 'किंस्वित्' इत्यादि मूल है.

साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ॥ १३० ॥

भाषा–साधारणादि धर्मका ज्ञान संशयमें कारणीभूत है ॥ १३० ॥

साधारणेति । उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयकारणम् । यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषसाधारणं ज्ञात्वा 'अयं स्थाणुर्न वा' इति सन्दिग्धे । एवमसाधारणधर्मज्ञानमपि कारणम् । यथा शब्दत्वं नित्यानित्यव्यावृत्तं शब्दे गृहीत्वा शब्दो नित्यो न वेति सन्दिग्धे ।

भाषा–अर्थात् उभयपदार्थ साधारण जो कोई एक धर्म उस धर्मका ज्ञान संशयका कारण है; जैसे ऊँचापना स्थाणु तथा पुरुष इन दोनोंमें एक जैसा है. उस ऊँचेपनेको मन्दअन्धकारमें दूरसे देखकर " अयं स्थाणुर्न वा" इत्याकारक पुरुषको सन्देह होताहै. ऐसेही असाधारण धर्मका ज्ञानभी संशयका कारण है;जैसे शब्दत्वधर्मकी गगनादि नित्य पदार्थोंसे तथा घटपटादि अनित्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति ग्रहणपूर्वक केवल शब्दमात्र वृत्तिता ग्रहण करकेभी "शब्दो नित्यो न वा" इत्याकारक पुरुषको सन्देह उत्पन्न होता है.

विप्रतिपत्तिस्तु'शब्दो नित्यो न वा'इत्यादिशब्दात्मिका न संशयकारणम्। शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वाभाव्यात् किंतु तत्र शब्देन कोटिद्वयज्ञानं जन्यते,संशयस्तु मानस एवेति ।

भाषा–यहां यदि कोई कहे कि–' शब्दो नित्यो न वा' इत्याकारक वादियोंका (विप्रतिपत्ति) विवादही संशयमें कारण है तो यह ठीक नहीं. क्योंकि 'शब्दो नित्यो न वा' इत्याकारक वादियोंका विवाद शब्दात्मक है और शब्दज्ञान-

में तथा व्याप्तिज्ञानमें स्वभावसे निश्चयमात्र जनकता रहती है किन्तु संशयकारणता नहीं रहती, (किन्तु) परन्तु इतना भेद है कि-ऐसे स्थलमें शब्दसे समरूपेण कोटिद्वयावगाही ज्ञान उत्पन्न होता है; तदनन्तर वहांही मानासिक संशय ज्ञान उत्पन्न होता है.

एवं ज्ञाने प्रामाण्यसंशयाद्विषयसंशय इति ।

भाषा-एवं (ज्ञाने) इदं जलम् इत्यादिज्ञानमें (प्रामाण्यसंशयात्) "इदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा न वा" इत्यादि प्रामाण्यसंशयसे (विषय) "इदं जलं न वा" इत्यादि संशयभी उत्पन्न होता है.

एवं व्याप्यसंशयादपि व्यापकसंशय इत्यादिकं बोध्यम् । किंतु संशये धर्मिज्ञानं धर्मीन्द्रियसन्निकर्षो वा कारणमिति ॥ १३० ॥

भाषा-एवं धूमादि व्याप्यमें "पर्वतो धूमवान्न वा" इत्याकारक सन्देह होनेसे वह्निआदि व्यापकमेंभी "पर्वतो वह्निमान्न वा" इत्याकारक सन्देह होता है इत्यादि औरभी जान लेने; परन्तु संशयमें धर्मीका ज्ञान या धर्मीके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध नियमसे कारणीभूत है ॥ १३० ॥

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत् ।

भाषा-अप्रमात्मक ज्ञानका उत्पादक दोष है तथा प्रमात्मक ज्ञानका उत्पादक गुण है.

दोष इति । अप्रमां प्रति दोषः कारणं, प्रमां प्रति गुणः कारणम् । तत्रापि पित्तादिरूपा दोषा अननुगतास्तेषां कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सिद्धम् । गुणस्य प्रमाजनकत्वं त्वनुमानात्सिद्धम् । यथा प्रमा ज्ञानसाधारणकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वादप्रमावत् ।

भाषा-अर्थात् अप्रमाज्ञानके प्रति दोषको कारणता है तथा प्रमाज्ञानके प्रति गुणको कारणता है; उनमें भी पित्तादिरूप अनेक दोष अननुगत हैं अर्थात् कहीं कोई रहता है, कहीं कोई रहता है; उन दोषोंको अप्रमाज्ञानके प्रति कारणता अन्वयव्यतिरेकद्वारा सिद्ध है अर्थात् कोई एक दोष विद्यमान होय तो अप्रमाज्ञान उत्पन्न होता है, न होय तो नहीं होता और गुणको प्रमात्मक ज्ञान जनकता तो अनुमान द्वारा सिद्ध है; (यथा) जैसे अप्रमाज्ञानकी तरह जन्यज्ञान होनेसे प्रमाज्ञानभी

अवश्यज्ञानसामान्यकारणसे भिन्न किसी एक कारणसे जन्य है, ऐसा अनुमान कर सकते हैं वह ज्ञान सामान्यकारणसे भिन्न कारण गुणही हो सकता है.

न च दोषाभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यम् । 'पीतः शंखः' इति ज्ञानस्थलेऽपि पित्तरूपदोषसत्त्वाच्छंखप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । विनिगमनाविरहादनन्तदोषाभावस्य कारणत्वमपेक्ष्य गुणकारणताया न्याय्यत्वाच्च ।

शंका–प्रमाज्ञानके प्रति दोषाभावकोही कारणता मानलें तो हानि क्या है ? समाधान–" पीतः शंखः " इत्याकारक ज्ञानस्थलमें पीतरूप दोष विद्यमान है ऐसे स्थलमें शंखत्वप्रकारक शंखविशेष्यक ज्ञान प्रमात्मक नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि यहाँ आपके सिद्धान्तानुसार दोषाभावरूप कारण विद्यमान नहीं है और विनिगमनाविरहसे अर्थात् एकत्र पक्षपातिनीयुक्तिके न होनेसे अनन्तदोषाभावको करणता माननेकी अपेक्षा केवल गुणमें कारणता माननीही उचित है.

न च गुणसत्त्वेऽपि पित्तेन प्रतिबन्धाच्छंखे न श्वैत्यज्ञानमतः पित्तादिदोषाभावानां कारणत्वमवश्यं वाच्यम्, तथा च किं गुणस्य हेतुत्वकल्पनयेति वाच्यम् । तथाऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणस्यापि हेतुत्वसिद्धेः ।

शंका–प्रमाज्ञानोत्पादक गुणके विद्यमान होनेसे भी पीतरूप दोषको प्रतिबन्धक होनेसे शंखमें श्वेतताका ज्ञान नहीं होता, इसलिये पित्तादि दोषाभावोंको भी कारणता अवश्य माननी चाहिये. एवं यदि दोषाभावमें अवश्य कारणता क्लप्त है तो गुणोंमें कारणता पृथक् कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? समाधान–तथापि अन्वयव्यतिरेकद्वारा गुणोंमें भी कारणता सिद्ध है. भाव यह कि–पित्तादि दोषाभावस्थलमें भी विशेषणवद्विशेष्यके साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप गुणके न रहनेसे शंखमें 'पीतः' इत्याकारक ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता; इसलिये दोषाभावसे गुण अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता.

एवं 'भ्रमं प्रति गुणाभावः कारणम्' इत्यस्यापि सुवचत्वाच्च ।

भाषा–(एवं) यदि अन्वयव्यतिरेक होनेसे भी गुणोंको अन्यथासिद्ध मानों तो भ्रमज्ञानके प्रति भी गुणाभावहीको कारणता होनी चाहिये तथा दोषको अन्यथासिद्ध मानना चाहिये यह कथन भी सुवच हो सकता है.

तत्र दोषाः के इत्याकांक्षायामाह, पित्तेति–

भाषा--इस प्रसङ्गमें दोष कौन हैं ? ऐसी आकांक्षाको लेकर ' पित्त ' इत्यादि मूलग्रन्थसे दोषोंका निरूपण करते हैं--

पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधो मतः ॥१३१॥

भाषा--पित्तदूरत्वादिरूप दोष इस प्रकारमें अनेक प्रकारके हैं ॥ १३१ ॥

क्वचित्पीतादिभ्रमे पित्तं दोषः, क्वचिच्चन्द्रादेः स्वल्पपरिमाणभ्रमे दूरत्वं दोषः, क्वचिच्च वंशोरगभ्रमे मण्डूकवसाञ्जनमित्येवंरूपा दोषा अननुगता एव भ्रान्तिजनका इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

भाषा--कहीं " पीतः शंखः " इत्यादिज्ञानस्थलमें पित्तरूप दोष है और कहीं " वितस्तिपरिमाणकश्चन्द्रः " इत्यादि ज्ञानस्थलमें दूरत्वरूप दोष है. एवं कहीं (वंश) बांसकी यष्टीमें सर्पभ्रमापादक मण्डूकवसाञ्जनरूप दोष है इत्यादि अनेक प्रकारके अननुगत दोष भ्रांतिज्ञानके जनक हैं ॥ १३१ ॥

अथ के गुणा इत्याकांक्षायां प्रत्यक्षादौ क्रमशो गुणान् दर्शयति, प्रत्यक्षेति--

भाषा--एवं इस प्रसङ्गमें गुण कौन हैं ? ऐसी आकांक्षाको लेकर ' प्रत्यक्षे " इत्यादि मूलसे प्रत्यक्षादि ज्ञानोंमें यथाक्रमानुसारेण ग्रन्थकार गुणोंको दिखलाता है--

प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम् ॥
सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः ॥१३२॥
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत् ॥
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥ १३३ ॥
शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा ॥
गुणः स्यात्--

भाषा--विशेषणविशिष्ट विशेष्यके साथ जो नेत्रादि इन्द्रियोंका सन्निकर्ष वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका जनक गुण है ॥ १३२ ॥ एवं साध्यविशिष्ट पक्षमें पूर्वोक्त परामर्शात्मक ज्ञान अनुमितिज्ञानका जनक गुण है. गवयादि शक्यमें जो " गोसदृशो गवयपदवाच्यः " इत्याकारक सादृश्यबुद्धि, वह उपमितिज्ञानका जनक गुण है ॥ १३३ ॥

प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः, अनुमितौ साध्यवति साध्यव्याप्यवैशिष्ट्यज्ञानं गुण इति । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥ १३३ ॥

भाषा–एवं पूर्वोक्त योग्यताका या वक्ताके तात्पर्यका प्रमात्मकज्ञान शाब्दबोधमें गुण है. प्रत्यक्षज्ञानमें विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षही गुणरूप है. एवं अनुमितिज्ञानमें साध्यवालेमें जो साध्यव्याप्य वैशिष्टयज्ञान अर्थात् " वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः " इत्यादि परामर्शात्मक ज्ञान वही गुणरूप है, ऐसेही आगेभी जानलेना अर्थात् उपमिति ज्ञानमें शक्यमें सादृश्यबुद्धिही गुणरूप है. एवं शाब्दबोधमें योग्यताज्ञान या तात्पर्यका यथार्थज्ञानही गुणरूप है–इति ।

प्रमां निरूपयति, भ्रमभिन्नमिति–

भाषा–एवं ' भ्रमभिन्न' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार प्रमाका निरूपण करते हैं–

–भ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥ १३४ ॥

भाषा–इस प्रकरणमें भ्रमभिन्नज्ञानकी प्रमा संज्ञा है ॥ १३४ ॥

ननु यत्र शुक्तिरजतयोः 'इमे रजते' इति ज्ञानं जातं तत्र रजतांशेऽपि प्रमा न स्यात् तज्ज्ञानस्य भ्रमभिन्नत्वाभावादत आह, अथवेति–

शंका–जहां शुक्ति तथा रजत उभयमें " इमें रजते " इत्याकारक ज्ञान हुआ है वहां इस ज्ञानको रजतांशमेंभी प्रमात्व नहीं हुआ चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान भ्रम भिन्न नहीं है किन्तु शुक्तिअंशमें भ्रमरूपही है. समाधान–इसका उत्तर 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं कहते हैं–

अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ॥
तत्प्रमा–

भाषा–अथवा तत्प्रकारक तद्वद्विशेष्यक ज्ञानका नाम 'प्रमाज्ञान' है ।

तद्वद्विशेष्यकं तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्यर्थः ।

भाषा–अर्थात् घटत्ववद्विशेष्यक घटत्वप्रकारक ज्ञानका नाम 'प्रमाज्ञान' है. ऐसें ही वस्तुमात्रके ज्ञानमें जानना चाहिये ।

अथैवं स्मृतेरपि प्रमात्वं स्यात्ततः किमिति चेत्तथा सति तत्करणस्यापि प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति चेत् । न । यथार्थानुभवकरणत्वस्यैव प्रमाणत्वेन विवक्षणात् ।

शंका–इस लक्षणसे स्मृतिज्ञानकोभी प्रमात्व हुआ चाहिये; क्योंकि स्मृतिभीं तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारकाही होती है.समाधान–यदि मानभी लें तो हानि क्या है?

शंका-ऐसे माननेसे स्मृतिके कारणीभूत अनुभवको या संस्कारकोभी प्रमाणांतर मानना होगा. समाधान--'प्रमाण' नाम तो हमको यथार्थ अनुभवके करणहीका विवक्षित है. स्मृतिज्ञान यथार्थ अनुभव नहीं है. इसलिये उसके कारणको प्रमाणभी नहीं कहसकते ।

इदं तु बोध्यम् । येन सम्बन्धेन यद्वत्ता तेन सम्बन्धेन तद्वद्विशेष्यकत्वे तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारकत्वं वाच्यम्, तेन कपालादौ संयोगादिना घटादिज्ञाने नातिव्याप्तिः ।

भाषा-(इदं तु बोध्यम्) इतना यहां औरभी जानना चाहिये कि-जिसे वस्तुको जिस सम्बन्धसे यद्धर्मवत्ता है उसमें उसी सम्बन्धसे तद्वद्विशेष्यकत्व तथा उसी सम्बन्धसे तत्प्रकारकत्व समझना चाहिये. एतादृश निवेशसे "संयोगेन घटवन्तौ कपालौ" इत्यादि भ्रमज्ञानमें प्रमालक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होसकती ।

एवं सति निर्विकल्पकं प्रमा न स्यात् तस्य सप्रकारकत्वाभावादत आह, न प्रमेति-

शंका-ऐसे स्वीकार करनेसे निर्विकल्पक ज्ञान प्रमा नहीं होसकता; क्योंकि वह किञ्चित्प्रकारक नहीं है. समाधान-इसका उत्तर मूलकार स्वयं कहते हैं-

-न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ १३५ ॥
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत् ॥

भाषा-निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमारूप या भ्रमरूप नहीं कहसकते ॥ १३५ ॥ क्योंकि उसका स्वरूपासम्बन्धानवगाहि तथा विशेष्यताप्रकारतासे रहित है.

ननु वृक्षे कपिसंयोगज्ञानं भ्रमः स्यात् प्रमा च स्यादिति चेत् । न । प्रतियोगिव्यधिकरणसंयोगाभाववतिसंयोगज्ञानस्यभ्रमत्वात्

शंका-आपके कथनानुसार "वृक्षः कपिसंयोगी" इत्याकारक ज्ञानको भ्रमरूपभी होना चाहिये तथा प्रमारूपभी होना चाहिये; क्योंकि वृक्षमें शाखावच्छेदेन कपिसंयोग हैभी, तथा मूलावच्छेदेन नहींभी है, समाधान-कपिरूप प्रतियोगिके व्यधिकरण कपिसंयोगाभाववालेमें यदि कपिसंयोगका ज्ञान होय तो वह ज्ञान भ्रमरूप होसकताहै; अन्यथा नहीं.

न च वृक्षे कपिसंयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानं भ्रमो न स्यात्, तत्र संयोगाभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति वाच्यम् ।

तत्र संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् लक्ष्य-स्याननुगमाल्लक्षणाननुगमेऽपि न क्षतिः ।

शंका–जहां वृक्षहीमें कपिसंयोगाभावावच्छेदेन कपिसंयोगज्ञान हुआ है वह उस ज्ञानको भ्रमात्मक नहीं हुआ चाहिये;क्योंकि वहां संयोगाभावप्रतियोगि व्यधिकरण नहीं है, किन्तु प्रतियोगिसमानाधिकरणही है. समाधान–ऐसे स्थलमें संयोगाभा-वावच्छेदेन संयोगज्ञानभी भ्रमरूपहीहै. शंका–एवं प्रमालक्षणका अननुगम हुआ? समा०–लक्ष्यस्थलोंके अननुगम अर्थात् विचित्र भिन्न भिन्न होनेसे लक्षणानुगम अर्थात् लक्षण अनेकरूप माननेमेंभी हानि नहीं–इति ।

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ॥ १३६ ॥

भाषा–प्रमाज्ञानमें प्रमात्वधर्म स्वतो ग्रहण नहीं होता यदि ऐसा होय तो संशय ज्ञान कहींभी नहीं हुआ चाहिये ॥ १३६ ॥

प्रमात्वमिति । मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यत इति ॥ १ ॥ भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियं ज्ञानज-न्यज्ञातता प्रत्यक्षा तया च ज्ञानमनुमीयते ॥ २ ॥ मुरारिमि-श्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते । सर्वेषामपि मते तज्ज्ञा-नविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते ॥ ३ ॥

भाषा–मीमांसकलोग ज्ञानमें प्रमात्वधर्मका स्वतः ग्रहण मानतेहैं. उनमें (गुरु) प्रभाकरके मतमें ज्ञान स्वप्रकाशरूपहै अर्थात् जैसे वस्त्वन्तरको विषय करताहै वैसेंही अपने आपकोभी करताहै एवं जैसे वह स्वनिष्ठज्ञानत्वादि धर्मोंको स्वयं ग्रहण करताहै वैसेही स्वनिष्ठ प्रमात्वधर्मकोभी स्वयं ग्रहण करताहै १ । और कुमारलभट्टके मतमें ज्ञान अतीन्द्रियपदार्थ है किन्तु ज्ञानसे उत्पन्न हुई विषयनिष्ठ ज्ञातता प्रत्यक्ष-रूपा है. उस ज्ञातताद्वारा ज्ञानका तथा उसके प्रमात्वका अनुमान होताहै; उस अनु-मानका प्रकार यहहै कि–इयं घटनिष्ठज्ञातता घटविशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततात्वात् या यद्वृत्तिर्यत्प्रकारिका ज्ञातता सा तद्विशेष्य-कतत्प्रकारकज्ञानसाध्या यथा पटे पटत्वप्रकारिका ज्ञातता इति २ । एवं मुरारिमिश्र-के मतमें प्रथमव्यवसायात्मक ज्ञाननिष्ठ यावत् धर्मोंका द्वितीय (अनुव्यवसाय) ज्ञानविषयक ज्ञानसे ग्रहण होताहै ३ । एवं औरभी सब वादियोंके मतमें (तत्) उसी

अनुव्यवसायात्मक ज्ञानविषयक ज्ञानसें (तत्) उस व्यवसायात्मक ज्ञानका प्रमात्व ग्रहण होता है.

विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयस्तन्मतं दूषयति । न स्वतो ग्राह्यमिति ।

शंका-ज्ञानविषयक ज्ञान तो विषयानवगाही है अर्थात् केवलज्ञानहीको विषय करताहै,उसके विषयको नहीं करता और प्रथम ज्ञानगत प्रमात्वधर्म विषयघटित है इसलिये वह उसका विषय होना दुर्घट है. समाधान-ज्ञानका यह स्वभाव है कि-यह विषयनिरूप्यहीं होताहै अर्थात् विषयविषयकही होताहै; (अतो) इसलिये (ज्ञानवित्ति) ज्ञानविषयक ज्ञानके घटादि विषयभी (वेद्य) विषय होसकते हैं. भाव यह कि-ज्ञानविषयक ज्ञान स्वविषयभूत ज्ञानके विषयको तथा स्वविषयभूत ज्ञानको तद्गतधर्मादिके सहित ग्रहण करताहै. ये सब पूर्वोक्त वादियोंके सिद्धान्त हैं. इन सबका 'प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यम्" इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार खण्डन करते हैं-

संशयेति । यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात्तदाऽनभ्यासदशापन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्, तत्र हि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवाति कथं संशयः । यदि तु ज्ञानं न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावात् कथं संशयः; तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यम मेयम् ।

भाषा-(संशयेति) यदि ज्ञानगत प्रमात्व धर्मका (स्वतः) अपने आपसे ग्रहण होय तो अनभ्यासदशापन्न ज्ञानमें अर्थात् जिस ज्ञानके सजातीय ज्ञानमें कदापि प्रमात्व ग्रहण नहीं किया उसमें प्रमात्वका सन्देह नहीं हुआ चाहिये और होता तो है परन्तु आपके सिद्धान्तसे उसका समर्थन दुर्घट है; क्योंकि आपके सिद्धान्तसे वहां यदि ज्ञान ज्ञात है अर्थात् निश्चित है तो तन्निष्ठ प्रामाण्यभी ज्ञातही हैं उसमें संशयकी योग्यताही नहीं और यदि कहो कि, वहां ज्ञानही अज्ञात है तो तौभी धर्मिज्ञानकेही न होनेसे संशयकी योग्यता नहीं है. भाव यह कि-धर्मिसामान्यज्ञानानन्तरही धर्मसंशयका सम्भव हो सकता है अन्यथा नहीं; इसलिये ज्ञानमें प्रमात्वधर्मका अनुमान करनाही उचित है.

तथाहि । इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्; यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा । इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा गन्धवति पृथिवी

त्वप्रकारकज्ञानत्वात् । एवमिदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात् ।

भाषा-(तथाहि) वह अनुमान इस रीतिसे करना चाहियें कि-यह ज्ञान (संवादि) सफलप्रवृत्तिका जनक होनेसे प्रमारूप है. (यन्नैवं) (जो सफल) प्रवृत्तिका जनक नहीं होता (तन्नैवं) वह प्रमारूपभी नहीं होता; (यथा) जैसे अप्रमाज्ञान सफलप्रवृत्तिजनकभी नहीं है इसलिये प्रमाभी नहीं है. ऐसेही प्रवृत्तिके अजनक ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वके ग्राहक अनुमानभी है; जैसे यह पृथिवीत्व प्रकारकज्ञान गन्धवालेमें पृथिवीत्व प्रकारकज्ञान होनेसे प्रमारूप है.भाव यह कि-गंध केवल पृथिवीहीका व्याप्यधर्म है एवं यदि उस गन्धवालेमें " इयं पृथिवी" इत्याकारक पृथिवीत्वप्रकारक ज्ञान होगा तौ वह अवश्य प्रमारूपही होगा. ऐसेही यह "इदं जलम् इत्याकारक जलत्वप्रकारक जलविशेष्यक ज्ञानभी स्नेहवालेमें जलत्वप्रकारक ज्ञान होनेसे प्रमारूप है.

न च हेतुज्ञानं कथं जातमिति वाच्यम् । पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात्, तत्र गन्धग्रहेण गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुग्रहत्वात् । तत्प्रकारकत्वावच्छिन्नतद्विशेष्यकत्वं परं न गृह्यते संशयानुरोधात् ।

शंका-इन स्थलोंमें पहले हेतुका ज्ञान कैसे होताहै? समा०-यहां पृथिवीत्वप्रकारकत्वका अर्थात् पृथिवीत्वप्रकारावगाही ज्ञाननिष्ठ धर्मका स्वतो ग्रहण होताहै;एवं पृथिवीमें गन्धके ग्रहणसे गंधवद्विशेष्यकत्वका अर्थात् गन्धवद्विशेष्यावगाहि ज्ञाननिष्ठ धर्म्मकाभी स्वतोही ग्रहण होताहै किन्तु केवल संशयानुपपत्तिके अनुरोधसे पृथिवीत्वप्रकारकत्वाववच्छिन्न पृथिवीत्वद्विशेष्यकत्व धर्ममात्रका ग्रहण नहीं होता.

न च प्रमात्वस्य साध्यस्य प्रसिद्धिः कथमिति वाच्यम् । इदंज्ञानप्रमात्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात् ।

शंका-प्रमात्वात्मक साध्यकी प्रसिद्धि प्रथम कौन स्थलमें है और कैसे होती है? समाधान-(इदन्ता) ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वधर्मका स्वतो ग्रहण होताहै. भाव यह कि-इदन्ताज्ञानमें " इदमनिदं न वा" इत्याकारक सन्देह कभी किसी को नहीं होता इसलिये यह स्वतो ग्राह्य है.

न च प्राकारभेदेन प्रामाण्यभेदाद्धटत्वप्रकारकत्वादेः कथं प्रसिद्धिरिति वाच्यम् । घटत्वप्रकारकत्वस्य स्वविशेष्यकत्वस्य

च स्वतो ग्राह्यत्वात् । घटस्य च पूर्वमुपस्थितत्वात् । घटविशेष्यकं घटत्वप्रकारकमिति ज्ञाने प्रामाण्यस्य बाधकाभावः । व्यवसायपरं तु प्रामाण्यं न गृह्यते तत्र संशयसामग्रीसत्त्वे संशयस्यैवोपपत्तेः ।

शंका-इदन्ताज्ञाननिष्ठ प्रमात्वधर्म स्वतो ग्राह्य रहो परन्तु प्रकारभेदसे प्रमात्वकाभी तो भेद है. एवं घटत्वप्रकारकत्वकी अर्थात् घटत्वप्रकारावगाही ज्ञाननिष्ठधर्मकी प्रसिद्धि कैसे होसकतीहै? समा०-घटत्वप्रकारकत्वका अर्थात् घटत्वप्रकारावगाहि ज्ञाननिष्ठ धर्मका तथा स्वविशेष्यकत्वका अर्थात् घटत्ववद्विशेष्यावगाहि ज्ञाननिष्ठ धर्मकाभी स्वतो ग्रहण होताहै. घटको प्रथम उपस्थित होनेसे घटनिष्ठ विशेष्यनावगाहि ज्ञाननिष्ठप्रमात्वग्रहण करनेमें तथा घटत्वनिष्ठप्रकारतावगाहि ज्ञाननिष्ठप्रमात्वके ग्रहण करनेमें कोई बाधक नहीं है.भाव यह कि--विशकालित विशेष्यविशेषणावगाहि ज्ञानगत प्रमात्वधर्मका स्वतोही ग्रहण हो सकताहै, किन्तु केवल विशेषण विशेष्य उभयविशिष्टावगाहि ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वका स्वतो ग्रहण नहीं होता क्योंकि वहां संशयसामग्रीके होत संते संशयही उत्पन्न होता है.

किंचाभ्यासदशायां तृतीयानुव्यवसायादिना प्रामाण्यस्य स्वत एव ग्रहसम्भवात् प्रथमानुव्यवसायपरं न तद्ग्राहकमिति कल्प्यते संशयानुरोधात् ।

भाषा-(किञ्च) अभ्यासदशामें अर्थात् जहां ज्ञानके सजातीय ज्ञानमें प्रमात्व ग्रहण होचुका है वहां तीसरे (अनुव्यवसाय) ज्ञानविषयक ज्ञानद्वारा प्रमात्वधर्मका स्वतोही ग्रहण होसकता है. एवं ऐसे स्थलमें भी संशयानुरोधसे केवल यही कल्पना करसकतेहैं कि--प्रथम अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमात्वधर्मका ग्राहक नहीं होसकता अन्यथा संशय नहीं हुआ चाहिये.

अथ प्रामाण्यानुमितौ प्रामाण्याग्रहणे तस्या विषयनिश्चय--रूपत्वार्थं तत्र प्रामाण्यग्रहो वाच्यः, सोऽप्यनुमित्यन्तरेणेति फलमुखी कारणमुखी वाऽनवस्थेति चेत् । न ।

शंका-प्रमात्वधर्मग्राहक पूर्वोक्त अनुमितिज्ञानमें भी तो प्रमात्वग्रहण नही हुआ है (तस्याः) उस अनुमितिके विषयकी निश्चयरूपताके लिये (तत्र) उस अनुमितिज्ञानमें भी प्रमात्वग्रह अवश्य हुआ चाहिये. एवं उस अनुमितिज्ञानमें भी प्रमात्वका ग्रहण दूसरी अनुमितिहीसे होगा. एवं दूसरीमें प्रमात्वग्रहार्थ तीसरीकी अपेक्षा होगी.

ऐसेही आगे आगे फलमुखी अर्थात् प्रमात्वग्रहरूप फलप्रधाना या कारणमुखी अर्थात् अनुमितिज्ञानात्मक कारण प्रधाना अनवस्थाभी हो सकती है अर्थात् एक-प्रमात्वकी सिद्धचर्थ दूसरे ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वकी अपेक्षा, एवं द्वितीयप्रमात्वकी सिद्धचर्थ तृतीयज्ञाननिष्ठ प्रमात्वकी अपेक्षा, एवं आगे आगे इस रीतिसे फलमुखी अनवस्था होसकती है. एवं प्रथम अनुमितिज्ञानरूप कारणकी पुष्टिके लिये द्वितीय अनुमिति ज्ञानकी अपेक्षा, द्वितीयके लिये तृतीयकी अपेक्षा एवं आगे २ इस रीतिसे कारण-मुखी अनवस्था होसकती है ।

अगृहीताऽप्रामाण्यग्रहकस्यैव निश्चयरूपत्वात् । यत्र च प्रामाण्यसंशयस्तत्रैव परं प्रामाण्यानुमितेरपेक्षा, यावदाशङ्कं प्रामाण्यानुमितिरिष्यत एव ।

समा०—अनवस्था नहीं होसकती क्योंकि जिस ज्ञानमें अप्रमात्वग्रह नहीं गृहीत हुआ है अर्थात् " इदं ज्ञानमप्रमा " इत्याकारक व्यवहार जिस ज्ञानमें नहीं हुआ है; हम लोग उस ज्ञानको निश्चयरूपही मानते हैं किन्तु जिस स्थलमें ज्ञाननिष्ठ-प्रमात्वका संशय होता है यहांही केवल प्रामाण्यग्राहक अनुमितिज्ञानकी अपेक्षा होती है.स्थलान्तरमें नहीं होती जहां पर्यन्त आशंका होय वहां पर्यंत प्रामाण्यग्राहक अनुमितिकोभी हम स्वीकार करते हैं. भाव यह कि—यदि प्रमात्वग्राहक उत्तरउत्तर सभी ज्ञानोंमें "इदं ज्ञानं प्रमा न वा " इत्याकारक आशंका उत्पन्न होती जाय तो अनवस्था होसकती है; परन्तु ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं इसलिये अनवस्था नहीं होसकती ।

सर्वत्र तु न संशयः क्वचित्कोटयनुपस्थितेः, क्वचिद्विशेषदर्शनादितः, क्वचिद्विषयान्तरसञ्चारादिति संक्षेपः ।

भाषा—और युक्तिसेभी हरएक स्थलमें संशयका होना दुर्घट है, वह यह है कि संशयज्ञान स्वभावसे परस्पर विरुद्ध नानाधर्मावगाहि होता है, एवं जहां कोटयनु-पस्थित है अर्थात् जहां विरोधि धर्मकी उपस्थिति नहीं वहां संशय नहीं होसकता एवं जहां विषयका विशेषरूपसे दर्शन होचुका है वहां भी संशय नहीं होसकता;अथवा जहां एकविषयविषयक ज्ञानानन्तर शीघ्रही ज्ञान प्रवाहका विषयान्तरमें संचार हुआ है वहांभी संशय नहीं होसकता; इत्यादि अनेकस्थलोंमें संशयके असम्भवसे पूर्वोक्त फलमुखी या कारणमुखी अनवस्थाकी शंकाभी निरर्थक है. (इति संक्षेपः) यह संक्षेपसे ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वका परतो ग्रहण दिखलाया है. यहां प्रमाके लक्षणमें(गुरु) प्रभाकर शंका करते हैं ।

ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात् प्रमालक्षणे तद्वद्विशेष्यकत्वं विशेषणं व्यर्थम् ।

शंका-सभी ज्ञान यथार्थही होते हैं इसलिये प्रमाज्ञानके लक्षणमें ' तद्वद्विशेष्यकत्व' यह विशेषण देना व्यर्थ है किन्तु (तत्प्रकारकज्ञानं प्रमा) इतना मात्र कहना उचित है, भाव यह कि-अन्यथाख्यातिके वारणार्थ आपने प्रमालक्षणमें तद्वद्विशेष्यकत्व' यह विशेषण दिया है सो वह अन्यथाख्याति कुछ वस्तु नहीं क्योंकि " ख्यानं ख्यातिः अन्यथा प्रकारान्तरेण ख्यातिः अन्यथाख्यातिः " इस व्युत्पत्तिसे प्रकारान्तरसे वस्तु प्रतीतिका नाम ' अन्यथाख्याति' है और किसी वस्तुकीभी कहीं प्रकारान्तरसे प्रतीति होतीही नहीं किन्तु जो वस्तु जैसी होती है उसकी वैसी ही प्रतीतिभी होती है ।

न च रङ्गे रजतार्थिनः प्रवृत्तिर्भ्रमजन्या न स्यात्, तव मते भ्रमस्याभावादिति वाच्यम् । तत्र हि दोषाधीनस्य पुरोवर्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य हेतुत्वात् ।

नैयायिक-रजतार्थि पुरुषकी जो राँगेमें भ्रमजन्या प्रवृत्ति वह आपके मतसे नहीं हुई चाहिये क्योंकि आपके सिद्धान्तमें (भ्रम) अन्यथाख्याति कुछ वस्तु नहीं है. प्रभाकर-अग्रभागवर्ति राँगेआदि पदार्थोंमें रजतार्थिपुरुषकी निष्फल प्रवृत्तिमें केवल दोषवशसे स्वतंत्र उपस्थित रजतादि पदार्थके भेदाग्रहको हेतुता है. भाव यह कि आपने प्रमाताके लोभभयादि दोषसे और प्रमाणके पित्तादि दोषसे तथा प्रमेयके सादृश्यादि दोषसे राँगे आदिकोंमें रजतादि पदार्थोंकी अन्यथाख्याति मानी है परन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयवस्तुके अनुसारही होता है जहां ज्ञेय वस्तु राँगा या रज्जुआदि है वहां रजत तथा सर्पादिका ज्ञान मानना अत्यन्त असंगत है; इसलिये ऐसे स्थलोंमें पूर्वोक्त दोषोंको केवल भेदाग्रहमात्रमें कारणता माननीही उचित है उसका प्रकार यह है कि-जहां राँगे आदिमें रजतादिकी प्रतीति हुई है वहां नेत्रका अपनी वृत्तिद्वारा राँगे आदिके साथ सम्बन्ध हुए राँगे आदिका इदं रूपसे सामान्यज्ञान होता है और रजतका स्मरण होता है एवं भ्रमस्थलमें " इदं रजतम् " ये दो ज्ञान हैं, उसमें ' इदम्' अंश तो राँगेका है इसलिये सामान्यरूपसे प्रत्यक्षात्मक है और रजतअंशमें स्मरणात्मक ज्ञान है परन्तु पूर्वोक्त दोषबलसे पुरुषको यह प्रतीत नहीं होता कि मेरेको दो ज्ञान हुए हैं यद्यपि यह दोनों ज्ञान यथार्थही हैं ये मेरेको दो ज्ञान हुए हैं उनमें राँगेका सामान्य प्रत्यक्षात्मक है और रजतका स्मरणात्मक है इत्याकारक पुरुषको भेदाग्रह होवे है अर्थात् विवेक नहीं होवे है यह ज्ञानद्वयका अविवेकही हमारे मतमें भ्रम है इसीको अग्रदेशावच्छेदेन उपस्थित शक्तिरजतादि पदार्थोंकी निष्फल प्रवृत्तिमें हेतुता है ।

सत्यरजतस्थले तु विशिष्टज्ञानस्य सत्त्वात्तदेव कारणम्, अस्तु वा तत्रापि भेदाग्रह एव कारणमिति।

भाषा–और सत्यरजतस्थलीय प्रवृत्तिमें तो रजतत्वप्रकारक रजतविशेष्यक 'इदं रजतम्' इस एकही विशिष्टज्ञानका सद्भाव होनेसे उसीको कारणताहै अथवा सत्यरजतगोचर प्रवृत्तिमेंभी रजतभेदाग्रहकोही कारणता माननी उचितहै. "स्वस्मिन् स्वस्य भेदाभावदेव रजते रजतभेदाग्रहः" उसीको सत्यस्थलीय रजतप्रवृत्तिमें हेतुताहै.

नवाऽन्यथाख्यातिः सम्भवति रजतप्रत्यक्षकारणस्य रजतसन्निकर्षस्याभावाद्रङ्गे रजतबुद्धेरनुपपत्तेरिति चेत्। न। सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः क्लृप्तत्वादन्यत्रापि तत्कल्पनात्।

भाषा–परन्तु अन्यथाख्यातिका तो सम्भवही नहीं होसकता क्योंकि रजत प्रत्यक्षके कारणीभूत रजतसन्निकर्षके न होनेसे रङ्गमें रजतबुद्धिकी उपस्थिति होनीही दुर्घट है. (इति चेन्न) नैयायिक–यह कथन आपका युक्त नहीं है क्योंकि सत्यरजतस्थलीय प्रवृत्तिके प्रति पूर्वोक्त विशिष्टज्ञानको हेतुता क्लृप्तही है अर्थात् स्पष्ट सिद्ध है उसीकी रङ्गगोचर रजतार्थिपुरुषकी प्रवृत्तिमेंभी कल्पना करनी उचित है अर्थात् रङ्गगोचर रजतार्थिपुरुषकी प्रवृत्तिमेंभी विशिष्टज्ञानहीको हेतुता माननी उचित है.

न च संवादिप्रवृत्तौ तत्कारणं विसंवादिप्रवृत्तौ तु भेदाग्रहः कारणमिति वाच्यम्। लाघवात्प्रवृत्तिमात्रे तस्य हेतुत्वकल्पनात्।

शंका–यदि (संवादि) सफलप्रवृत्तिमें विशिष्टज्ञानको कारणता तथा (विसंवादि) निष्फलप्रवृत्तिमें भेदाग्रहको कारणता मानली जाय तो हानि क्या है? अर्थात् प्रवृत्तिरूप कार्यकी विलक्षणतासे उसके कारणमें विलक्षणता माननेमेंभी दोष नहीं. समाधान–संवादिविसंवादिभेदेन कार्यकारणभावद्वयकल्पना करनेकी अपेक्षा प्रवृत्तिमात्रके प्रति केवल विशिष्टज्ञानको हेतुता माननेमें लाघव है.

इत्थं च रंगे रजतत्वविशिष्टबुद्ध्यनुरोधेन ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पनेऽपि न क्षतिः फलमुखगौरवस्यादोषत्वात्।

भाषा–(इत्थञ्च) इस रीतिसे प्रवृत्तिमात्रके प्रति विशिष्टबुद्धिको हेतुता सिद्ध होनेसे पीछे जो आपने कहा कि–रजतांशमें सन्निकर्षके न होनेसे अन्यताख्यातिका

सम्भव नहीं होसकता, वह दोषभी नहीं है; क्योंकि रांगेमें रजतत्वविशिष्ट रजतबुद्धिके अनुरोधसे रजतके साथ ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरूप सन्निकर्षकी कल्पना करनेमेंभी विरोध नहीं है. यहां यह भाव है कि-'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' पूर्वोक्त रीतिसे अलौकिक सम्बन्धविशेषका नाम है. जहां इन्द्रिययोग्य पदार्थके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होय और उसी कालमें उस इन्द्रियके अयोग्यपदार्थका स्मरण होय तो वहां इन्द्रिय सम्बन्ध पदार्थका तथा स्मृतिगोचर पदार्थका एक ज्ञान होताहै. एवं स्मरणांशमें वह ज्ञान अलौकिक है और इन्द्रियसम्बन्धजन्य अंशमें लौकिक है. इस रीतिसे प्रकृतमें पूर्वानुभवजन्य रजतके संस्कारका "इदं रजतम्' इत्याकारक प्रत्यक्षके साथ अन्वयव्यतिरेक है. इसालिये राँगेआदिमें 'इदं रजतम्' इस चाक्षुषज्ञानका रजतानुभवजन्य संस्कारजन्य रजतस्मृति कारण है. एवं ऐसे स्थलमें 'नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत स्मृतिज्ञानविषयत्व'रूप परंपरा सन्निकर्षात्मक ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिके सम्भव होनेसे अन्यथाख्यातिभी बन सकती है अर्थात् जैसे 'सुरभि चन्दनम्' इत्यादि स्थलमें सौरभांशमें ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरूप अलौकिक सन्निकर्ष स्वीकृत है, वैसेही 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलमें रजतांशमेंभी ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिकी कल्पना करली जाय तो (क्षति) हानि है. (शंका) आपको सम्बन्धविशेषकी अधिक कल्पना करनेमें गौरव होगा? समाधान-फलमुखगौरव दोषकर नहीं होता अर्थात् जिस गौरवसे इष्टार्थकी सिद्धि होय उस गौरवको विद्वान्‌लोग दोषकर नहीं मानते.

किंच रङ्गरजतयोः 'इमे रजते रङ्गे वा' इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र न कारणबाधोऽपि ।

भाषा-किञ्च जिस स्थलमें रङ्ग तथा रजत इन दोनोंमें "इमे रजते" अथवा "इमे रङ्गे" इत्याकारक ज्ञान हुआ है वहां रजतादिसाक्षात्कारके कारणीभूत रजतादिके सन्निकर्षका बाधभी नहीं है, भाव यह कि-ऐसे स्थलमें रङ्ग रजत उभयके साथ युगपत् इन्द्रियसन्निकर्ष हुए पश्चात् रङ्गरजतमें "इमे रजते" या "इमे रङ्गे" इत्याकारक ज्ञानमें कोई बाधक नहीं है क्योंकि रजतत्व या रङ्गत्व इन दोनोंमें किसी एक धर्मके साथ इन्द्रियसंयुक्त समवायरूप सम्बन्ध विद्यमान है, परन्तु एतादृश ज्ञान उभयअंशमें प्रमारूप कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषणविशेष्य सन्निकर्षरूप प्रमासामग्रीका उभयअंशमें अभाव है, किन्तु उभयस्थलीय ज्ञानमें आंशिकप्रमात्वही रहेगा इसलिये ऐसे स्थलमें अन्यथाख्याति अवश्य माननी पड़ती है.

अपि च यत्र रङ्गरजतयोः'इमे रजतरङ्गे' इति ज्ञानं तत्रोभयत्रयुगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम् । रङ्गे रङ्गभेदग्रहे रजते रजतभेदग्र-

हे चान्यथाख्यातिभयात्त्वन्मते दोषादेव रङ्गे रजतभेदाग्रहस्य रजते रङ्भेदाग्रहस्य च सत्त्वात्।

भाषा-(अपिच) आपके अख्यातिवादमें और भी किंचिद्विचारणीय है कि-जिस स्थलमें रङ्ग रजत उभयमें " इमे रजतरङ्गे " इत्याकारक उभयत्र विपरीत-ज्ञान हुआ है वहां उभयत्रही एककालावच्छेदेन पुरुषकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हुई चाहिये, अर्थात् रङ्गमें भी एककालावच्छेदेन प्रवृत्तिनिवृत्ति दोनों हुई चाहिये, तथा रजतमें भी उसी कालमें प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों हुई चाहिये. क्योंकि अन्यथाख्यातिके भयसे आपको रङ्गमें रङ्गप्रतियोगिक भेदज्ञानका तथा रजतमें रजतप्रतियोगिक भेद-ज्ञानका तो स्वीकारही नहीं अर्थात् रङ्गमें रङ्गप्रतियोगिक भेदज्ञान माननेसे तथा रजतमें रजतप्रतियोगिक भेदज्ञान माननेसे अन्यथाख्याति अवश्य माननी पड़ती है; इसलिये आपके सिद्धान्तसे रङ्गमें रङ्गभेदाग्रहका तथा रजतमें रजतभेदाग्रहका सर्वथा सत्त्व प्रतीत होता है और यही अनिष्टसाधनताज्ञानपूर्वक रङ्गमें निवृत्तिका कारण है तथा इष्टसाधनताज्ञानपूर्वक रजतमें प्रवृत्तिका कारण है. एवं अन्यथा ख्यातिहीके भयसे आपके सिद्धांतानुसार दोषवशसे रङ्गमें रजतभेदाग्रहका तथा रजतमें रङ्गभेदाग्रहका भी सत्त्व है. भाव यह कि-रङ्गमें रजतभेदाग्रह होनेसे रङ्गमें इष्टभेदाग्रहरूपा प्रवृत्तिसामग्री विद्यमान है; एवं रजतमें रङ्गभेदाग्रह होनेसे रजतमें अनिष्टभेदाग्रहरूपा अर्थात् " इदं मदनिष्टसाधनम् " इत्याकारकज्ञानरूपा निवृत्ति-सामग्री भी विद्यमान है, इसलिये उभयत्र युगपत् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हुई चाहिये. तात्पर्य यह कि--पुरोवर्ति एकदेशमें उपस्थित हुए रङ्गरजतमें विपरीतबुद्ध्या उभ-यत्र युगपत् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हुई चाहिये, परन्तु हो नहीं सकतीं क्योंकि इष्टसाधनता ज्ञानपूर्वक विषयके अभिमुखगमनका नाम ' प्रवृत्ति ' है तथा अनि-ष्टसाधनताज्ञानपूर्वक विषयके विमुखगमनका नाम ' निवृत्ति ' है. यह परस्पर विपरीतगति एक कालमें एक पुरुषमें एक विषयके उद्देशसे असम्भव है.

किंचानुमितिं प्रति भेदाग्रहस्य हेतुत्वे जलह्रदे वह्निव्याप्यधूम-वद्भेदाग्रहादनुमितिर्निर्बाधा, यदि च विशिष्टज्ञानं कारणं तदा-ऽयोगोलके वह्निव्याप्यधूमज्ञानमनुमित्यनुरोधादापतितम्, सेय-मुभयतःपाशा रज्जुः।

भाषा--(किञ्च) आपके अख्यातिवादमें और भी थोडा विचारणीय है कि आप अनुमितिज्ञानके प्रति व्याप्यवद् भेदाग्रहको कारणता मानते हैं या कि विशि-ष्टज्ञानको? यदि व्याप्यवद्भेदाग्रहको कहो तो जलह्रदमें वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतके भेदा-ग्रहसे "ह्रदो वह्निमान्" इत्याकारिका अन्यथाख्यातिरूपा अनुमिति आपके सिद्धान्तसे

निराबाध हुई चाहिये अर्थात् जबतक बाधज्ञान नहीं हुआ तबतक व्याप्यवद्भेदाग्रह-रूप अनुमितिकारण सर्वदा विद्यमान है. अनुमितिरूप कार्य्यभी अवश्य हुआ चाहिये और यदि इस दोषके वारणार्थ विशिष्टज्ञानको अनुमितिकारणता कहो तो "अयोगोलकं वह्निमत् इत्याकारक अनुमितिके अनुरोधसे अर्थात् इस अनुमितिकी कारण सामग्रीकी आवश्यकतासे आपको "वह्निव्याप्यधूमवदयोगोलकम्" इत्याकारक अन्यथाख्यातिरूप परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान अयोगोलकमें मानना होगा. भाव यह कि–अनुमितिज्ञानानुरोधसे अन्यथाख्याति आपके उभयथा गले पतित है अर्थात् अनुमितिज्ञानके प्रति भेदाग्रहको कारणता कहो तो प्रथमरीतिसे आपको अनुमितिज्ञान अन्यथाख्यातिरूप मानना पड़ेगा और यदि विशिष्टज्ञानको अनुमितिकारणता कहो तो द्वितीयरीतिसे आपको अनुमितिकारणीभूत परामर्श-ज्ञान अन्यथाख्यातिरूप मानना पड़ेगा; यही आपके गलेमें उभयतःपाशा रज्जु है अर्थात् आपको दोनों तरहसे अन्यथाख्यातिसे इनकार करना कठिन है.

इत्थंचान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं रङ्गं रजततयाऽवेदिष-मित्यनुभवादिति संक्षेपः ॥ १३६ ॥

भाषा–(इत्थश्च) इस पूर्वोक्तरीतिसे जब आपके सिद्धान्तसे भी अन्यथाख्याति-बलात् सिद्ध हुई तो हमारे सिद्धान्तमें तो "रङ्गं रजततयाऽवेदिषम्–अर्थात् मैंने रङ्गहीको रजतरूपसे जाना था" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक अनुभवही अन्यथाख्यातिमें प्रमाणरूप है. भाव यह कि–भ्रमज्ञानबाधके पीछे पुरुषको 'रङ्गं रजतत-याऽवेदिषम्' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक अनुभव होवे है, उसीसे प्रथमज्ञानमें भ्रमरूपताका साक्षात् निश्चय होवे है. (इति संक्षेपः) यह संक्षेपसे प्रभाकरके अख्यातिवादका खण्डन तथा अन्यथाख्यातिका मण्डन दिखलाया है ॥ १३६ ॥

पूर्वं व्याप्तिरुक्ता तद्ग्रहोपायस्तु न दर्शित इत्यतस्तं दर्शयति, व्यभिचारस्येति–

शंका–अनुमान प्रमाण यदि होय तो उससे ज्ञाननिष्ठ प्रमात्वधर्मका ग्रहण हो सके परन्तु अनुमान प्रमाण तो कुछ वस्तु नहीं; क्योंकि–अनुमानका कारणभूत जो व्याप्ति उसका स्वरूप तथा उसके स्वरूपका ग्राहक कोई नहीं है. समाधान–व्याप्तिका स्वरूप तो हम पीछे अनुमानखण्डमें कहचुके परन्तु उसके ग्रहणका उपाय वहां नहीं कहा इसलिये 'व्यभिचारस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं दिखलाते हैं–

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा ॥
हेतुर्व्याप्तिग्रहे, तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥ १३७ ॥

भाषा–व्यभिचारका अग्रहण तथा सहचारका ग्रहण व्याप्तिग्रहणमें कारण है और यदि किसी स्थलमें व्यभिचारकी मिथ्याशंका उत्पन्न होय तो वह तर्कसे निवृत्त हो सकती है ॥ १३७ ॥

व्यभिचाराग्रहः सहचारग्रहश्च व्याप्तिग्रहे कारणमित्यर्थः। व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धकत्वात् तदभावः कारणम्। एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारग्रहस्यापि हेतुता। भूयोदर्शनं तु न कारणम्, व्यभिचारास्फूर्तौ सकृद्दर्शनेऽपि क्वचिद्व्याप्तिग्रहात् क्वचिद्व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा भूयोदर्शनमुपयुज्यते।

भाषा–पदार्थोंके परस्पर व्यभिचारका अग्रहण तथा सहचारका ग्रहण व्याप्तिस्वरूपके ग्रहणमें कारणीभूत है. व्यभिचारज्ञान व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक है, इसलिये उसका अभावभी कारण है. एवं "तत् वह्न्यादिसत्त्वे तत् धूमादिसत्त्वं; तत् वह्न्यादि अभावे तत्, धूमादि अभावः" इत्याकारक अन्वयव्यतिरेकद्वारा सहचारज्ञानकोभी व्याप्तिस्वरूप ग्राहकता है. व्यभिचारका स्फुरण न होय तो किसी एक स्थलमें एकबार सहचार दर्शनसेभी व्याप्तिग्रहण होताहै; इसलिये पुनःपुनः सहचारदर्शनको कारणता माननी उचित नहीं है परन्तु किसीएक स्थलमें व्यभिचारशंका विहननद्वारा भूयोदर्शनकाभी व्याप्तिग्रहणमें उपयोग है.

यत्र तु भूयोदर्शनादपि शङ्का नापैति तत्र विपक्षबाधकतर्कोऽपेक्षितः। तथाहि। वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यादिति यद्याशङ्का भवति तदा सा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावस्य प्रतिसन्धानान्निवर्तते।

भाषा–और जिस स्थलमें भूयोदर्शनसेभी व्यभिचारशंका निवृत्त नहीं होती,वहां शंका अपनयनार्थ विपक्षबाधक तर्ककी अपेक्षाभी होती है (तथाहि) "वह्निविरहस्थलमेंभी यदि धूम रहे तो हानि क्या है? इत्याकारक यदि कोई आशंका करे तो उसका वह्निधूमका परस्पर कार्यकारणभाव विचारनेसे परिहार होता है.

यद्ययं वह्निमान्न स्यात्तदा धूमवान्न स्यात्, कारणं विना कार्यानुत्पत्तेः।

भाषा–यदि यह धूमवान् पर्वत वह्निमान् न होय तो धूमवान्भी नहीं हुआ चाहिये क्योंकि वह्निधूमका परस्पर कार्यकारणभाव है; इसलिये वह्निरूप कारणसे

विना धूमरूप कार्यका सम्भव होना दुर्घट है. एवं "धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तदा वह्निजन्यो न स्यात्"यह परिनिष्ठित तर्कका आकार जानना उचित है.

यदि क्वचित्कारणं विनापि कार्यं भविष्यत्यहेतुक एव भविष्यतीति तत्राप्याशङ्का भवेत् तदा सा व्याघातादपसरणीया। यदि कारणं विना कार्यं स्यात्तदा धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थं भोजनस्य वा नियमत उपादानं तवैव न स्यादिति। यत्र स्वत एव शङ्का नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति तदिदमुक्तम्। तर्कः क्वचिदिति ॥ १३७ ॥

भाषा-यदि किसी स्थलमें कारणसे विनाभी कार्य उत्पन्न होगा तो वह कार्य अहेतुकही होगा. इसलिये (तत्र) तादृश तर्क कारणीभूत कार्यकारणभावग्रहमेंभी "अहेतुकमेव कार्यं स्यात्" इत्याकारक शंका प्रतिबन्धक होसकती है; परन्तु ऐसी शंकाका अपसरण (दूरीकरण) व्याघातदोषप्रदर्शनद्वारा होसकताहै; अर्थात् शंकाकारक वादीके व्यवहारव्याघातप्रदर्शनसे उक्त शंकाकी निवृत्ति होसकती है.भाव यह है; शंकाकारक वादीको यह कहसकतेहैं कि-यदि वह्नि आदि कारणसे विनाभी धूमादिकार्योंका सम्भव होय तो धूमके लिये वह्निका तथा तृप्तिके लिये भोजनका ग्रहण आपको नियमसे नहीं करना चाहिये और जहां स्वभावसे शंका उत्पन्नही नहीं हुई वहां तर्ककी अपेक्षाभी नहीं है इसीलिये मूलमें " तर्कः क्वचिच्छंकानिवर्तकः " यह कहा है. अर्थात किसी एक स्थलविशेषमें तर्क शंकाका निवर्त्तक होता है सर्वत्र नहीं ॥ १३७ ॥

इदानीं परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थमुपाधिं निरूपयति, साध्यस्येति--

भाषा-इदानीं प्रतिपक्षीके व्याप्तिग्रहके प्रतिबन्धनार्थ 'साध्यस्य' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार उपाधिका निरूपण करते हैं--

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ॥
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥ १३८ ॥

भाषा--जो साध्यका व्यापक होय तथा हेतुका अव्यापक होय, उसका नाम 'उपाधि' है. उस उपाधिका 'निष्कर्ष' अर्थात् सारभूत स्वरूप यह आगे दिखलाते हैं ॥ १३८ ॥

साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकमुपाधिरित्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् साध्यत्वेनाभिमत वस्तुका व्यापक होकर जो हेतुत्वेनाभिमतवस्तुका अव्यापक होय उसका नाम 'उपाधि' है ।

ननु स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वं नोपाधिः स्यात् तस्य साध्यव्यापकत्वाभावात्, श्यामत्वस्य कोकिलादावपि सत्त्वात् ।

शंका-आपने 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' ऐसा उपाधिका स्वरूप कहा है, परन्तु यह लक्षण हरएक उपाधिमें घट नहीं सकता जैसे "काकः श्यामः मित्रातनयत्वात्" इस अनुमानमें 'शाकपाकजत्व' रूप उपाधि तो है क्योंकि मित्रातनयत्वरूप हेतु काकरूप पक्षमें न रहनेसे स्वरूपासिद्ध है, एवं श्यामत्वधर्मरूप साध्यके अभाववाले अर्थात् मित्रास्त्रीके अष्टमगौर पुत्रमें रहनेसे यह हेतु व्यभिचारीभी है, एवं ऐसे दोषपूरित हेतुमें उपाधिका चिन्तन करनेसे यही हेतु व्याप्यत्वासिद्धभी होसकता है परन्तु एतत्स्थलीय उपाधिमें आपका कहा लक्षण सम्यक् नहीं होता, क्योंकि-साध्यव्यापकत्वका अर्थ यह है कि-जहां जहां साध्य रहे वहां वहां नियमसे उपाधि रहे; परन्तु यह बात शाकपाकजत्वरूप उपाधिमें नहीं है. देखिये श्यामत्वधर्म कोकिलाघटपटादि अनेकस्थलोंमें रहता है परन्तु वहां शाकपाकजत्व अर्थात् शाकपाकसे उत्पन्न होना कहींभी नहीं है; इसलिये आपके लक्षणानुसार यह शाकपाकजत्वरूप धर्म उपाधि नहीं हुआ चाहिये, परन्तु विद्वान् लोगोंने इसको उपाधिरूपसे स्वीकार किया है याते आपके लक्षणमें कुछ न्यूनता अवश्य है ।

एवं 'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नोपाधिः स्यात्, प्रत्यक्षत्वस्यात्मादिषु सत्त्वात्, तत्र च रूपाभावात् । एवं 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र भावत्वं नोपाधिः स्याद्विनाशित्वस्य प्रागभावेऽपि सत्त्वात्, तत्र च भावत्वाभावादिति चेत् । न ।

भाषा-एवं आपके लक्षणानुसार "वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्" इस अनुमानमें 'उद्भूतरूपवत्त्व' धर्मभी उपाधि नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि यह धर्मभी साध्यका व्यापक नहीं है, देखिये-प्रत्यक्षत्वरूप साध्य जीवात्मामेंभी रहता है परन्तु वहाँ 'उद्भूतरूपवत्त्व' धर्म नहीं रहता; इसलिये आपके उपाधिलक्षणका लक्ष्य

धर्मभी नहीं बन सकता परन्तु विद्वान् लोगोंने इसको भी उपाधिरूपसे स्वीकार किया है याते आपके लक्षणमेंही न्यूनता माननी उचित है; एवं आपके लक्षणानुसार " ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् " इस अनुमानमें 'भावत्व' धर्मभी उपाधि नहीं हुआ चाहिये क्योंकि-यह धर्मभी साध्यका व्यापक नहीं है, देखिये-विनाशित्वरूप साध्य तो प्रागभावमेंभी है परन्तु वहां 'भावत्व' रूप उपाधि नहीं है. एवं भावत्व-धर्म साध्यका व्यापक न होनेसे आपके उपाधिलक्षणका लक्ष्यभी नहीं हो सकता परन्तु विद्वान् लोग इस धर्मकोभी प्रकृतमें उपाधिरूपसे स्वीकार करते; हैं इसलिये आपके लक्षणमेंही न्यूनता माननी उचित है ।

यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमित्यर्थे तात्पर्यात् । १ ।

समा०-हमारे मूलोक्त " साध्यस्य व्यापको यस्तु " इत्यादि ग्रन्थका यह तात्पर्य्य है कि-उपाधिरूप धर्म यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यका व्यापक होय तद्धर्मावच्छिन्न साधनका अव्यापक होना चाहिये अर्थात् यादृश धर्मविशिष्ट साध्यके साथ उपाधिका सहचार होय तादृश धर्मविशिष्ट हेतुके साथ अवश्य व्यभिचार होना चाहिये एवं यह लक्षण यावद् उपाधिस्थलमें अनुगत है प्रथम "धूमवान् वह्नेः" इस स्थलमें 'आर्द्रेन्धनसंयोग' देखिये-यहां यद्धर्मपदेन पर्वतः अयोगोलकअन्यतरत्वरूप धर्म्मका ग्रहण करनेसे तदवच्छिन्न आधारतानिरूपित आधेयतासम्बन्धसे पर्वतायोगोलकअन्यतरत्वावच्छिन्न धूमरूप साध्यके साथ आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिकी व्यापकता है; तथा पर्वतायोगोलकान्यतरत्वाच्छिन्न वह्निरूप हेतुके साथ उक्त उपाधिकी अव्यापकता है । १ ।

मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापकं शाकपाकजत्वम् । तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकं च । २ ।

भाषा-एवं " स श्यामः मित्रातनयत्वात् " इस स्थलमें यद्धर्म्मपदेन 'मित्रातनयत्वरूप' धर्मका ग्रहण करनेसे समानाधिकरणसम्बन्धेन मित्रातनयत्वावच्छिन्न शामत्वरूप साध्यका व्यापक तथा तादात्म्येन मित्रातनयत्वावाच्छिन्न जो मित्रातनयत्व उसका अव्यापक शाकपाकजत्वरूप उपाधि है । २ ।

एवं पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वं बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्याव्यपकं च । ३ ।

भाषा-'एवं' "वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्" इस स्थलमें यद्धर्मपदेन 'बहिर्द्रव्यत्व' रूप धर्मका ग्रहण करनेसे बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्वरूप साध्यका

व्यापक तथा बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वरूप हेतुका अव्यापक उद्भूत-रूपवत्त्वरूप उपाधि है ३ ।

एवं 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्न-साध्यव्यापकं भावत्वम् । ४ ।

भाषा–एवं "ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्" इस स्थलमें यद्धर्मपदेन जन्यत्वरूप धर्मका ग्रहण करनेसे जन्यत्वावच्छिन्न विनाशित्वरूप साध्यका व्यापक तथा तादात्म्येन जन्यत्वावच्छिन्न जो जन्यत्व उसका अव्यापक भावत्वरूप उपाधि है । ४ ।

सद्धेतोस्त्वेतादृशो धर्मो नास्ति यदवच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकं तदवच्छिन्नस्य साधनस्याव्यापकं किंचित् । स्यात् व्यभिचारिणि त्वन्ततत उपाध्यधिकरणं यत्साध्याधिकरणं यच्चोपाधिशून्यं साध्यव्यभिचारनिरूपकमधिकरणं तदन्यतरत्वावच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकत्वं साधनस्य चाव्यापकत्वमुपाधेः सम्भवतीति ॥ १३८ ॥

भाषा–'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि सद्धेतुस्थलोंमें तो ऐसा धर्म कोई नहीं मिलसकता कि यादृशधर्मविशिष्ट साध्यके साथ किसी एक उपाधिरूप धर्मकी व्यापकता तथा तादृश धर्मविशिष्ट हेतुके साथ उसी उपाधिरूप धर्मकी अव्यापकता होय और "धूमवान्वह्नेः" इत्यादि व्यभिचारि स्थलमें तो (अन्ततः) यदि धर्मान्तर नभी स्फुरण होय तो उपाधिके अधिकरण जो साध्याधिकरण पर्वत महानसादि और उपाधिसे शून्य तथा साध्यव्यभिचारनिरूपक हेतुके अधिकरण जो अयोगोलकादि एतद् अन्यतरत्वावच्छिन्न साध्यव्यापकता अर्थात् पर्वत अयोगोलकान्यतरत्व विशिष्ट धूमरूप साध्यका व्यापक तथा पर्वतअयोगोलकान्यतरत्वविशिष्ट वह्न्यादि हेतुका अव्यापक आर्द्रेन्धनसंयोगादिरूप उपाधिधर्म्म होसकता है ॥ १३८ ॥

अत एव लक्ष्यमप्युपाधिस्वरूपमेतदनुसारेण दर्शयति, सर्वे इति-

भाषा–मूलकारके " साध्यस्य व्यापको यस्तु " इत्यादि ग्रन्थका 'यद्धर्मावच्छिन्न ' इत्यादि लक्षणहीमें तात्पर्य है (अत एव) इसीलिये इस लक्षणका लक्ष उपाधिका स्वरूपभी इसी लक्षणके अनुसार ' सर्वे ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दिखलाते हैं–

सर्वे साध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ॥
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता ॥१३९॥

भाषा—जिन उपाधिरूप धर्मोंका प्रकृतसाध्यके सहित हेतुके किसीएक अधिकरणमें व्यभिचार है, अर्थात् उपाधिसाध्य दोनोंही हेतुके किसी एक अधिकरणमें नहीं रहते वे सभी उपाधिरूप धर्म साध्यसमानाधिकरणही कहेजाते हैं ॥ १३९ ॥

स्वसाध्येति । स्वमुपाधिः स्वं च साध्यं च स्वसाध्ये तयोर्व्यभिचारितेत्यर्थः ॥ १३९ ॥

भाषा—यहां 'स्व' पदसे उपाधिका ग्रहण है और इस 'स्व' पदका 'साध्य' पदके साथ इतरेतरयोगद्वन्द्व है एवं उपाधिसाध्य दोनोंकी व्यभिचारिता हेतुके किसी एक अधिकरणमें होनीही उपाधिकी साध्यव्यापकता समझनी चाहिये. यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥ १३९ ॥

उपाधेर्दूषकताबीजमाह, व्यभिचारस्येति—

भाषा—एवं 'व्यभिचारस्य' इत्यादि ग्रन्थसे उपाधिमें दूषकता बीज अर्थात् उपाधि जैसे परकीय अनुमानको दूषित करती है उसका मूल कहते हैं—

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम् ॥

भाषा—व्यभिचारका अनुमान करवाना अर्थात् हेतुको व्यभिचारी सिद्ध करदेना उपाधिका मुख्य प्रयोजन है.

उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः । तथाहि । यत्र शुद्धसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैवोपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा धूमवान् वह्नेरित्यादौ वह्निर्धूमव्यभिचारी तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति । व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात् ॥ १ ॥

भाषा—हेतुका यदि किसी एकस्थलमें उपाधिके साथ व्यभिचार होय तो उसीसे साध्यके साथ हेतुके व्यभिचारकाभी अनुमान होता है (तथाहि) जिस स्थलमें उपाधि केवल शुद्धसाध्यकी व्यापक है वहां केवल शुद्ध उपाधि व्यभिचारसेही हेतुमें साध्यव्यभिचारका अनुमान होता है, जैसे "धूमवान् वह्नेः" इत्यादि स्थलमें यह अनुमान करसकते हैं कि धूमके व्यापकीभूत आर्द्रेन्धनसंयोगका व्यभिचारी होनेसे, वह्निरूप हेतु स्वसाध्यधूमकाभी अवश्य व्यभिचारी है क्योंकि जो व्यापकका व्यभिचारी होता है वह व्याप्यका व्यभिचारीभी अवश्य होता है.

यत्र तु किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धर्मवत्युपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि,मित्रातनये शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वादिति । बाधानुन्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात् स्वव्याघातकत्वाच्च नोपाधिः।

भाषा—एवं जिस स्थलमें किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न साध्यका व्यापक उपाधिरूप धर्म है वहां उसी धर्मवाले हेतुके साथ उपाधिव्यभिचारसे साध्यके व्यभिचारका भी अनुमान होता है. जैसे "स श्यामो मित्रातनयत्वात्" इत्यादि स्थलमें यह अनुमान करसकते हैं कि—मित्राके अष्टम गौर पुत्रमें शाकपाकजत्वका व्यभिचार होनेसे मित्रातनयत्वरूप हेतु श्यामत्वरूप साध्यका व्यभिचारी है. बाधदोषासहकृत पक्षेतरत्वरूप धर्म किसी स्थलमें भी उपाधिरूप नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथम तो उसकी प्रकृतसाध्यके साथ व्यापकताका ग्राहक प्रबल प्रमाण कोई नहीं है. भाव कथञ्चित् व्यापकताका ग्रहण मानभी लिया जाय तो उसको स्वव्याघातकता है. भाव यह कि, प्रकृतहेतुके व्यभिचारानुमापकत्वेन उपाधिको दूषकता है.

बाधोन्नीतस्तु पक्षेतर उपाधिर्भवत्येव यथा 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इत्यादौ प्रत्यक्षेण वह्नेरुष्णत्वग्रहे वह्नीतरत्वमुपाधिः । यत्र तूपाधेः साध्यव्यापकत्वादिकं सन्दिह्यते स सन्दिग्धोपाधिः । पक्षेतरस्तु सन्दिग्धोपाधिरपि नोद्भावनीयः कथकसम्प्रदायानुरोधादिति ।

भाषा—एवं यदि पक्षेतरत्वरूप धर्म भी उपाधिरूपसे स्वीकृत होय तो सर्वत्र अनुमानोंमें पक्षेतरत्वरूप उपाधिका सम्भव होनेसे अनुमानमात्रका उच्छेद हुआ तो उपाधिको दूषकता कहां रही ? यही उसको स्वव्याघातकत्व है परन्तु बाधसहकृत पक्षेतरत्व धर्म भी उपाधिरूप हो सकता है; जैसे "वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्" इत्यादि स्थलमें पहले स्पार्शन प्रत्यक्षसे वह्निमें उष्णता ग्रहण करी अर्थात् पक्षेसाध्याभावरूप बाधका निश्चय किया तो पीछे वह्नीतरत्वरूप उपाधि कह सकते हैं. परन्तु जिस स्थलमें उपाधिमें साध्यव्यापकताका सन्देह होता है उस स्थलमें वह सन्दिग्ध उपाधि कही जाती है और पक्षेतरत्वरूप धर्म तो सन्दिग्ध उपाधिरूपसें भी वादी प्रतिवादीको परस्पर उद्बोधन करना योग्य नहीं क्योंकि ऐसा करना भी (कथक) विचारकुशलोंके सम्प्रदायसे विरुद्ध है.

केचित्तु सत्प्रतिपक्षोत्थापनमुपाधेः फलम्। तथाहि । 'अयो-गोलकं धूमवद्वह्नेः' इत्यादावयोगोलकं धूमाभाववदार्द्रेन्धना-भावादिति सत्प्रतिपक्षसम्भवात्। इत्थं च साधनव्यापकोऽपि क्वचिदुपाधिः यथा करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वात् इत्या-दावनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वम्।

भाषा-कोई एक विद्वान् लोग विरोधिहेतुका उत्थापन करदेनाही उपाधिका प्रयोजन मानते हैं. (तथाहि) जैसे " अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः " इत्यादि स्थलमें " अयोगोलकं धूमाभाववत् धूमव्यापकार्द्रेन्धनसंयोगाभावात् इत्याकारक विरोधिहेतुका सम्भव हो सकता है. (इत्थञ्च) एवं विरोधिहेतु उत्थापकत्वेन उपाधिको दूषकत्व माननेसे किसी एक स्थलविशेषमें साधनका व्यापक भी उपा-धिरूप धर्म होता है जैसे " वर्षोपलः पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वात् " इत्यादि स्थलमें ' अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व ' उपाधि है; इस उपाधिसे कृतहेतुमें व्यभिचारा-नुमान तो नहीं हो सकता परन्तु " वर्षोपलः पृथिवीत्वाभाववान् कठिनसंयोगव्या-पकीभूतानुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वाभावात्" इत्याकारक सत्प्रतिपक्ष कहसक्ते हैं.

न चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यम्। सर्वत्रोपाधेर्दूष-णान्तरसाङ्कर्यादत्र च साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिरिति वदन्ति।

शंका-करका उसी कालमें पिघलके जलरूप हो जाती है, इसलिये उसमें कठिन संयोग वस्तुतः नहीं एवं ऐसे स्थलमें पक्षे हेत्वाभावरूप स्वरूपासिद्धि दोषही कहना उचित है. समाधान-उपाधिदोषका सर्वस्थलोंमें दोषान्तरोंके साथ सांकर्य रहता है अर्थात् ऐसा स्थल कोई एक भी दुर्लभ है कि जिसमें केवल उपाधि दोषही होय तथा दोषान्तरोंका सम्भव न होसके (अत्रच) इस सत्प्रतिपक्ष उत्था-पकत्वपक्षमें विद्वान् लोग साध्यके व्यापक तथा पक्षमें न रहनेवाले धर्मको उपाधि कहते हैं.

शाब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते ॥१४०॥
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥

भाषा-(वैशेषिक) कणादमुनिके सिद्धान्तमें शब्द तथा उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है ॥ १४० ॥ किन्तु इन दोनोंकी अनुमानहीमें गतार्थता है.

शब्दोपमानयोरिति । वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमा-णम्। शब्दोपमानयोस्त्वनुमानविधयैव प्रामाण्यम् । तथाहि

दण्डेन 'गामानय' इत्यादिलौकिकपदानि 'यजेत'इत्यादि वैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकांक्षादिमत्पदकदम्बत्वात् 'घटमानय' इतिपदकदम्बवत्। यद्वैते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः, योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात्, तादृशपदार्थवत्। दृष्टान्तेऽपि दृष्टान्तान्तरेण साध्यसिद्धिरिति।

भाषा–वैशेषिकसिद्धान्तमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दोही प्रमाण स्वीकृत हैं और शब्द तथा उपमानको अनुमानविधयाही प्रमाणता है अर्थात् जुदी प्रमाणता नहीं है (तथाहि) 'दण्डेन गामानय' इत्यादिलौकिक पद तथा 'यजेत' इत्यादि वैदिकपद वक्तृतात्पर्यके विषयभूत जो पदोंद्वारा उपस्थित हुए पदार्थोंका परस्पर संसर्ग, उस संसर्गका जो ज्ञान तादृश ज्ञानपूर्वक हैं; क्योंकि यह सब आकांक्षायोग्यतादिवाला पदसमूह प्रतीत होता है. जैसे 'घटमानय' यह पदसमूह आकांक्षायोग्यताआदिवाला है इसीलिये वक्तृतात्पर्यके विषयभूत उक्त संसर्गके ज्ञानपूर्वकभी है अथवा ये घटपटादि यावत् पदार्थ वक्तृतात्पर्यके विषयभूत परस्पर संसर्गवाले हैं; क्योंकि जहां तहां इनकी आकांक्षायोग्यतावाले पदोंसेही उपस्थिति होती है(तादृश) प्रसिद्ध पदार्थकी तरह सर्वत्र अनुभव करना उचित है, इत्यादि अनुमानद्वारा प्रयोज्यवृद्धको अनुभव हो सकता है और यादि किसीको दृष्टान्तस्थलमें भी सम्यक् साध्यसिद्धि न होय तो उसी पदार्थको पक्षस्थापन करके वहां प्रसिद्ध दृष्टान्तान्तरसे साध्यसिद्धि होसकती है.

एवं गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकमसति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात् असति च वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र यत्प्रयुज्यते तत्र तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम्। तथा गोपदं गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम्।

भाषा–ऐसेही गवयादिव्यक्ति साक्षात्कारके पश्चात् 'गवय' पद गवयत्वप्रवृत्ति निमित्तक है अर्थात् 'गवय' पदका प्रवृत्तिनिमित्तधर्म 'गवयत्व'है, क्योंकि वृद्धलोग 'गवय' पदका और कहीं प्रयोग न करके केवल गवयव्यक्तिमेंही प्रयोग करते हैं अर्थान्तरमें वृत्त्यभाववाले पदका वृद्धलोग जहां जिसका प्रयोग करते हैं वहां वह पद उसी धर्मके प्रवृत्तिनिमित्तवाला होता है जैसे 'गो' पद गोत्वधर्मके प्रवृत्तिनिमित्तवाला है अर्थात् 'गो' पदका प्रवृत्तिनिमित्तधर्म गोत्व है.

यद्वा गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वादित्यनुमानेन पक्षधर्मताबलाद्गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं सिद्धयति ।

भाषा-अथवा 'गवय' पद (साधु) शुद्धपद होनेसे अवश्य किसी एक प्रवृत्तिनिमित्त धर्मवाला है अर्थात् शुद्ध पद है इसलिये कोई एक इसका प्रवृत्तिनिमित्तधर्म अवश्य होना चाहिये. इस अनुमानद्वारा पक्षधर्मताके बलसे 'गवय' पदका प्रवृत्तिनिमित्त धर्म गवयत्व सिद्ध होसकता है.

तन्मतं दूषयति, तन्न सम्यगिति-

भाषा-यह पूर्वोक्त वैशेषिकका सिद्धान्त 'तन्न सम्यक्' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दूषित करते हैं-

तन्न सम्यग्विना व्याप्तिबोधं शब्दादिबोधतः॥१४१॥

भाषा-यह पूर्वोक्त सिद्धान्त यथार्थ नहीं है, क्योंकि व्याप्तिज्ञानसे विनाभी शब्दादिसे शाब्दबोध होना अनुभवसिद्ध है ॥ १४१ ॥

व्याप्तिज्ञानं विनापि शब्दादितो शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् । न हि सर्वत्र शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञाने प्रमाणमस्तीति । किंच सर्वत्र शाब्दस्थले यदि व्याप्तिज्ञानं कल्प्यते तदा सर्वत्रानुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शाब्दबोध एव किं न स्वीक्रियत इति ॥ १४१ ॥

भाषा-सर्वस्थलोंमें शब्दश्रवणसे पश्चात् अवश्य व्याप्तिज्ञानके होनेमें कोई प्रबल युक्ति या प्रमाण नहीं है;क्योंकि व्याप्तिज्ञानके विनाभी शब्दादिजन्य शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है. (किञ्च)सर्वत्र शाब्दबोधस्थलमें यदि आप अनुमितिज्ञानकी अन्यथानुपपत्तिसे व्याप्तिज्ञानकी कल्पना करते हैं तो हम कहते हैं कि, सर्वत्र अनुमितिस्थलमें पदस्मरणकी कल्पनासे शाब्दबोधहीको आप स्वीकार क्यों नहीं करलेते? भाव यह कि कल्पना उभयत्र तुल्यही है, विनिगमनाविरहसे आप विपरीतही क्यों नहीं मानलेते?

त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः ॥
द्वैविध्यं तु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः ॥ १४२ ॥
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते ॥

भाषा-केवलान्वयि भेदसे अनुमान तीन प्रकारका है और अन्वयव्यतिरेकभेदसे व्याप्ति दो प्रकारकी है ॥ १४२ ॥ उसमें अन्वयव्याप्तिका स्वरूप तो पूर्व कह चुके हैं; शेष व्यतिरेकव्याप्तिका स्वरूप यहां कहते हैं-

त्रैविध्यमिति। अनुमानं हि त्रिविधं—केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्। तत्रासद्विपक्षः केवलान्वयी यथा 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' इत्यादौ तत्र हि सर्वस्यैवाभिधेयत्वाद्विपक्षासत्त्वम्।

भाषा—केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि तथा अन्वयव्यतिरेकि भेदसे अनुमान तीन प्रकारका है,. उनमें जिसका विपक्षस्थल कहीं न मिले वह केवलान्वयि है; जैसे 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' इत्यादि स्थलमें ईश्वरइच्छाविषयका नाम ' अभिधेय' है और ईश्वरप्रमाविषयका नाम ' प्रमेय' है. एवं अभिधेयभी पदार्थमात्र है और प्रमेयभी पदार्थ मात्र है.एवं प्रमेयत्वरूप हेतुका निश्चित साध्याभाववद् विपक्षस्थल कोई नहीं है, याते यह केवलान्वयि है।

ननु सर्वेषां धर्माणां व्यावृत्तत्वात्केवलान्वय्यसिद्धिरिति चेत्। न। व्यावृत्तत्वस्य सर्वसाधारण्ये तस्यैव केवलान्वयित्वात्। किं च वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्। तच्च गगनाभावादौ प्रसिद्धम्। १।

शंका—संपूर्णपदार्थोंके यावत् धर्म व्यावृत्त हैं अर्थात् जुदा जुदा हैं यावत् पदार्थोंमें अनुगत एक धर्म कोई नहीं है इसलिये केवलान्वयि धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती. समाधान—व्यावृत्त पदार्थोंके सिरपर रहनेवाला व्यावृत्तत्वधर्म सर्वसाधारण है, इसलिये वह केवलान्वयि हो सकता है. (किञ्च) घटपटादि वृत्तिमत् पदार्थोंके अत्यन्ताभावके अप्रतियोगीका नाम ' केवलान्वयि ' है. ऐसे गगनाभावादि कई एक पदार्थ हैं १।

असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी, यथा 'पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्' इत्यादौ। तत्र हि जलादित्रयोदशभेदस्य पूर्वमनिश्चिततया निश्चितसाध्यवतः सपक्षस्याभाव इति।२। सत्सपक्षविपक्षोऽन्वयव्यतिरेकी, यथा 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ। तत्र सपक्षस्य महानसादेर्विपक्षस्य जलह्रदादेश्च सत्त्वादिति॥ ३॥

भाषा—जिसका निश्चित साध्यवाला सपक्ष स्थल न होय वह अनुमान ' केवलव्यतिरेकी ' है. जैसे "पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् ". इत्यादि स्थलमें जलादि आठ तथा गुणादि पांच इन त्रयोदशका भेद पृथिवीमें इस अनुमानसे पहले

कहींभी निश्चित नहीं है. एवं निश्चित साध्यवाले सपक्ष स्थलके न होनेसे यह अनुमान 'केवलव्यतिरेकी' है २। जिसका सपक्ष विपक्षस्थल निश्चित होय वह अनुमान 'अन्वयव्यतिरेकी' है; जैसे 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलमें सपक्ष महानसादि तथा विपक्ष जलह्रदादि निश्चित हैं ॥ ३ ॥

तत्रहि व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं कारणं तदर्थं व्यतिरेकव्याप्तिं निर्वक्ति, साध्याभावव्यापकत्वमिति–

भाषा–उनमें व्यतिरेकि अनुमानके प्रति व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञानको कारणता है उसके लिये 'साध्याभाव' इत्यादि मूलसे ग्रन्थकार व्यतिरेकव्याप्तिका निर्वचन करते हैं।

साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेत् ॥ १४३ ॥

भाषा–साध्याभावनिरूपित हेत्वाभावमें व्यापकताका नाम 'व्यतिरेक व्याप्ति है.

साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । यत्संबन्धेन यद्वच्छिन्नं प्रति येन सम्बन्धेन येन रूपेण व्यापकता गृह्यते तत्सम्बन्धावच्छिन्नं प्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभाववत्ताज्ञानात् तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य सिद्धिरिति ।

भाषा–अर्थात् वह्न्यादिसाध्याभावका व्यापकीभूत जो धूमाभाव तादृशाभावप्रतियोगित्वरूपही धूमरूप हेतुके सिरपर व्यतिरेकव्याप्ति है, यहां इतना और भी जानना चाहिये कि–जिस सम्बन्धसे यद्धर्मावच्छिन्नके प्रति जिसकी जिस सम्बन्धसे जिस रूपसे व्यापकता ग्रहण होय उसका उसी सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक उसी धर्मावच्छिन्नाभाववत्ताके ज्ञानसे उसी सम्बंधावच्छिन्न प्रतियोगिताक उसी धर्मावच्छिन्नके अभावकी सिद्धि होती है–इति ।

इत्थं च यत्र विशेषणतादिसम्बन्धेनेतरत्वव्यापकत्वं गन्धात्यन्ताभावे गृह्यते तत्र गन्धाभावाभावेनेतरत्वात्यन्ताभावः सिध्यति । यत्र तु तादात्म्यसम्बंधेनेतरव्यापकता गन्धाभावस्य गृह्यते तत्र तादात्म्यसम्बन्धेनेतरस्याभावः सिध्यति, स एवान्योन्याभावः ।

भाषा–(इत्थञ्च) इस रीतिसे जहां गन्धके अत्यन्ताभावमें पृथिवी इतरवृत्ति इतरत्वधर्मनिष्ठ व्याप्यतानिरूपित व्यापकता 'विशेषणता' स्वरूपसम्बन्धसे

ग्रहण हुआहै वहां गन्धके अभावके अभावसे अर्थात् गन्धसे इतरत्वधर्मके अत्यन्ताभावकी सिद्धि होती है अर्थात् जहां गन्ध है वहां इतर जलादिका भेद है तथा इतर जलादिनिष्ठ इतरत्वधर्मका अत्यन्ताभावभी है, क्योंकि धर्मिभेद धर्मात्यन्ताभाव सहवृत्ति एकरूप होते हैं,परन्तु जहां तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जो इतरानिष्ठव्याप्यता तादृशव्याप्यतानिरूपित व्यापकताका गन्धाभावमें ग्रहण होताहै, वहां तादात्म्यसम्बन्धसेही इतरजलादिका अभाव सिद्ध होताहै, उसीका नाम ' अन्योन्याभाव 'है.

एवं यत्र संयोगसंबन्धेन धूमं प्रति संयोगसबन्धेन वह्निव्यापकता गृह्यते तत्र संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभावेन जलह्रदे संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमाभावःसिध्यति ।

भाषा—एवं जहां संयोगसम्बन्धेन धूमके प्रति संयोगसम्बन्धेन वह्निनिष्ठ व्यापकताका ग्रहण हुआहै वहां संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक वह्निके अभावसे जलह्रदमें संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक धूमाभावकी सिद्धि होती है.

अत्र च व्यतिरेकव्याप्तिग्रहे व्यतिरेकसहचारज्ञानं कारणम् । केचित्तु व्यतिरेकसहचारेणान्वयव्याप्तिरेव गृह्यते न तु व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि कारणम् । यत्र व्यतिरेकसहचाराद्व्याप्तिग्रहस्तत्र व्यतिरेकीत्युच्यते । साध्यप्रसिद्धिस्तु घटादावेव जाता पश्चात् पृथवीत्वावच्छेदेन साध्यते इति वदन्ति ।

भाषा—यहां व्यतिरेकव्याप्तिके ग्रहणमें व्यतिरेकसहचारका ज्ञान अर्थात् " यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र हेत्वभावः " इत्याकारक अभावोंके सहचारका ज्ञान कारणीभूत है, परन्तु ऐसे स्थलमें उदयनाचार्यानुयायी विद्वानलोग तो ऐसा मानते हैं कि—केवलव्यतिरेकसहचारसेभी अन्वयव्याप्तिकाही ग्रहण होता है किन्तु व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान अनुमितिज्ञानके प्रति कारण नहीं है. जिस स्थलमें व्यतिरेकसहचारसे व्याप्तिग्रह होता है वहां वह अनुमान ' व्यतिरेकी ' कहा जाताहै. इतरभेदरूप साध्यकी प्रसिद्धि प्रथमघटादिकोंमें होती है; पश्चात् पृथिवीत्वावच्छेदेन इतरभेदरूप साध्यका अनुमान किया जाता है. भाव यह कि—पक्षके एकअंशमें साध्यसिद्धि यावत् अंशकसाध्यसाधिका अनुमितिके प्रति प्रतिबन्धक नहीं होसकती.

अर्थापत्तेस्तु नैवेह प्रमाणान्तरतेष्यते ॥
व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्या चरितार्था हि सा यतः॥१४४॥

भाषा--(इह) न्यायसिद्धान्तमें अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं है, क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानहीमें इसकी गतार्थता होसकती है ॥ १४४ ॥

अर्थापत्तेस्त्विति । अर्थापत्तिं प्रमाणान्तरं मन्यन्ते केचन । तथाहि यत्र देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वं ज्योतिःशास्त्रादवगतं जीविनो गृहासत्त्वं च प्रत्यक्षादवगतं तत्र शतवर्षजीवित्वान्यथा-नुपपत्त्या बहिः सत्त्वं कल्प्यते । तदनुमानेन गतार्थत्वान्नेष्यते ।

भाषा–कुमारिलभट्ट तथा वेदान्तीलोग अर्थापत्तिको पृथक् प्रमाण मानते हैं (तथाहि) जैसे जहां किसी देवदत्तादि पुरुषविशेषका शतवर्षतक जीना ज्योतिः शास्त्रसे निश्चय किया अर्थात् उसकी जन्मपत्रिकाद्वारा जाना तो जीतेहुए उसका घरमें न होना प्रत्यक्षसे निश्चयहुआ तो ऐसे स्थलमें उसका शतवर्षतक जीवना (अन्यथा) प्रकारान्तरेण अनुपपन्न हुआ किसी बाह्यदेशमें उसके सत्त्वकी अर्थात् होनेकी कल्पना करवाता है इस प्रकारकी अर्थापत्तिकी प्रमाणान्तरताभी अनुमा-नहीमे गतार्थ है इसलिये पृथक्प्रमाणता वांछित नहीं है ।

तथाहि । यत्र जीवित्वस्य बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतरव्याप्यत्वं गृहीतं तत्रान्यतरसिद्धौ जायमानायां गृहसत्त्वबाधाद्बहिःसत्त्व-मनुमितौ भासते ।

भाषा–(तथाहि) बहिर्देशमें होना या घरमें होना इन दोनोंमें किसी एकनिष्ठ व्यापकतानिरूपित व्याप्यताका ग्रहण जहां देवदत्तके जीवनमें हुआ है अर्थात् जहां "जीविनो जीवित्वं बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतरव्याप्यम्" इत्याकारक ज्ञान हुआ है वहां दोनोंमें एककोटिके साक्षात्कार हुए पश्चात् गृहसत्त्वका बोध होनेसे जीवी देवदत्तका बाह्य सत्त्व "देवदत्तो बहिः सत्त्ववान् जीवित्वे सति गृहाभावदर्शनात्" इत्याकारक अनुमितिमें प्रतीत होता है.

एवं 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यादौ पीनत्वस्य भो-जनव्याप्यत्वावगमाद्भोजनसिद्धौ दिवाभोजनबाधे च रात्रि-भोजनं सिध्यति । अभावप्रत्यक्षस्यानुभाविकत्वादनुपल-म्भोऽपि न प्रमाणान्तरम् ।

भाषा–एवं (पीन) 'स्थूल देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता' इत्यादि स्थलमें पीनत्वधर्मकी भोजनके साथ "यत्र यत्र पीनत्वं तत्र तत्र भोजनम्" इत्याकारक व्याप्ति अनेकवार गृहीत है इससे भोजनकी सिद्धि हुई तो दिनमें भोजन प्रत्यक्षसे

बाधित है, इसलिये " देवदत्तो रात्रिभोजी दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात् " इत्याकारक प्रयोगसे रात्रिभोजनकी सिद्धि होती है. विशेषणतादिसम्बन्धसे अभावका साक्षात्कार होना अनुभवसिद्ध है इसलिये उसका ग्राहक अनुपलब्धिभी पृथक् प्रमाण नहीं है.

किंचानुपलम्भस्याज्ञातस्य हेतुत्वे ज्ञानाकरणकत्वात् प्रत्यक्षत्वं ज्ञातस्य हेतुत्वे तु तत्राप्यनुपलम्भान्तरापेक्षेत्यनवस्था ।

भाषा-(किञ्च) अनुपलब्धिको पृथक् प्रमाण माननेवालेसे यह पूँछना चाहिये कि-जिसको आपने स्वतंत्रप्रमाण माना है वह प्रतियोग्युपलम्भाभाव स्वयं अज्ञात हुआ अभावका ग्राहक है, किंवा ज्ञात हुआ?यदि अज्ञात हुआ कहो तो ज्ञानाकरणक ज्ञान होनेसे प्रत्यक्षहीके अन्तर्भूत हुआ और यदि ज्ञात हुआ कहो तो उसमें फिर अनुपलम्भान्तरकी अपेक्षा होगी क्योंकि उस प्रथम अनुपलम्भके जाननेके लिये कोई दूसरा अनुपलम्भ अवश्य चाहिये. एवं दूसरेके लिये तीसरा. तीसरेके लिये चौथा, ऐसेही पश्चाद्धाविनी कारणमुखी अनवस्था होगी.

एवं चेष्टापि न प्रमाणान्तरं तस्याः संकेतग्राहकशब्दस्मारकत्वेन लिप्यादिसमशीलत्वाच्छब्द एवान्तर्भावात् । यत्र तु व्याप्त्यादिग्रहस्तत्रानुमितिरेवेति ॥ १४४ ॥

भाषा-एवं तांत्रिकलोग चेष्टाको पृथक् प्रमाण मानते हैं सो भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे (लिपि) लिखे हुए अक्षरोंसे वक्तृतात्पर्यके ग्राहक शब्दोंका स्मरण होकर शाब्दबोध होता है वैसेही चेष्टाद्वाराभी चेष्टाकारकपुरुषकृतसंकेतग्राहक शब्दोंका स्मरण होकर शाब्दबोधही होता है इसलिये चेष्टाका भी शब्दहीमें अन्तर्भाव है, परन्तु जहां मूकबधिरादिकोंकी विलक्षण चेष्टाकी क्षुधादिके साथ व्याप्ति गृहीत है वहां " अयं मूकबधिरो भोजनाभिलाषी मुखप्रसारणादिविलक्षणचेष्टावत्वात् " इत्यादि प्रयोगद्वारा अनुमितिज्ञानही होता है. यहां यह भाव है कि-कृतसंकेता तथा अकृतसंकेता भेदसे चेष्टा दो प्रकारकी है; उसमें प्रथमा तो संकेतग्राहक शब्दस्मारिका है इसलिये लिपि आदिकी तरह शब्दप्रमाणके अन्तर्भूत है और दूसरी व्याप्तिग्रहणद्वारा अनुमानके अन्तर्भूत है ॥ १४४ ॥

सुखं निरूपयति, सुखं तु जगतामेवेति-

भाषा-अब ' सुखन्तु ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार सुखका निरूपण करते हैं-

सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जन्यते ॥

भाषा-संसारमात्रकी कामनाके विषयका नाम 'सुख' है. धर्मसे वह उत्पन्न होताहै.

काम्यमभिलाषाविषयः । धर्मेणेति । धर्मत्वेन सुखत्वेन कार्य-कारणभाव इत्यर्थः ।

भाषा—सबकी अभिलाषाके विषय होना मूलगत ' काम्य ' शब्दका अर्थ है. एवं धर्मत्वेन धर्मका तथा सुखत्वेन सुखका परस्पर कार्यकारण भाव है अर्थात् सर्वत्र धर्मकारण है तो सुखरूप कार्य है, अन्यथा नहीं.

दुःखं निरूपयति, अधर्मेति—

भाषा—एवम् ' अधर्म ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार दुःखका निरूपण करते हैं—

अधर्मजन्यं दुःखं स्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम् ॥ १४५ ॥

भाषा—यावत् प्राणियोंको प्रतिकूल वेदनीय अर्थात् सबके द्वेषके विषयका नाम दुःख है और अधर्मसे वह उत्पन्न होता है ॥ १४५ ॥

अधर्मत्वेन दुःखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः । प्रतिकूलमिति । दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां स्वाभाविकद्वेषविषय इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

भाषा—अधर्मत्वेन अधर्मका तथा दुःखत्वेन दुःखका परस्पर कार्यकारण भाव है अर्थात् अधर्म कारण है तथा दुःखकार्य है, दुःखत्वेन रूपेण ज्ञात हुआही वह सम्पूर्ण जीवोंके स्वाभाविक द्वेषका विषय होता है ॥ १४५ ॥

इच्छां निरूपयति निर्दुःखत्व इति—

भाषा—एवं ' निर्दुःख ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार इच्छाका निरूपण करते हैं—

निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते ।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ १४६ ॥

भाषा—दुःखाभावमें तथा सुखमें जीवकी इच्छा होती है, इन दोनोंके ज्ञानसे इच्छाकी उत्पत्ति होती है; इन दोनोंके उपायमें यदि जीवको इष्टसाधनत्व प्रकारक ज्ञान होय तो उपायविषयिणी इच्छा भी होती है ॥ १४६ ॥

इच्छा द्विविधा फलविषयिणी, उपायविषयिणी च । फलं तु सुखं दुःखाभावश्च । तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम् । अत एव स्वतः पुरुषार्थः संभवति, यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तल्लक्षणात् । इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः । उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम् ॥ १४६ ॥

भाषा—एक फलविषयिणी, दूसरी उपायविषयिणी, इस भेदसे इच्छा दोप्रकार-की है. सुख तथा दुःखाभाव ये दोनों इच्छाओंमें फलइच्छाके प्रति फलज्ञान कारण है; इसलिये वह फल स्वतः पुरुषार्थरूप है; क्योंकि—जो ज्ञात हुआ स्ववृत्तितया वांच्छित होय अर्थात् स्वविषयक ज्ञानजन्य इच्छाके विषय होय वह पुरुषार्थ है. यही पुरुषार्थका लक्षण है. फलितार्थ यह कि—जो इतर इच्छाधीन इच्छाके विषय नहीं है, वह स्वतः पुरुषार्थ है. एवं उपायमें पुरुषार्थता वारण हुई. यदि इष्टसाधन-ताज्ञान होय तो जीवको फलसाधक उपायविषयिणी इच्छाभी होती है ॥१४६॥

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत् ।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥ १४७ ॥

भाषा—कृतिसाध्यत्वप्रकारिका इच्छाका नाम चिकीर्षा है. कृतिसाध्यत्वप्रका-रक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान चिकीर्षाके कारण है ॥ १४७ ॥

चिकीर्षेति । कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयिणीच्छा चिकीर्षा । पाकं कृत्या साधयामीति तदनुभवात् । चिकीर्षां प्रति कृतिसाध्यताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं च कारणम् । अत एव वृष्ट्यां कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षा ॥ १४७ ॥

भाषा—कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्य पदार्थविषयिणी इच्छाका नाम चिकीर्षा, है 'पाकं कृत्या साधयामि' यह कृतिसाध्यविषयिणी इच्छाका परिचायक अनुभव है. "इदं मत्कृतिसाध्यम्" इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा "इदं मदिष्टसाधनम्" इत्याकारक इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान उक्तचिकीर्षाके निमि-त्तकारण है. चिकीर्षामें कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानकोभी हेतुता है (अत एव) इसीलिये पुरुषका वृष्टिमें चिकीर्षा नहीं होती; क्योंकि वृष्टिमें पुरुषका कृतिसाध्य-त्वप्रकारकज्ञान नहीं है भाव यह कि—सर्वत्र उभयप्रकारक ज्ञानही चिकीर्षाका जनक है अन्यतरके न होनेसे चिकीर्षा नहीं होती ॥ १४७ ॥

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात्प्रतिबन्धिका ॥

भाषा—अत्यन्त (द्विष्ट) द्वेषका विषय जो दुःख उस दुःखके साधन सर्पादिका ज्ञान उक्तचिकीर्षाका प्रतिबन्धक है.

बलवदिति । बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र प्रतिबन्धकमतो मधुवि-षसंपृक्तान्नभोजने न चिकीर्षा । बलवद्द्वेषः प्रतिबन्धक इत्यन्ये ।

भाषा-प्रबल द्वेषविषयक दुःखादिसाधनताक "इदं मद्दुःखसाधनम्" इत्यादिकारक ज्ञान (तत्र) उक्त चिकीर्षामें प्रतिबन्धक है, इसलिये विषमिश्रित (मधु) शहदआदि अन्न भोजनमें पुरुषकी चिकीर्षा नहीं होती. यहां (अन्य) और कई एक विद्वान् लोग लाघवसे केवल प्रबल द्वेषहीको उक्तचिकीर्षाका प्रतिबन्धक मानते हैं.

तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥ १४८ ॥

भाषा-किसी एक विद्वान्के सिद्धान्तमें (तत्) बलवदनिष्टके अजनक विषयक ज्ञानको उक्त चिकीर्षाके प्रति कारणता है ॥ १४८ ॥

तदहेतुत्वेति । बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं कारणमित्यर्थः । कृतिसाध्यताज्ञानादिमतो बलवदनिष्टसाधनताज्ञानशून्यस्य बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं विनापि चिकीर्षायां विलम्बाभावात्कस्यचिन्मत इत्यस्वरसो दर्शितः ॥ १४८ ॥

भाषा-अर्थात् कोई एक विद्वान् "इदं मद्बलवदनिष्टाजनकम्" इत्याकारक बलवदनिष्टाजनकत्वप्रकारक ज्ञानको उक्त चिकीर्षामें कारणता मानता है; सो ठीक नहीं; क्योंकि पुरुषको जिस किसीएक पदार्थमें बलवदनिष्टसाधकत्वप्रकारक ज्ञान नहीं है और कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान है, उसको बलवदनिष्टजनकत्वप्रकारक ज्ञानसे विनाभी अर्थात् "इदं मद्बलवदनिष्टाजनकम्" इत्याकारक ज्ञान न भी होय तो चिकीर्षा होसकती है. यही (कस्यचित्) किसी के मतमें कार्यकारणभावका व्यतिरेक व्यभिचाररूप अस्वरसे है ॥ १४८ ॥

द्वेषं निरूपयति, द्विष्टसाधनतेति-

भाषा-एवं 'द्विष्टसाधनता' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार द्वेषका निरूपण करते हैं-

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्वेषस्य कारणम् ।

भाषा-(द्विष्ट) द्वेषके विषय दुःखादि साधनाविषयक ज्ञान द्वेषका निमित्त कारण है.

दुःखोपायविषयकं द्वेषं प्रति बलवद्द्विष्टसाधनज्ञानं कारणमित्यर्थः । बलवदिष्टसाधनताज्ञानं च प्रतिबन्धकं तेन नान्तरीयकदुःखजनके पाकादौ न द्वेषः ।

अर्थात् दुःखके उपायविषयक द्वेषके प्रति (द्विष्ट) दुःखके उपायविषयक ज्ञानको कारणता है. उसी पदार्थमें यदि प्रबल इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञानभी होय तो वह उक्त द्वेषका प्रतिबन्धक होता है. भाव यह कि-यद्यपि पाकानिर्माणकालमेंपुरु-

षको धूमादिजन्य दुःख नियमसे होताहै, इसलिये पाकनिर्माणमें द्वेष हुआ चाहिये तथापि ऐसे स्थलमें "पाको मदिष्टसाधनम्" इत्याकारक इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान उक्त द्वेषका प्रतिबन्धक है; इसीलिये (नान्तरीयक) नियमपूर्वक दुःखके जनक पाकादिकोंमें पुरुषका द्वेष नहीं होताहै.

यत्नं निरूपयति, प्रवृत्तिश्चेति—

भाषा—एवं 'प्रवृत्तिश्च' इत्यादि ग्रन्थसे मूलाकार प्रयत्नका निरूपण करते हैं-

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ १४९ ॥
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिदर्शितम् ।

भाषा—प्रवृत्ति, निवृत्ति, तथा जीवनकारण ॥ १४९ ॥ भेदसे तीन प्रकारका प्रयत्न शास्त्रकारोंने निरूपण किया है.

प्रवृत्तिनिवृत्तिजीवनयोनियत्नभेदात् प्रयत्नस्त्रिविध इत्यर्थः ।

भाषा—अर्थात् एक प्रवृत्तिरूप प्रयत्न, दूसरा निवृत्तिरूप प्रयत्न, और तीसरा जीवनकारणप्रयत्न, इस भेदसे प्रयत्न तीन प्रकारका है.

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा ॥ १५० ॥
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ॥

भाषा—उपादेयपदार्थमें कृतिसाध्यविषयिणी इच्छा तथा कृतिसाध्यत्वविशिष्ट इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान ॥ १५० ॥ और उपादेयपदार्थके समवायिकारणका साक्षात्कार ये सभी प्रवृत्तिरूप प्रयत्नके जनक हैं.

चिकीर्षेत्यादि।मधुविषसंपृक्तान्नभोजनादौ बलवदनिष्टानुबन्धित्वेन चिकीर्षाभावान्न प्रवृत्तिरिति भावः । कृतिसाध्यताज्ञानादिवद्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानमपि स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकात्प्रवृत्तौ कारणमित्यपि वदन्ति । कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरवः।

भाषा—विषमिश्रित मधुर अन्नभोजनमें मरणरूप प्रबल अनिष्टजनकता है इसलिये वहां चिकीर्षाके न होनेसे प्रवृत्तिभी नहीं होती. यहां कई विद्वान् लोग ऐसेभी कहते हैं कि—जैसे कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान प्रवृत्तिमें स्वतंत्र कारण है; वैसेही बलवद्अनिष्टाजनकत्वप्रकारक ज्ञानभी अन्वयव्यतिरेकद्वारा प्रवृत्तिमें स्वतंत्रही कारण है. यहां (गुरु) प्रभाकर कार्यताज्ञानको प्रवर्तक मानते हैं अर्थात् प्रवृत्तिके प्रति केवल कृतिसाध्यताज्ञानको हेतुता कहते हैं.

तथाहि । ज्ञानेन प्रवृत्तौ जननीयायां चिकीर्षातिरिक्तं नापेक्षितमस्ति, सा च कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या, इच्छायाः स्वप्रकारप्रकारकधीसाध्यत्वनियमात् । चिकीर्षा हि कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा ।

भाषा--(तथाहि) " इदं मत्कृतिसाध्यम् " इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानको प्रवृत्तिजननमें चिकीर्षासे अतिरिक्त किञ्चिदपि अपेक्षित नहीं है, किन्तु मध्यमें व्यापाररूपेण केवल चिकीर्षा अपेक्षित है. वह चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानजन्या है,क्योंकि यह नियम है कि--यद्विशेष्यक यत्प्रकारक इच्छा होती है वह अवश्य तद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानजन्या होती है और कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छाहीका नाम ' चिकीर्षा ' है.

तत्र कृतिसाध्यत्वं प्रकारस्तत्प्रकारकज्ञानं चिकीर्षायां तद्द्वारा प्रवृत्तौ च हेतुः, न त्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र हेतुः, कृत्यसाध्येऽपि चन्द्रमण्डलानयनादौ प्रवृत्त्यापत्तेः ।

भाषा -(तत्र) उस इच्छामें ' कृतिसाध्यत्व ' रूप धर्मका प्रकाररूपेण भान है (तत्प्रकारक) तादृश कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान चिकीर्षामें तथा चिकीर्षाद्वारा प्रवृत्तिमें कारण है.एवम् इष्टसाधनताज्ञानको प्रवृत्तिमें जनकता नहीं है. यदि इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञानकोभी प्रवृत्तिजनकता होय तो पुरुषप्रयत्नसे असाध्य चन्द्रमण्डलके आनयनादिकोंमेंभी पुरुषकी प्रवृत्ति हुई चाहिये.

ननु कृत्यसाध्यताज्ञानं प्रतिबन्धकमिति चेत् । न । तदभावापेक्षया कृतिसाध्यताज्ञानस्य लघुत्वात् ।

भाषा--ऐसे स्थलमें यदि " चन्द्रमण्डलानयनं मत्प्रयत्नासाध्यम् " इत्याकारक ज्ञानको प्रवृत्तिके प्रति प्रतिबन्धकता कहो तो यहभी उचित नहीं,क्योंकि प्रतिबन्धकाभावमें कारणता माननेकी अपेक्षासे कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानमें कारणता माननेमें लाघव है. भाव यह कि--कृत्यसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानको प्रतिबन्धक मानकर तादृश प्रतिबन्धकाभावको अर्थात् कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानको अपने प्रवृत्तिके प्रति कारण मानना होगा इससे केवल कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानमें कारणता माननेमें लाघव है.

न च द्वयोरपि हेतुत्वम् । गौरवात् ।

शंका--कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान ये दोनोंही यदि

प्रवृत्तिके प्रति कारण मानलिये जाँय तो हानि क्या है? समाधान--यदि एकहीसे निर्वाह होसके तो दोनोंमें कारणता माननेमें व्यर्थ गौरव है.

ननु त्वन्मतेऽपि मधुविषसंपृक्तान्नभोजने चैत्यवन्दने च प्रवृत्त्यापत्तिः कार्यताज्ञानस्य सत्त्वादिति चेत्। न। स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात्।

शंका-(त्वत्) प्रभाकरके सिद्धान्तमेंभी विषमिश्रित मधुरान्नभोजनमें तथा (चत्य) बुद्धप्रतिमादिके वन्दनमें पुरुषकी प्रवृत्ति हुई चाहिये; क्योंकि–प्रवृत्तिका कारणीभूत "विषमिश्रितमधुरान्नभोजनं बुद्धप्रतिमावन्दनं वा मत्कृतिसाध्यम्" इत्याकारक ज्ञान विद्यमान है. समाधान–हमारे सिद्धान्तमें हरएक कार्य्यताज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता नहीं है किन्तु स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धानजन्य कार्यताज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता है. यहां 'स्व' पदसे प्रवर्तमान पुरुषका ग्रहण है; उसका विशेषण काम्यकर्मस्थलमें कामना है और नित्यकर्मस्थलमें तत्कालिक शौचादि है; एतादृश विशेषणवत्ताका पुरुषको जब अपनेमें (प्रतिसन्धान ज्ञान होगा उस विशेषणवत्ताज्ञानको लिङ्गविधया कार्यताज्ञानमें हेतुता है. जैसे "पाको मत्कृतिसाध्यः, मत्कृतिं विनाऽसत्त्वे सति मदिष्टसाधनत्वात्" इस अनुमानजन्य कार्य्यताज्ञान, काम्यस्थलमें प्रवृत्तिका कारणहै. एवम् "अहम् इदानींतनकृतिसाध्यसन्ध्यावन्दनके ब्राह्मणत्वे सति विहितसन्ध्याकालिकशौचादिमत्त्वात्" इस; अनुमानजन्य कार्यता ज्ञान नित्यस्थलमें प्रवृत्तिका कारण है.

काम्ये हि यागपाकादौ कामना स्वविशेषणम् । ततश्च बलवदनिष्टाननुबन्धिकाम्यसाधनताज्ञानेन कार्यताज्ञानम् । ततश्च प्रवृत्तिः । तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते तदानीं कामनायाः पुरुषविशेषणत्वाभावात् । नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणं तेन शौचादिज्ञानाधीनकृतिसाध्यताज्ञानात्तत्र प्रवृत्तिः ।

भाषा–यागपाकादि काम्य कर्म्मस्थलमें कामना (स्व) पुरुषका विशेषण है; उससे प्रबल अनिष्टासम्बन्धि इष्टसाधनता ज्ञानद्वारा कार्यताका ज्ञान होताहै उस ज्ञानसे प्रवृत्ति होताहै. तृप्तहुए पुरुषको भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती. क्योंकि उस कालमें कामना पुरुषका विशेषणीभूत नहीं है, एवं नित्यकर्मस्थलमें शौचादि पुरुषके विशेषणरूप हैं इसलिये शौचादिज्ञानाधीन कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञान होता है. उससे (तत्र)नित्यकर्ममें प्रवृत्ति होतीहै.

ननु तदपेक्षया लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताविषय-

ककार्यताज्ञानमेव हेतुरस्तु, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं चेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वम्, बलवद्द्वेषविषयदुःखाजनकत्वं वेति चेत् । न । इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोर्युगपज्ज्ञातुमशक्यत्वात् । साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधात् । असिद्धस्य हि साध्यत्वं सिद्धस्य च साधनत्वम् । न चैकमेकेनैकदा सिद्धमसिद्धं चेति ज्ञायते, तस्मात्कालभेदादुभयं ज्ञायत इति ।

नैयायिक शंका-इसकी अपेक्षासे अर्थात् बलवदनिष्टासम्बन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनताज्ञानजन्य कृतिसाध्यताज्ञानकी अपेक्षासे लाघवसे यदि बलवदनिष्टासम्बन्धि इष्टसाधनताविषयक कार्यताज्ञानको प्रवृत्तिके प्रति कारण मानलिया जाय तो हानि क्या है? यहां इष्टसाधनतामें बलवदनिष्टाननुबन्धित्व यह है कि-पाकादि इष्ट उत्पादनमें नियमसे होनेवाले धूमादिजन्य दुःखसे अधिकदुःखके जनक न होना अथवा प्रबल द्वेषके विषयमरणादिजन्य दुःखके जनक न होना. एवं कृतिसाध्यताज्ञानमें इष्टसाधनताज्ञानजन्यत्व धर्म्म माननेकी अपेक्षा इष्टसाधनताविषयकत्व धर्म्म माननेमें लाघव है, क्योंकि जन्यजनकभाव सर्वत्र अव्यवहित पूर्वोत्तरादिनियमघटित होताहै. इसलिये इसमें उपस्थितिकृत गौरव है. प्रभाकर-(इतिचेन्न) यह कथन आपका योग्य नहीं; क्योंकि इष्टसाधनत्वका तथा कृतिसाध्यत्वका पुरुषको एककालावच्छेदेन ज्ञानहोना असम्भवहै.कारणयहकि-साध्यत्व,साधनत्वयेदोनों धर्म्म परस्पर विरोधी हैं, इसलिये एककालमें इन दोनोंका होनाही असम्भव है. क्योंकि, जो अभी सिद्ध न हुआ होय. उसका नाम 'साध्य' है. ऐसे प्रथमलक्षणवृत्तिपाकादि हैं और जो किसी एकरूपसे सिद्ध होचुका होय उसका नाम 'साधन' है. ऐसे अपक्वावस्थापन्नपरिष्कृत तण्डुलादि हैं. एवं एकपुरुष एकवस्तुको एककालावच्छेदेन सिद्धासिद्ध उभयरूपसे नहीं जानसकता. भाव यह कि-यदि एक वस्तु सिद्धासिद्ध उभयभेदसे ज्ञात होगी तो उसका "असिद्धः पाकः कृतिसाध्यः सिद्धश्चेष्टसाधनम्" इत्याकारक समूहालम्बनात्मक ज्ञानही कहना होगा. सो बन नहीं सकता; क्योंकि सिद्धत्व असिद्धत्व ज्ञानोंका परस्पर विरोध है, इसलिये सिद्ध साधन उभयका कालभेदसे ज्ञान माननाही उचित है.

मैवम् । लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य तत्र हेतुत्वात् । न च साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधः । यदा कदाचित् साध्यत्वसाधनत्वयोरविरोधादेकदासाध्यत्वसाधनत्वयोश्च ज्ञानात् ।

नैयायिक-(मैवम्)यह कथन आपका युक्त नहीं है; क्योंकि लाघवसे बलवद् अनिष्टासम्बन्धि इष्टसाधनत्वविशिष्ट कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानकोही (तत्र) प्रवृत्तिमें कारणता माननी उचित है. एवं साध्यत्व साधनत्व धर्मकाभी परस्पर विरोध नहीं है. क्योंकि किसी एक कालमें होनेवाले साध्यत्वधर्मका किसी एककालमें होनेवाले साधनत्वधर्मके साथ विरोधका होना असम्भव है. भाव यह कि-यद्यपि एककालावच्छेदेन एक धर्मीमें कृतिसाध्यत्व तथा इष्टसाधनत्वरूप धर्मद्वय विरोधी है, तथापि हमको एककालीन कृतिसाध्यत्व इष्टसाधनत्व रूप धर्मके ज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता अपेक्षित नहीं है किन्तु केवल कृतिसाध्यत्व इष्टसाधनत्वरूप धर्मके ज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता अपेक्षित है वह धर्मद्वय किंचित् कालभेदसे एकधर्मीमें रहसकते हैं. एवं उनहीको विषय करनेवाला इष्टसाधनत्वविशिष्ट कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानभी होसकता है और वही प्रवृत्तिमें कारण है.

नवीनास्तु ममेदं कृतिसाध्यमिति ज्ञानं न प्रवर्तकमनागते तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । किंतु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यद्दृष्टं तादृशत्वं स्वस्य प्रतिसन्धाय तत्र प्रवर्तते, तेन 'ओदनकामस्य तत्साधनताज्ञानवतस्तदुपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यस्तादृशश्चाहम्' इति प्रतिसन्धाय पाके प्रवृत्तिरित्याहुः । तन्न । स्वकल्पितलिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्भेदादिना सम्भोगादौ च तदभावात् ।

भाषा-और प्रभाकरके अनुयायी कई एक नवीनलोग तो यह कहते हैं कि-"इदं मत्कृतिसाध्यम्" इत्याकारक ज्ञान प्रवृत्तिमें कारणही नहीं है. क्योंकि (अनागत) भाविपदार्थमें (तस्य) कृतिसाध्यत्वरूप धर्मका ज्ञान होनाही असम्भव है किन्तु जैसे पुरुषके प्रयत्नसे जिस पदार्थकी सिद्धि जिसने देखी, वह पुरुष अपनेको उस कृतप्रयत्न पुरुष जैसा मानकर उसी पदार्थकी सिद्धिमें प्रवृत्ति होता है; जैसे पाकमें पुरुषकी प्रवृत्ति " ओदनकामस्य ओदनसाधनताज्ञानवतः ओदनोपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यः तादृशश्चाहम्-अर्थात् ओदनकी कामनावाले तण्डुलादिनिष्ठ ओदनसाधनताज्ञानवाले तथा स्थालीकाष्ठादि ओदन उपकरण सामग्रीवाले पुरुषकी कृतिसे पाकसाध्य है" और "तादृशश्चाहम् अर्थात् ओदनकामनावान् ओदन साधनताज्ञानवान् तथा ओदनोपकरणवान् मैं भी हूँ" इत्याकारक ज्ञानद्वारा होती है (तन्न) यह नवीनोंका कथन सम्यक् नहीं है क्योंकि अपने संकेतद्वारा कल्पना करी लिपि आदिकी प्रवृत्तिमें तथा यौवनावा-

स्थामें कामातुर हुए पुरुषकी भोगादि प्रवृत्तिमें उक्तज्ञान नहीं है; अर्थात् "स्वसंकेतकल्पित नूतनलिपिः" पहले पुरुषान्तरकृतिसाध्या कहीं नहीं देखी. एवं यौवनावस्थापन्न कामातुर हुए पुरुषनेभी अपनेसे पहले भोग पुरुषान्तरकृतिसाध्य कहीं नहीं देखा अर्थात् इत्यादिस्थलोंमें नवीन कल्पित कार्यकारणभावका व्यतिरेक व्यभिचार है, इसलिये उसके सिद्धांतसे प्रवृत्ति नहीं हुई चाहिये, परंतु होती है, इसलिये नवीनकी कल्पना सम्यक् नहीं है।

इदं तु बोध्यम् । इदानीन्तनेष्टसाधनत्वादिज्ञानं प्रवर्तकं तेन भावियौवराज्ये बालस्य न प्रवृत्तिस्तदानीं कृतिसाध्यत्वाज्ञानात् ।

भाषा-(इदंतु बोध्यम्)इतना यहां औरभी अधिक जानने योग्य है कि-वर्तमानकालिक इष्टसाधनत्वादि ज्ञानको प्रवृत्तिमें कारणता है; इसलिये (भावि) होनेवाले यौवराज्यमें बालराजपुत्रकी प्रवृत्ति नहीं होसकती क्योंकि उस कालमें उसको कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान नहीं है।

एवं तृप्तो भोजने न प्रवर्तते तदानीमिष्टसाधनत्वाज्ञानात् । प्रवर्तते च रोषदूषितचित्तो विषादिभक्षणे तदानीं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाज्ञानात् ।

भाषा-एवं तृप्तपुरुष भोजन करनेमें प्रवृत्त नहीं होता,क्योंकि उस कालमें उसको इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान नहीं है और क्रोधाक्रान्त होकर पुरुष विषादिभक्षणमें भी प्रवृत्त होजाता है, क्योंकि उस कालमें उसको विषमें बलवद्अनिष्टासम्बन्धित्व ज्ञान होता है।

न चास्तिकस्यागम्यागमनशत्रुवधादिप्रवृत्तौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वबुद्धिर्नरकसाधनत्वज्ञानादिति वाच्यम् । उत्कटरागादिना नरकसाधनताधीतिरोधानात् ।

शंका-आस्तिक पुरुषको अगम्या परस्त्री आदिके गमनमें तथा शत्रुवधादिकार्योंमें प्रवृत्तिसे प्रथम बलवद्अनिष्टासम्बन्धित्वज्ञान कैसे होता है?क्योंकि उसको तो बलवत् जो नरकरूपअनिष्ट तत्साधनत्वज्ञान अगम्यागमनादि कुकर्मोंमें सदा बनारहताहै. समाधान-उस कालमें उसका अगम्यागमनादिजन्य सुखमें अधिक राग होता है उससे उसकी अगम्यागमनादिमें नरकसाधनताबुद्धिका तिरोधान होजाता है अर्थात् अगम्यागमनादिजन्य सुखमें उत्कट प्रेमके होनेसे अगम्यागमनादिजन्य नरकमें प्रबल द्वेष उत्पन्न नहीं होता।

वृष्ट्यादौ तु कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षाप्रवृत्ती, किंचि-

ष्टसाधनताज्ञानादिच्छामात्रं कृतिश्च प्रवृत्तिरूपा बोध्या। तेन जीवनयोनियत्नसाध्ये प्राणपञ्चकसञ्चारे न प्रवृत्तिः। इत्थंच प्रवर्त्तकत्वानुरोधाद्विधेरपीष्टसाधनतादिकमेवार्थः।

भाषा-एवं वृष्टिआदि असाध्य कार्योंमें पुरुषको स्वकृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान नहीं होता; इसलिये वृष्टिमें पुरुषकी चिकीर्षा तथा प्रवृत्ति नहीं होती किंतु केवल इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञानसे "वृष्टिर्भवेत्" इत्याकारक इच्छामात्र होती है. "कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्त्तकम्" इस कथनमें 'कृति' पदसे प्रवृत्तिरूप कृतिका ग्रहण है; इसलिये पुरुषके जीवनका कारणीभूत जो विलक्षण प्रयत्न उस प्रयत्नसाध्य प्राणापानादि प्राणपञ्चक संचारमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं है. (इत्थञ्च) इस पूर्वोक्त विचारसे प्रवृत्तिके प्रति इष्टसाधनत्वादि ज्ञानकी हेतुता सिद्ध हुई तो 'यजेत' इत्यादि विधिवाक्यभी पुरुषकी प्रवृत्तिहीके बोधक हैं अर्थात् प्रवर्तकत्वानुरोधसे विधिवाक्योंका भी बलवद् अनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वविशिष्ट: कृतिसाध्यत्वरूप ही अर्थ मानना उचित है।

इत्थं च 'विश्वजिता यजेत' इत्यादौ यत्र फलं न श्रूयते तत्रापि स्वर्गः फलं कल्प्यते।

भाषा-(इत्थञ्च) इस रीतिसे 'यजेत' इत्यादि विधिवाक्योंका इष्टसाधनत्वादिरूप अर्थ माना तो "विश्वजिता यजेत" इत्यादि जिन वाक्योंमें फलविशेषका श्रवण नहीं है उन सबमें स्वर्गरूप फलकी कल्पना होसकती है।

नन्वहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादावेष्टानुत्पत्तेः प्रवृत्तिः कथम्, न चार्थवादिकं ब्रह्मलोकादि प्रत्यवायाभावो वा फलमिति वाच्यम्। तथा सति काम्यत्वे नित्यत्वहान्यापत्तेः, कामनाभावेऽकरणापत्तेश्च। इत्थंच यत्र फलश्रुतिस्तत्रार्थवादमात्रमिति चेत्। न।

शंका-" अहरहः सन्ध्यामुपासीत"-अर्थात् द्विजातिपुरुष प्रतिदिन सन्ध्योपासन करे इत्यादि विधिवाक्यबोधित सन्ध्यावन्दनादिसे कोई फलविशेष नहीं है, इस लियें ऐसे स्थलमें इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान प्रवर्तक नहीं है और न ऐसे स्थलमें विधिवाक्यका इष्टसाधनत्वादि अर्थ माननाही उचित है; क्योंकि कोई इष्ट उत्पन्न नहीं होता तौ फिर प्रवृत्ति कैसे होती है? यदि कहो कि "सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः॥ विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्" इत्यादि अर्थवादशास्त्रबोधित ब्रह्मलोकादि अथवा (प्रत्यवाय) पापोंका विनाश होना सन्ध्यादि नित्यकर्मका फल है तो इसको नित्यकर्म नहीं कहना चाहिये किन्तु काम्यकर्म कहना

चाहिये और जब पुरुषकी ब्रह्मलोक गमनकी या पापनिवारणकी कामना न होय तो पुरुषको यह सन्ध्यावन्दनादि कर्म करनाभी नहीं चाहिये (इत्यश्च) इस रीतिसें जहां नित्यकर्मका अर्थवादादिवाक्योंसे फलश्रवण है वहां अर्थवादवाक्यका केवल नित्यकर्मकी प्रशंसामें तात्पर्य कल्पना करनाही उचित है. एवं संध्यावन्दनादिकर्मर्में पुरुषकी कैसे प्रवृत्ति है ?

ग्रहणश्राद्धादौ नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव (भरणीश्राद्धे काम्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव,) नित्यत्वकाम्यत्वयोरप्यविरोधात् ।

समाधान-ग्रहणकालिक श्राद्धादिकर्ममें जैसे मीमांसक लोगोंने नित्यत्व तथा नैमित्तिकत्व उभय धर्म माने हैं अर्थात् ग्रहणकालिक श्राद्धादि कर्मको जैसे नित्यकर्मभी माना है और नैमित्तिकभी माना है एवं भरणीनक्षत्रकालिक श्राद्धको जैसे काम्यकर्म माना है और नैमित्तिकभी माना है वैसेंही संध्यावन्दनादिकोभी नित्यकर्म मानके काम्यकर्मभी मानलिया जाय तो नित्यत्व तथा काम्यत्वरूप धर्मद्वयका परस्पर विरोध नहीं है ।

न च कामनाभावेऽकरणापत्तिः । त्रिकालस्तवपाठादाविव कामनासद्भावस्यैव कल्पनात् ।

शंका-यदि पुरुषको कुछ कामना न होय तो सन्ध्यादि नित्यकर्म नहीं भी करने चाहिये. समाधान-त्रिकाल स्तुतिपाठादिकी तरह सन्ध्यावन्दनादिमेंभी कामनासद्भाव रहताही है अर्थात् जैसे विष्णुसहस्रनामस्तोत्रादि पाठ विधिविहित काम्य कर्म नहीं भी है तौभी फलकामनासे पुरुषोंकी स्तोत्रपाठोंमें प्रवृत्ति होती है वैसेही संध्यावन्दनादि कर्मस्थलमें भी फलकामना अवश्य रहतीही है ।

ननु वेदबोधितकार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिः सम्भवतीति चेत् । न ।

१ यहां यह भाव है कि-नित्यश्राद्ध अग्निष्वात्ताआदि षड्दैवत होता है और ग्रहणादि नैमित्तिकभी पूर्वोक्त षड्दैवतही होता है. एवं ग्रहणादिविशेषकालमें एकरूपसे श्राद्धरूप कर्मद्वयकी प्राप्ति हुई तो "नित्यश्राद्धं न कुर्वीत प्रसङ्गाद्यत्र सिद्ध्यति ॥ श्राद्धान्तरे कृतेऽन्यत्र नित्यत्वात्तन्न हापयेत्" ॥ १ ॥ इस मात्स्यवचनसे नित्यत्व तथा नैमित्तिकत्वरूप धर्मद्वयका समावेश एकही क्रियामें जैसे प्राप्त होता है ॥ एवं "भरणी पितृपक्षे तु महती परिकीर्तिता ॥ अस्यां श्राद्धं कृतं येन स गयाश्राद्धकृद्भवेत्" ॥ १ ॥ इस मात्स्यवचनसे भरणीश्राद्धमें नैमित्तिकत्व धर्म तो स्पष्टही है परन्तु गयाश्राद्धवत् कथनसे उसीमें काम्यत्वधर्मका समावेशभी हुआ; क्योंकि गयाश्राद्धकरनेवालेको "उद्धरेत्सप्त गोत्राणि कुलमेकोत्तरं शतम्" इस वचनसे एकोत्तरशत कुलोंका उद्धारक लिखा है वैसेही संध्यावन्दनादि कर्मोंमेंभी नित्यत्व तथा काम्यत्वरूप धर्मद्वयका समावेश विरुद्ध नहीं है.

स्वेष्टसाधनत्वमविज्ञाय तादृशकार्यताज्ञानसहस्रेणापि प्रवृत्ते-रसम्भवात् ।

शंका--वेदप्रतिपादित कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञानसेही सन्ध्यावन्दनादिमें पुरुषकी प्रवृत्ति मान लीजाय तो दोष क्या है ? समाधान--पुरूषको जबतक स्वइष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान न होय तबतक कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान सहस्रके होनेसेभी प्रवृत्तिका होना असम्भव है.

यदपि पण्डापूर्वं फलमिति, तदपि न । कामनाभावेऽकरणतापत्तेस्तौल्यात् । कामनाकल्पने स्वार्थवादिकफलमेव रात्रिसत्रन्यायात् कल्प्यताम्, अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तेनानुत्पत्तिमेवान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।

प्रभाकरशंका--सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मोंका (पण्डापूर्व) फलविशेषानाधायक अपूर्वही फलरूपेण मानलिया जाय तो दोष क्या है ? समाधान--पण्डापूर्वरूप फलकी कामना जिसको न होगी उसको सन्ध्यावन्दनादि नहीं करने चाहिये. यह दोष आपकोभी हमारे तुल्यही हुआ और यदि पण्डापूर्वकी कामना कल्पना करो तो इससे तो रात्रिसत्रन्यायसे अर्थवादवाक्यप्रतिपादित फलकी कल्पना करनीही उचित है अर्थात् जैसे रात्रिस्वरूप कर्मका कोई फल विशेष श्रवण नहीं और उस प्रकरणमें अत्यन्त अश्रुत स्वर्गरूप फलकी कल्पना करनेंमेंभी गौरव है इसलिये उसी कर्मके प्रशंसक " प्रतितिष्ठन्ति इह वा ये " इत्यादि अर्थवादवाक्यसे " रात्रिसत्ररूप कर्मकर्ता पुरुषको इसी लोकमें प्रतिष्ठा होती है"इत्याकारक फलकी कल्पना मीमांसकोंने करी है वैसेही सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म्मकाभी ' सन्ध्यामुपासते ये तु इत्यादि अर्थवादबोधित ब्रह्मलोकादिप्राप्तिरूप फलही कल्पना करना उचित है' अन्यथा सन्ध्यावन्दनादि करनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं हुई चाहिये. यह दोष तादवस्थ्य रहेगा, अर्थवादिक फल कल्पनेमें लाघव है (तेन) इसीलिये कईलोग (प्रत्यवाय) पापोंका न उत्पन्न होनाही सन्ध्यावन्दनादिका फल मानते हैं.

एवं " सन्ध्यामुपासते य तु सततं शंसितव्रताः ॥विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्,, । एवं" दद्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्,, इत्यादिकमेव फलमस्तु ।

भाषा–एवं " प्रशंसितव्रतवाले पुरुष जो प्रतिदिन सन्ध्या उपासन करते हैं वे विगतपाप होकर सुखरूप ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं"इत्यादि अर्थवादबोधक वाक्यों-

सेभी सन्ध्यावन्दनादिका फल प्रतीत होताहै. एवं " पितृगण हमारे पर प्रेम रक्खें इस मनोरथसे पुरुष पितृगणके उद्देश्यसे प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक दान किया करे " इत्यादि अर्थकवचनबोधित पितृप्रीतिरूपही पितृश्राद्धादि नित्यकर्मका फल है.

न च पितृप्रीतिः कथं फलं व्यधिकरणत्वादिति वाच्यम् । गया-श्राद्धादाविवोद्देश्यत्वसम्बन्धेनैव फलजनकत्वस्य क्वाचित्कल्प-नात् अतएवोक्तं शास्त्रदर्शितफलमनुष्ठानकर्तरीत्युत्सर्ग इति ।

शंका-क्रियाका फल नियमसे क्रियाके कर्ताहीको हुआ करता है.एवं पितृश्राद्ध-का पितृप्रेमहीरूप फल नहीं बन सकता क्योंकि क्रियाके साथ उसका समानाधिक-रण नहीं है अर्थात् श्राद्धक्रियाका कर्ता चैत्र और प्रीतिरूप फल उसके पितृगणमें मानना अनुभवविरुद्ध है. समाधान--गयाश्राद्धकी तरह कई स्थलोंमें उद्देश्यतासम्बन्धसेभी फलकी कल्पना होसकती है इसलिये " शास्त्रबोधित क्रियाका फल अनुष्ठानकर्ताहीको होताहै " इस प्रवादको मीमांसक लोगोंने (उत्सर्ग) प्रायोवाद माना है अर्थात् अनुष्ठानकर्ताको तो होताही है, परन्तु जहां जिसके उद्देशसे क्रिया करी जावे वहां उसकोभी फल अवश्य होता है.

पितृणां मुक्तत्वे तु स्वस्य स्वर्गफलम्, यावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठा-नस्य सामान्यतस्वर्गफलकल्पनात् । पण्डापूर्वार्थं प्रवृत्तिश्च न सम्भवति । न हि तत्सुखदुःखाभाववत् स्वतः पुरुषार्थो न वा तत्साधनं प्रत्यवायानुत्पत्तौ कथं प्रवृत्तिरिति चेत् ।

भाषा-और जिन पितृगणके निमित्त श्राद्धादिक्रिया करी है यदि वे मुक्त होगए हों तो उस क्रियाकाभी स्वर्गादिफल क्रियानुष्ठानकर्ताहीको होता है, क्योंकि यावत् नित्यनैमित्तिकविहित. अनुष्ठानको सामान्यरूपसे स्वर्गफलजनकता शास्त्रसिद्ध है और फलविशेषानाधायक पण्डापूर्वके उद्देश्यसे तो पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होसकती है, क्योंकि पुरुषकी प्रवृत्तिका उद्देश्य सुख है या दुःखाभाव है या इन दोनोंके साधन हैं और पण्डापूर्व स्वयं सुखरूप नहीं है तथा दुःखाभावरूप नहीं है तथा इन दोनों-का साधनभी नहीं है. शंका-आपने पूर्वनित्यकर्मका फल प्रत्यवायाभाव माना है वह प्रत्यवायाभावभी पण्डापूर्वकी तरह स्वयं सुख नहीं, दुःखाभाव नहीं और इन दोनोंका साधन भी नहीं तो उसके उद्देश्यसे सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्ममें प्रवृत्तिका संभव कैसे होसकता है ?

इत्थम् । यथा । हि नित्ये कृते प्रत्यवायाभावस्तिष्ठति तदभावे तदभावः। एवं प्रत्यवायाभावसत्त्वे दुःखप्रागभावसत्त्वं वद-

भावे तदभाव इति योगक्षेमसाधारणकारणताया दुःखप्रागभावं प्रत्यपि सुवचत्वात् । एवमेव प्रायश्चित्तस्यापि दुःखप्रागभावहेतुत्वमिति ।

समाधान-(इत्थम्) जैसे सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करनेवाले पुरुषमें प्रत्यवायका अभाव रहता है और न करनेवालेमें (तदभाव) अर्थात् प्रत्यवायाभावका अभाव प्रत्यवाय रहेगा वैसेही प्रत्यवायाभावकी दुःखप्रागभावके साथ व्याप्ति है अर्थात् नित्यकर्मद्वारा जिस पुरुषमें प्रत्यवायाभाव रहेगा उसमें दुःखप्रागभावभी रहेगा और जिसमें प्रत्यवायाभाव नहीं रहेगा उसमें (तदभाव) अर्थात् दुःखप्रागभावभी नहीं रहेगा किन्तु दुःखप्रागभावाभाव अर्थात् दुःखही रहेगा इस रीतिसे योगक्षेम साधारण प्रवृत्तिकारणता दुःखप्रागभावमेंभी बनसकती है एवं प्रायश्चित्तकर्मकोभी योगक्षेम साधारणही दुःखप्रागभाव हेतुता है अर्थात् प्रायश्चित्तात्मक कर्म करणप्रवृत्तिमें उद्देश्य विधया दुःखप्रागभावही कारण है.

ननु न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र विध्यर्थे कथं नञर्थान्वयः, इष्टसाधनत्वाभावस्य कृतिसाध्यत्वाभावस्य च बोधयितुमशक्यत्वादिति चेत् । न ।

शंका-" न कलञ्जं भक्षयेत् " इत्यादि विधिवाक्योंमें विध्यर्थ नञर्थका परस्पर कैसे अन्वय होता है ? क्योंकि आपने पूर्व इष्टसाधनत्वादि विध्यर्थ माना है और नञ्का अभावरूप अर्थ स्पष्टही है. एवं विध्यर्थके साथ यदि नञर्थका अन्वय होय तो " न कलञ्जम् " इत्यादि वाक्यसे ' कलञ्जभक्षणं पुरुषेष्टसाधनत्वाभाववत् कृतिसाध्यत्वाभाववच्च ' यही बोध होगा सो इसका होना सम्भव नहीं क्योंकि ' कलञ्ज ' नाम शुष्कमांस विशेषका है उसके भक्षणमें " कलञ्जभक्षणमिष्टसाधनत्वाभाववत्कृतिसाध्यत्वाभाववच्च " इत्याकारक बोध बाधित है किन्तु पुरुषको साधारणरूपेण उभयप्रकारक बोध कञ्जल भक्षणमें रहताही है इसलिये विध्यर्थके साथ अन्वित हुआ नञर्थ इष्टसाधनत्वाभावके तथा कृतिसाध्यत्वाभावके बोधमें समर्थ नहीं हो सकता.

---

१ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तके संरक्षणका नाम ' क्षेम ' है. प्रत्यवायाभाव स्वतः पुरुषार्थ नहीं, पुरुषार्थसाधनभी नहीं; इसलिये उसमें प्रवृत्तिकारणता प्राप्त न थी परन्तु दुःखप्रागभावके साथ उसकी व्याप्ति बनाकर उसमें युक्तिसे प्रवृत्तिकारणता प्राप्त करी यही 'योग' है. एवं इष्टसाधनताज्ञानको प्रवृत्तिकारणता सिद्धही थी परन्तु प्रभाकरके कुतर्क जालको निरासकर उसका संरक्षण किया यही ' क्षेम ' है, इस रीतिसे योगक्षेम साधारण सिद्ध हुई प्रवृत्तिकारणता दुःखप्रागभावमेंभी सुवच बनसकती.

तत्र बाधादिष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वं च न विध्यर्थः, किन्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्रं तदभावश्च नञा बोध्यते। अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं विध्यर्थः तदभावश्च नञा बोध्यमानो विशिष्टाभावो विशेष्यवति विशेषणाभावे विश्राम्यति।

समाधान-ऐसे स्थलमें यह अर्थ बाधित है इसलिये ऐसे स्थलमें इष्टसाधनत्व या कृतिसाध्यत्व विध्यर्थ नहीं है किन्तु ऐसे स्थलमें केवल बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्रही विध्यर्थ है उस बलवदनिष्टाननुबन्धित्वका अभाव नञ्से बोधित होता है. भाव यह कि-इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व इस भेदसे विध्यर्थके तीन अंश हैं उनमें विधिद्वारा किसी स्थलमें किसी अंशका बोध होता है और किसी स्थलमें किसीका. एवं जहां जिस अंशका बोध होता है वहां उसी अंशका अभाव नञ्बोधन करता है प्रकृतमें बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्र विध्यर्थ है उसीका अभाव 'कलञ्जभक्षणं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभाववत्' इत्यादि अनुभवसे नञ्बोधन करता है अथवा लाघवसे बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्वप्रकारक कृतिसाध्यत्वरूपही विधिका अर्थ मानना उचित है एतादृश विशेषण विशिष्ट विध्यर्थका अभाव नञ्द्वारा बोधित हुआ विशेष्यवाले विशेषणाभावमें विश्रान्त होता है अर्थात् इष्टसाधनत्वादिवाले जो कलञ्जभक्षण आदि उनमें विशिष्टाभाव बोध्यमान हुआ बलवदनिष्टाननुबंधित्वाभावमें पर्यवसान पाता है. भाव यह कि-ऐसे स्थलमें विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावका लाभ होता है.

ननु 'श्येनेनाभिचरन् यजन्त' इत्यत्र कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमर्थः,श्येनस्य मरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेन नरकसाधनत्वात्। न च वैधत्वान्न निषेध इति वाच्यम्,अभिचारे प्रायश्चित्तोपदेशात्। न च मरणानुकूलव्यापारमात्रं यदि हिंसा तदा खड्गकारस्य कूपकर्तुश्च हिंसकत्वापत्तिः, गललग्नान्नभक्षणजन्यमरणे स्वात्मवधित्वापत्तिश्चेति वाच्यम्, मरणोद्देश्यकत्वस्यापि विशेषणत्वात्, अन्योद्देश्यकक्षिप्तनाराचहतब्राह्मणस्य तु वाचनिकं प्रायश्चित्तमिति चेत्। न।

शंका-आपने पूर्वोक्त रीतिसे विधिका अर्थ विशिष्ट माना है परन्तु श्येन नामक कर्ममें 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्व' रूप विशेषण नहीं है; क्योंकि 'श्येनेनाभिचरन्

यजेत ' इस विधिवाक्यमें ' श्येन ' नाम कर्मविशेषका है. ' अभिचरन् ' नाम शत्रुमरणकी कामना करते हुएका है. समुदितार्थ यह हुआ कि–शत्रुमरणकी कामना करता हुआ श्येन नामक कर्मसे यजन करे, एवं ऐसे स्थलमें विध्यर्थका बलवद्-निष्टाननुबन्धित्वरूप विशेषण नहीं है; क्योंकि ' श्येन ' नामक कर्मको शत्रुमारणानुकूल व्यापारात्मक होनेसे हिंसारूपता है और हिंसा नरकका साधन होती है और यदि कहो, कि विधिविहित हिंसा दोषकर नहीं होती क्योंकि हिंसाका निषेधक " मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि " यह सामान्य वाक्य है. इसलिये विशेषविधिवाक्यविहित यज्ञीय हिंसाको छोडकर प्रवृत्त होता है तो यह कथन भी युक्त नहीं क्योंकि " अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति " इत्यादिशास्त्रसे (अभिचार) मारणादिक्रियाके प्रायश्चित्तका उपदेश है. अर्थात् यदि यह क्रिया पापजनक न होय तो इसके उद्देश्यसे प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं हुआ चाहिये और यदि कहो कि साक्षात् परम्परासाधारण मारणानुकूलव्यापारमात्रका नाम यदि ' हिंसा ' होय (खड्ग) तलवार बनानेवालेको तथा कूप लगवानेवालेको भी हिंसाका दोष लगना चाहिये; क्योंकि तलवारसे भी परम्परा कई जीव मारे जाते हैं और कूपमें भी कई जीव मरजाते हैं. एवं यदि कोई भोजनकरणकालमें गलेमें अन्न रुक जानेसे मरजाय तो उसको आत्महत्याका पाप लगना चाहिये; इसलिये साक्षात् परम्परासाधारण मारणानुकूल व्यापारमात्रका नाम ' हिंसा ' नहीं, किन्तु केवल साक्षात् मारणानुकूलव्यापारका नाम ' हिंसा ' है और श्येनकर्म साक्षात् मारणानुकूलव्यापार नहीं है इसलिये " मा हिंस्यात् " इत्यादि निषेधका अविषय होनेसे बलवद्-निष्टका अननुबन्धि है तो यह कथन भी युक्त नहीं; क्योंकि मरणोद्देश्यकत्वरूप धर्मको भी क्रियाकी विशेषणता है अर्थात् शत्रुमरणोद्देशन विधान किया ' श्येन ' नामक कर्म हिंसारूपही है और यदि कहो कि मरणोद्देश्यकी क्रियाही यदि हिंसारूप होय तो जहां मृगादिके उद्देशसे बाण चलाया लगा ब्राह्मणको तो उसके मरनेका प्रायश्चित नहीं हुआ चाहिये क्योंकि ऐसे स्थलमें ब्राह्मणहिंसारूप क्रियामें ब्राह्मणोद्देशकत्वधर्म नहीं है तो यह कथनभी युक्त नहीं क्योंकि ऐसे स्थलमें अज्ञानकृत ब्राह्मणवधका तत्तद् वचनविशेषोंद्वारा प्रायश्चित्त ऋषिलोगोंने विधान किया है और ज्ञानकृत ब्राह्मणवधका तो " कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते " इत्यादि मनुवाक्यसे प्रायश्चित्तही नहीं है. भाव यह कि–मरणोद्देश्यकत्वरूप विशेषण हिंसारूप क्रियामें देना व्यर्थ नहीं है.

श्येनवारणायादृष्टाद्वारकत्वेन विशेषणात् । अतएव काशीमरणार्थं कृतशिवपूजादेरपि न च हिंसात्वम् ।

---

१ शिरः कपाली ध्वजवान् भिक्षाशी कर्म वेदयन् ॥ ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक् शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥ इति याज्ञवल्क्यः ।

समाधान-' श्येन ' नामक कर्ममें हिंसात्वधर्मके वारणार्थ हम अदृष्टाद्वारकत्वेन विशेषण देते हैं अर्थात् ' अदृष्टाद्वारकं यद्वैरिमरणानुकूलं कर्म तद्धिंसा ' और श्येनकर्म तो अदृष्टद्वारा शत्रुनाशक है, इसलिये हिंसा नहीं है अदृष्टद्वारक शत्रुमरणानुकूल क्रियाहीका नाम हिंसा है. (अतएव) इसलिये जिस पुरुषने काशीमरणके उद्देश्यसे शंकरार्चनादि क्रिया करी है उस क्रियाको भी हिंसात्व नहीं है.

न च साक्षान्मरणजनकस्यैव हि हिंसात्वं श्येनस्तु न तथा किंतु तज्जन्यापूर्वमिति वाच्यम् । खड्गघातेन ब्राह्मणे व्रणपाकपरम्परया मृते हिंसात्वानापत्तेः ।

शंका-अदृष्टद्वारक मरणजनकत्वकी अपेक्षा साक्षात् मरणजनकत्वरूप क्रियामें विशेषण देनेमें लाघव है अर्थात् साक्षात् मरणजनिका क्रियाका नाम ' हिंसा ' है. ऐसे कथनसे शंकरार्चनादि क्रियाका तथा श्येनादिक्रियाकाभी वारण हो सकता है क्योंकि श्येन शंकरार्चनादि क्रिया साक्षात् मरणजनिका नहीं है किन्तु स्वजन्य अदृष्टद्वारा है. समाधान-साक्षात् मरणजनिका क्रियाका नाम ' हिंसा ' नहीं कहसकते, क्योंकि यदि ऐसा होय तो जहां प्रथम अल्प खड्गपरिहारसे ब्राह्मणको व्रण हुआ है पीछे उसी व्रणपाकद्वारा उस ब्राह्मणका मरण हुआ. वहां वह मरणरूपा क्रिया हिंसात्मिका नहीं हुई चाहिये; पतन्तु उस क्रियाका हिंसात्मक होना अनुभव सिद्ध है, इसलिये ऐसी हिंसाके संग्रहार्थ तथा श्येनादि क्रियाके वारणार्थ अदृष्टाद्वारक मरणजनिका क्रियाहीका नाम ' हिंसा ' कहना उचित है.

केचित्तु श्येनस्य हिंसा फलं नतु मरणम्, तेन श्येनजन्यखड्गाघातादिरूपा हिंसाऽभिचारपदार्थस्तस्य च पापजनकत्वमतः श्येनस्य वैधत्वात् पापाजनकत्वेऽप्यग्रिमपापं प्रतिसन्धाय सन्तो न प्रवर्तन्त इत्याहुः ।

भाषा-और कई एक विद्वान् लोग तो यह कहते हैं कि-' श्येन ' नामक कर्मका साक्षात् शत्रुमरणफलक व्यापारही फल है अर्थात् श्येन कर्म अपने कर्ताके शत्रुपर खड्गाघातादि करवा देता है. एवं खड्गाघातादि मात्र श्येन क्रियाका फल है किन्तु शत्रुमरणरूप फल नहीं है. इसलिये श्येन क्रियाजन्य खड्गाघातादिरूपा हिंसाहीका नाम ' अभिचार ' है और उसी खड्गाघातादिरूप अभिचार पदार्थको पापजनकता है अर्थात् श्येन क्रियाको साक्षात् पापजनकता नहीं है. एवं श्येन क्रियाको विधिविहित होनेसे यद्यपि साक्षात् पापजनकता नहीं है यद्यपि परम्परा उत्पन्न होनेवाले भाविपापको चिन्तन कर सत्पुरुष श्येनादिक्रिया करनेमें भी प्रवृत्त नहीं होते.

आचार्यास्तु आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः 'पाकं कुर्याः' इत्यादावाज्ञादिरूपेच्छावाचित्ववल्लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वं लाघवात् । एवं च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ यागः स्वर्गकामकृतिसाध्यतयाऽऽप्तेष्ट इत्यर्थः ।

भाषा--और उदयनाचार्य तो आप्तवक्ता के अभिप्रायको विध्यर्थ मानते हैं जैसे "पाकं कुर्याः" इत्यादि वाक्यमें लिङ्को आज्ञादिरूप इच्छावाचकत्व है वैसेही लाघवसे सर्वत्र लिङ्मात्रको इच्छावाचकत्व है. एवं "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि स्थलमें योग स्वर्गकी कामनावाले पुरुषकी कृतिसाध्यतारूपेण आप्तवक्ताकी इच्छाका विषय है ऐसा वाक्यार्थबोध होता है.

ततश्चाप्तेष्टत्वेनेष्टसाधनत्वादिकमनुमाय प्रवर्तते । कलञ्जभक्षणादौ तदभावान्न प्रवर्तते ।

भाषा-(ततश्च) उस बोधानन्तर अधिकारी पुरुषकी आप्त इच्छा विषयत्वरूप हेतुसे स्वइष्टसाधनताके अनुमानद्वारा योगादि क्रियामें प्रवृत्ति होती है अर्थात् विधिवाक्यार्थबोध पीछे अधिकारी पुरुष "योगो मम स्वर्गकामस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यतया आप्तेनेष्यमाणत्वात् मन्मात्रकृतिसाध्यतयेष्यमाणमद्भोजनवत्" इत्याकरक अनुमानद्वारा योगादिक्रियामें प्रवृत्त होता है. एवं कलञ्जादिके भक्षणमें अधिकारी पुरुषको आप्त इष्टत्वाभावप्रयुक्तस्वेष्टसाधनत्वज्ञानकाभी अभाव है अर्थात् ऐसे स्थलमें 'नञ्' से निषिध्यमाण आप्ताभिप्रायरूप विध्यर्थ अधिकारीको स्वेष्टसाधनताका अनुमापकभी नहीं होता.

यस्तु वेदे पौरुषेयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानम् ।

शंका-वेदगत लिङादिद्वारा किसकी इच्छाका बोध होगा ? क्योंकि वह आपौरुषेय वाक्य है. उसका आद्यवक्ता कोई नहीं है. समाधान-जो पुरुष वेदको पौरुषेय अर्थात् पुरुषप्रणीत नहीं मानता है "तं प्रति तावत् कुमार्य्याः पुंयोगे गर्भ इव श्रुतिकुमार्य्या पुंयोगे विधिरेव मानम्" अर्थात् जैसे कुमारीकन्याको गर्भवती देखकर उसके पुरुषसंसर्गका अनुमान होता है वैसेही वेदवचनोंको विधिगर्भित देखकर पुरुषसंसर्गका अनुमान है भाव यह कि-वक्तासे भिन्न इच्छाके बोधनमें विधिका सामर्थ्यही नहीं है इसलिये विधिवाक्यही वेदोच्चारक ईश्वरमें प्रमाणरूप है.

न च कर्त्रस्मरणं बाधकम् । कपिलकणादादिकमारभ्याद्यपर्यन्तं कर्तृस्मरणस्यैव प्रतीयमानत्वात् । अन्यथा स्मृतीनामप्यकर्तृकत्वापत्तेः । तत्रैव कर्तृस्मरणमस्तीति चेद्वेदेऽपि 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादि कर्तृस्मरणमस्त्येव । एवं "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

शंका-वेदका कोई कर्त्ता स्मृतियोंद्वारा बोधन नहीं होता इसलिये "वेदोऽपौरुषेयः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् " यह अनुमान आपके पक्षका बाधक है. समा०-कपिल कणादि गौतमादि महर्षियोंने तथा उनके शिष्यप्रशिष्योंने अद्यावधि वेदके कर्ता ईश्वरका स्मरण किया है अर्थात् स्वस्वनिर्मित पुस्तकोंमें लिखा है. यह वार्ता प्रत्येक विद्वान्के अनुभवसिद्ध है. (अन्यथा) जो वेदको पुरुषविशेषप्रणीत नहीं मानता उसकोभी स्मृतियांभी वैसेही माननी चाहिये अर्थात् पुरुषप्रणीत नहीं माननी चाहिये. यदि कहो कि स्मृतियोंमें स्मृतिकर्ताओंका तहां तहां स्थलविशेषमें स्मरण है अर्थात् उनके नामका निर्देश है तो वेदमेंभी "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ॥ छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥ यजुः अ० ३१ मं० ७ " इत्यादि मंत्रोंमें तहां २ स्थलविशेषमें ईश्वररूप कर्ताका स्मरण विद्यमान है. एवं प्रतिमन्वन्तर यह श्रुति अन्यरूपेण विधान करीजाती है इत्याद्यार्थबोधक स्मृतिवाक्य भी वेदके पौरुषेय होनेमें प्रमाण है.

"स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ॥ शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः" इति तु वेदस्य स्तुतिमात्रम् ।

शंका-महाभारतमें व्यासदेवने इस वेदभगवान्को (स्वयम्भू) नित्य कहा है और कृष्णदेव शिवादिसे लेकर अग्निवाय्वादि ऋषियों पर्य्यन्त सभी इसके स्मरणकर्ता माने हैं किन्तु रचयिता नहीं माने; इसलिये इस भारतवचनसे वेद नित्य अर्थात् अपौरुषेय प्रतीत होता है. समा०-यह भारतवचन केवल वेदकी प्रशंसा मात्र है और वेदको पौरुषेयत्व पूर्वोक्तप्रमाणोंसे सिद्ध है.

न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसंभवादप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम्, नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात् । अत एव पुरुषान्तरस्य भ्रमादिसम्भवान्न कपिलादेः कर्तृत्वं वेदस्य ।

शंका-वेदके पौरुषेय माननेमें वेदमें भ्रमादिका अर्थात् भ्रान्तप्रोक्तिका सम्भवभी हो सकता है क्योंकिपुरुषमें भ्रमप्रमादादिदोष अवश्य रहते है. एवं पुरुषवाक्यज्ञानसे

वेदको अप्रामाण्यापत्ति होगी. समाधान–वेदप्रोक्ता पुरुष ईश्वर नित्यसर्वज्ञ है इसालिये निर्दोष है. एवं नित्य सर्वज्ञ पुरुषप्रणीत होनेसे वेदभी निर्दोष है; सिवाय ईश्वरके और कोई सर्वज्ञ नहीं है. (अतएव) इसीलिये कपिलादि ऋषियोंकोभी वेदके कर्ता मानना उचित नहीं; क्योंकि विना ईश्वरके पुरुषान्तरमें भ्रमादिका सम्भव होसकताहै.

किंच वर्णानामेवानित्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् सुतरां तत्सन्दर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति संक्षेपः ॥ १५० ॥

भाषा–(किञ्च) आगे कथनीय युक्तिसे हमने अकारादि वर्णोंहीको अनित्य सिद्ध करना है तो वर्णसन्दर्भ अर्थात् वर्णगत आनुपूर्वी विशेषरूप वेदभी स्वयं अनित्य सिद्ध होगा.(इतिसंक्षेपः) यह संक्षेपसे विषयाद्यर्थका प्रतिपादन कियाहै॥१२०॥

उपादानस्येति । उपादानस्य समवायिकारणस्याध्यक्षं च प्रवृत्तौ कारणमिति ।

भाषा–उपादानका अर्थात् समवायिकारणका साक्षात्कार प्रवृत्तिमें कारण है.

निवृत्तिस्तु भवेद्द्वेषाद्द्विष्टसाधनताधियः ॥ १५१ ॥

भाषा–द्वेषविषय दुःखादि साधनताविषयक ज्ञानसे होनेवाले द्वेषसे पुरुषकी निवृत्ति होती है ॥ १५१ ॥

निवृत्तिरिति द्विष्टसाधनताज्ञानस्य दुःखसाधनविषयकनिवृत्तिं प्रति जनकत्वमन्वयव्यतिरेकादवधारितमिति भावः ॥ १५१ ॥

भाषा–भाव यह कि (द्विष्ट) द्वेषविषय दुःखादि साधनताज्ञानको दुःखसाधन विषयक निवृत्तिके प्रति जनकता अन्वयव्यतिरेकसे निश्चित है ॥ १५१ ॥

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत् ॥
शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं स प्रकीर्तितः ॥ १५२ ॥

भाषा–जीवनयोनि अर्थात् जीवके जीवनका कारणीभूत यत्न सर्वदा अतीन्द्रिय है. और वही शरीरके भीतर प्राणसंचारमें कारण है ॥ १५२ ॥

यत्न इति। जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते, स चातीन्द्रियस्तत्र प्रमाणमाह । शरीर इति। प्राणसञ्चारो ह्यधिकश्वासादिः प्रयत्नसाध्यः।इत्थं च प्राणसञ्चारस्य सर्वस्य यत्नसाध्यत्वानुमानात्प्रत्यक्षप्रयत्नबाधाच्चातीन्द्रिययत्नसिद्धिः स एव जीवनयोनिः प्रयत्नः ॥ १५२ ॥

भाषा-जीवनेके कारणीभूत प्रयत्नका अनुवर्तन जबतक जीव जीता रहे तबतक होता रहता है.वह प्रयत्न अतीन्द्रिय है.उसमें 'शरीरे' इत्यादि मूलसे प्रमाण कहतेहैं. अधिक श्वास प्रश्वासादि प्राणसंचार प्रयत्नसाध्य: अनुभवसिद्ध है. (इत्थञ्च) एवं दृष्टान्तासिद्ध हुआ तो " यावत् प्राणिशरीराभ्यन्तरप्राणसञ्चारः भोक्तृप्रयत्नजन्यः धावनादिप्रयत्नोत्कर्षेण श्वासक्रियोत्कर्षदर्शनात् मदीययत्नोत्कर्षसाध्यमच्छ्वासक्रियोत्कर्षवत्" इत्यादि अनुमानसे यावत् प्राणसंचारमें यत्न साध्यत्वसिद्ध हुआ तो प्रत्यक्षयत्नके बाधित होनेसे अतीन्द्रिययत्नकी सिद्धिहुई वही प्रयत्न जीवका कारणीभूत है.

गुरुत्वं निरूपयति, अतीन्द्रियमिति-

भाषा-एवम् 'अतीन्द्रिय' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार गुरुत्वका निरूपण करतेहैं-

अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात्पृथिव्यादिद्वये तु तत् ॥
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥१५३॥
तदेवासमवायि स्यात्पतनाख्ये तु कर्मणि ॥

भाषा--(गुरुत्व)अर्थात् भारीपन अतीन्द्रिय है,पृथिवी जल दोनोंमें रहताहै.घटादि अनित्योंमें वह गुरुत्व अनित्य है और परमाणुओंमें नित्य है ॥ १५३ ॥ वही गुरुत्व आद्यपतनरूप क्रियामें असमवायिकारण है.

अनित्येति, अनित्ये द्व्यणुकादौ तद्गुरुत्वमनित्यं नित्ये परमाणौ नित्यं, गुरुत्वमित्यनुवर्तते । तद् गुरुत्वम् । असमवायि असमवायिकारणम् । पतनाख्ये इति आद्यपतन इत्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् अनित्यद्व्यणुकादिकोंमें वह गुरुत्व अनित्य है और नित्य परमाणुओंमें वह नित्य है ' नित्ये नित्यम्'इस मूलमें गुरुत्वपदकी अनुवृत्ति करलेनी,'तत्' पदसे गुरुत्वका ग्रहण है. 'असमवायि ' पदसे असमवायिकारणका ग्रहण है. एवं ' पतन ' पदसे आद्यपतनका ग्रहण है.

द्रवत्वं निरूपयति, सांसिद्धिकमिति-

भाषा-एवं 'सांसिद्धिक' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार द्रवत्वका निरूपण करते हैं-

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥ १५४ ॥

भाषा-एक सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व है और दूसरा नैमित्तिक है ॥ १५४ ॥

द्रवत्वं द्विविधं सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च ॥ १५४ ॥

भाषा-वह द्रवत्व सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारका है.

सांसिद्धिकं तु सलिल द्वितीयं क्षितितेजसोः ॥
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमिष्यते ॥ १५५ ॥

द्वितीयं नैमित्तिकम् ।

भाषा-उनमें स्वाभाविक तो जलहीमें है और नैमित्तिक पृथिवी तथा तेज-दोनोंमें है. वह द्रवत्व केवल जलके परमाणुओंमें तो नित्य है और अन्यत्र सर्वत्र अनित्य है ॥ १५५ ॥

परमाणाविति । जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यमित्यर्थः । अन्यत्र पृथिवी परमाण्वादौ जलद्व्यणुकादौ च द्रवत्वमनित्यं कुत्रचित्तेजसि कुत्रचित्पृथिव्यां च नैमित्तिकं द्रवत्वम् ॥ १५५ ॥

भाषा-उसमें जलीय परमाणुओंमें द्रवत्व नित्य है और अन्यत्र पार्थिवपरमाणु आदिकोंमें तथा जलीय द्व्यणुकादिकोंमें वह द्रवत्व अनित्य है. कहीं स्वर्णादितेजमें और कहीं घृतलाक्षादि पृथिवीमें वह द्रवत्व नैमित्तिक है ॥ १५५ ॥

तत्र को वा नैमित्तिकार्थस्तद्दर्शयति । नैमित्तिकमिति-

भाषा-वहां 'नैमित्तिक' शब्दका अर्थ क्या है उसीको 'नैमित्तिक' इत्यादि-मूलसे दिखलाते हैं-

नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु ॥
द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं संग्रहे तु तत् ॥ १५६ ॥

भाषा-नैमित्तिक द्रवत्व अग्निसंयोगसे तपेहुए घृतादिकोंमें प्रतीत होता है. वह द्रवत्व स्यन्दनमें हेतु है अर्थात् असमवायिकारण है चूर्णादिके पिण्डीभावमें (तत्) वही द्रवत्व निमित्त कारण है ॥ १५६ ॥

वह्नीतिपदं तेजोऽर्थकम् । तथा च तेजःसंयोगजन्यं नैमित्तिकं द्रवत्वम् । तच्च सुवर्णादिरूपे तेजसि घृतजतुप्रभृतिपृथिव्यां च वर्तत इत्यर्थः । द्रवत्वं स्यन्दन इति । असमवायिकारणमित्यर्थः । संग्रहे सक्तुकादिसंयोगविशेषे । तेन तद्द्रवत्वं स्नेहसहितमिति बोद्धव्यम् । तेन द्रुतसुवर्णादीनां न संग्रहः ॥ १५६ ॥

भाषा-मूलमें ' वह्नि ' पद तेजमात्रका वाचक है; एवं तेजसंयोगजन्यका नाम नैमित्तिकद्रवत्व सिद्ध हुआ. वह नैमित्तिकद्रवत्व स्वर्णादिरूप तेजमें और घृतलाक्षादि पृथिवीमें रहता है. वह द्रवत्व स्पन्दनरूपाक्रियामें असमवायिकारण है और संग्रहमें अर्थात् सक्तुआदिके परस्पर मिलापविशेषमें वह द्रवत्व निमित्तकारण है; परन्तु सत्तु आदिके मिलापमें निमित्ततास्नेहसहित द्रवत्वको जाननी चाहिये एवं द्रुतस्वर्णादिका संग्रह न हुआ अर्थात् द्रुतस्वर्णादिमें द्रवत्वके होनेसे उसमें चूर्णादिके पिण्डीभावकी आपत्ति नहीं हुई; क्योंकि स्वर्णादिमें स्नेहसहित द्रवत्व नहीं है ॥ १५६ ॥

स्नेहं निरूपयति, स्नेहो जल इति-

भाषा-एवं 'स्नेहः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्नेहका निरूपण करते हैं-

स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ ॥
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

भाषा-स्नेहगुण केवल जलमात्रमें रहता है और जलीयपरमाणुओंमें वह नित्य है; अन्यत्र द्व्यणुकादिकोंमें अनित्य है. तैलके बीचमें उसकी प्रकर्षतासे दहनकी अनुकूलता है ॥ १५७ ॥

जल इति, जल एवेत्यर्थः। असौ स्नेहः। ननु पृथिव्यामपि तैले स्नेह उपलभ्यते न चासौ जलीकस्तथासति दहनप्रातिकूल्यं स्यादत आह। तैलान्तर इति। तत्प्रकर्षात्स्नेहप्रकर्षात् तैल उपलभ्यमानः स्नेहोऽपि जलीय एव, तस्य प्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम्, अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीति भावः ॥ १५७ ॥

भाषा-स्नेह जलहीमें रहता ह. 'असा' पदसे स्नेहका ग्रहण है शङ्का-तैलरूप पृथिवीमेंभी स्नेह प्रतीत होता है परन्तु वह स्नेह जलका नहीं है, क्योंकि यादि जलका होय तो अग्निका विरोधी हुआ चाहिये? समाधान-इसका उत्तर 'तैलान्तरे' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देतेहैं. मूलमें 'तत्प्रकर्ष' शब्दसे स्नेहप्रकर्षका ग्रहण है. तैलमें प्रतीत होनेवाला स्नेहभी जलहीका है उसको प्रकृष्ट होनेसे अर्थात् अति उत्कट होनेसे अग्निकी अनुकलता है. भाव यह कि-अपकृष्ट स्नेहवाला जलही अग्निका नाशक है, तैल नहीं ॥ १२७ ॥

संस्कारं निरूपयति संस्कारेति।

भाषा-एवं 'संस्कारभेद' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार संस्कारोंका निरूपण करते हैं-

संस्कारभेदो वगोऽथ स्थितिस्थापकभावने ॥
मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात्कर्मजो वेगजः क्वचित् ॥१५८॥

भाषा--वेग, स्थितिस्थापक, तथा भावनाख्यभेदसे संस्कार तीन प्रकारका है. उनमें वेगाख्य संस्कार तो मूर्तपदार्थमात्रमें रहता है, वह वेगाख्य संस्कार किसी स्थलमें क्रियासे उत्पन्न होता है और किसी स्थलमें वेगसे उत्पन्न होता है ॥१५८॥

संस्कारेति । वेगस्थितिस्थापकभावनाभेदात् संस्कारस्त्रिविधं इत्यर्थः । मूर्तमात्र इति । कर्मजवेगजभेदाद्वेगो द्विविध इत्यर्थः । शरीरादौ हि नोदनजनितेन कर्मणा वेगो जन्यते, तेन च पूर्व-कर्मनाशस्तत उत्तरकर्म । एवमग्रेऽपि ।

भाषा-वेग, स्थितिस्थापक, तथा भावना इन भेदसें संस्कार तीन प्रकारके हैं. (मूर्तमात्रे इति) कर्मजन्य तथा वेगजन्य इस भेदसे वेगाख्यसंस्कार फिर दो प्रकारका है. बाणादिकोंमें नोदनसे उत्पन्न हुई क्रियासे वेग उत्पन्न होता. है (तेन च) उस वेगसे पूर्व क्रियाका नाश होता है उस पूर्वकर्मनाशके अनन्तर फिर उत्तर क्रिया होती है. ऐसेही आगे २ जबतक बाणादिका उत्तरसंयोग न होय तबतक पूर्व २ कर्मका नाशक वेगहीको समझना चाहिये. भाव यह कि--कर्मका नाशक उत्तरसंयोग तो उसकालमें हैही नहीं; इसलिये पूर्व पूर्व कर्मनाशकता कल्पना करी जाती है. ऐसेही उत्तर २ कर्मसेभी पूर्व २ वेगका नाश होता है पूर्व वेगनाशके अनंतर वेगान्तकी उत्पत्ति होती है. यही ' एवमग्रेपि ' इस ग्रन्थका तात्पर्य है--ऐसे स्थलमें कर्मका कोई नाशकान्तर तो हैही नहीं ।

विना च वेगं कर्मणः कर्मप्रतिवन्धकत्वात् पूर्वकर्मनाश उत्तरकर्मोत्पत्तिश्च न स्यात् । यत्र वेगवता कपालेन जनिते घटे वेगो जन्यते स वेगजो वेगः ॥ १५८ ॥

भाषा--इसलिये वेगसे विना अर्थात् यदि वेगको नाशक न मानें तो पूर्व कर्मका नाश नहीं होना चाहिये और उत्तरकर्मकी उत्पत्तिभी नहीं हुई चाहिये; क्योंकि पूर्वकर्म उत्तरकर्म उत्पत्तिका प्रतिबन्धक है. एवं जहां वेगवाले कपालादिसे उत्पन्न हुए घटादिमें वेग उत्पन्न हुआ है वह वेगज वेग है ॥ १५८ ॥

स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि ॥
अतीन्द्रियोसौ विज्ञेयः क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम् ॥१५९॥

भाषा-स्थितिस्थापकाख्य संस्कार केवल पृथिवीहीमें रहता है; परंतु कई लोग इसको पृथिवीआदि चारोंमें मानते हैं. वह स्थितिस्थापकाख्य संस्कार सर्वथा अतीन्द्रिय है और किसी २ स्थलमें स्पन्दरूप क्रियाकाभी कारण है ॥ १५९ ॥

स्थितिस्थापकेति । आकृष्टशाखादीनां परित्यागे पुनर्गमनस्य स्थितिस्थापकसाध्यत्वात् । केचिदिति । चतुर्षु क्षित्यादिषु स्थितिस्थापकं केचिन्मन्यन्ते तदप्रमाणमिति भावः । असौ स्थितिस्थापकः । क्वचिदाकृष्टशाखादौ ॥ १५९ ॥

भाषा-वृक्षकी शाखादिको खैंचकर छोड़ दिया जाय तो उसका फिर पूर्ववत् अवस्थान होजाता है वह आकृष्टशाखादिका प्रथमवत् अवस्थान स्थितिस्थापकसंस्कारजन्य है. उस स्थितिस्थापक संस्कारको कई लोग पृथिवीआदि चारोंमें रहने वाला मानते हैं; परन्तु ऐसा मानना उनका सर्वथा अप्रमाणक है मूलगत 'असौ' पदसे स्थितिस्थापकसंस्कारका ग्रहण है और 'क्वचित्' पदसे आकृष्टशाखादिका ग्रहण है ॥ १५९ ॥

भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः ।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत् ॥ १६० ॥

भाषा-एवं भावनाख्यसंस्कार प्राणीमात्रमें रहता है और अतीन्द्रिय है अर्थात् उसका किसी इन्द्रियद्वारा ग्रहण नहीं होता. उपेक्षाअनात्मक निश्चय अर्थात् वस्तुविषयक दृढ बोध (तस्य) उस संस्कारका कारणीभूत है ॥ १६० ॥

भावनाख्य इति । तस्य संस्कारस्य । उपेक्षात्मकज्ञानात् संस्कारानुत्पत्तेरुपेक्षानात्मक इत्युक्तम् । तत्संशयात् संस्कारानुत्पत्तेर्निश्चय इत्युक्तम् । तेनोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन संस्कारं प्रति हेतुतेति भावः ।

भाषा-तस्य-इस मूलगतपदसे संस्कारोंका ग्रहण है. वस्तुविषयक 'उपेक्षात्मक' ज्ञानसे अर्थात् वस्तुको दत्तचित्त होकर न ग्रहण करनेसे संस्कार उत्पन्न नहीं होता; इसलिये मूलमें 'उपेक्षानात्मक' यह निश्चयका विशेषण कहा है. (तत्) उपेक्षानात्मक संशयसेभी संस्कार उत्पन्न नहीं होता इसलिये संशयसाधारणज्ञानको त्याग कर मूलमें 'निश्चय' पदका निवेश किया है. एवं उपेक्षात्मक ज्ञानसे अन्य जो निश्चयात्मक ज्ञान तादृश ज्ञानत्वेन संस्कारोंके प्रति कारणता है ।

ननु स्मरणं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वं तेनोपेक्षादिस्थले न स्मरणमित्थं च संस्कारं प्रति ज्ञानत्वेनैव हेतुतास्त्विति चेत्। न। विनिगमनाविरहेण संस्कारं प्रत्यप्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् ।

शंका—स्मरणात्मक ज्ञानके प्रति उपेक्षान्य निश्चयत्वेन हेतुता है इसीलिये उपेक्षात्मकज्ञानस्थलमें स्मरणात्मक ज्ञान नहीं होता. (इत्थञ्च) इस रीतिसे स्मृति ज्ञानके प्रति उपेक्षानात्मक निश्चयत्वेन कारणता सिद्ध हुई तो संस्कारके प्रति ज्ञानत्वरूप साधारण धर्मसेभी कारणता मान लीजाय तो हानि क्या है ? समाधान—विनिगमनाविरहसे अर्थात् एकत्र पक्षपातिनी युक्तिके अभावसे संस्कारोंके प्रतिभी उपेक्षानात्मक निश्चयत्वेन कारणता स्वयं सिद्ध है इसलिये ज्ञानत्वेन कारणता माननी उचित नहीं.

किंचोपेक्षास्थले संस्कारकल्पनाया गुरुत्वात् संस्कारं प्रति चोपेक्षान्यत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् ॥ १६० ॥

भाषा—(किंच) वस्तुतः विचार किया जाय तो संस्कारोंके प्रतिही उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन कारणता माननेमें विनिगमक प्रतीत होता है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जाय तो उपेक्षात्मक ज्ञानस्थलमें संस्कारोंकी एक अधिक गुरुभूत कल्पना करनी होगी और संस्कारोंके प्रति तो उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुता अन्वयव्यतिरेकसे सिद्धही है ॥ १६० ॥

तत्र प्रमाणं दर्शयति । स्मरण इति—

भाषा—'स्मरणे' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार (तत्र) संस्कारमें प्रमाण दिखलाते हैं—

स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ॥

भाषा—स्मरणात्मकज्ञानमें तथा प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानमें यह संस्कार कारणभूत है.

असौ संस्कारः। यतः स्मरणं प्रत्याभिज्ञानं च जनयत्यतः संस्कारः कल्प्यते । विना व्यापारं पूर्वानुभवस्य स्मरणादिजननासामर्थ्यात्, स्वस्वव्यापारान्यतराभावे कारणत्वासम्भवात् ।

भाषा—मूलगत 'असौ' पदसे संस्कारोंका ग्रहण है पूर्व दृष्टवस्तुविषयक अनुभव कालान्तरमें उसी वस्तुके स्मरणका तथा प्रत्यभिज्ञानका जनक होता है; इसलिये मध्यमें व्यापाररूपसे संस्कारोंकी कल्पना होतीहै संस्कारात्मकव्यापारसे विना पूर्वा-

नुभवको स्मरणादिज्ञान जननमें सामर्थ्य नहींहै; क्योंकि कार्योत्पत्तिसे अव्यवहित पूर्वक्षणमें (स्व) कारण (स्वव्यापार) कारणव्यापार अन्यतरके न होनेसे कारणमें कारणत्व धर्मका होनाही असम्भव है. भाव यह कि–कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति कारण कारणव्यापारान्यतरत्वहीका नाम 'कारणतापदार्थ ' है.

नच प्रत्यभिज्ञां प्रति तत्तत्संस्कारस्य हेतुत्वे प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्। परे त्वनुद्बुद्धसंस्कारात् प्रत्यभिज्ञानुदयादुद्बुद्धसंस्कारस्य हेतुत्वापेक्षया तत्तत्स्मरणस्यैव प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुत्वं कल्प्यत इत्याहुः।

शंका–संस्कारजन्य स्मृत्यात्मक ज्ञान होता है एवं तत्तदनुभवजन्य संस्कारोंको यदि प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानके प्रतिभी कारणता है तो संस्कारजन्यत्वेन प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानकोभी स्मृतिरूपही होना चाहिये. समाधान–यह कथन आपका अप्रयोजक है अर्थात् संस्कारजन्यत्वका स्मृतित्वके साथ अन्वयव्यतिरेक कहनेके लिये आपके पास कोई अनुकूलतर्क नहीं है; (परंतु) और चिन्तामणिकार तो यह कहतेहैं कि–अनुद्बुद्ध संस्कारोंसे प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानका उदय होना दुर्घटहै; इसलिये उद्बुद्धसंस्कारोंहीको हेतुता कहनी होगी. एवम् उद्बुद्ध संस्कारोंमें हेतुता माननेकी अपेक्षया तत्तद्वस्तु विषयक स्मरणहीको प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानके प्रति हेतुता कल्पना करनेमें लाघव है.

अदृष्टं निरूपयति, धर्माधर्माविति–

भाषा–'धर्माधर्म' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार अदृष्टका निरूपण करते हैं–

धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम्॥१६१॥
गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः॥
कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः॥१६२॥

भाषा–धर्म अधर्म दोनोंका नाम 'अदृष्ट' है. उनमें स्वर्गादिके साधनका नाम 'धर्म' है॥ १६१ ॥ वह धर्म गङ्गास्नानादिका तथा योगादिका व्यापाररूप कहा है 'कर्मनाशा' नामक नदीके जलस्पर्शादिसे उस धर्मका नाश मानाहै ॥१६२॥

स्वर्गादिसकलसुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः। तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह। यागादीति। यागादिव्यापारतया हि धर्मः कल्प्यते। अन्यथा यागादीनां चिरविन-

ष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वं न स्यात्। तदुक्तमाचार्यैः। "चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना" इति।

भाषा–स्वर्गादि यावत् सुखोंका तथा स्वर्गके साधनीभूत शरीरादिका कारण एक धर्मही है; उस धर्ममें "यागादिकं धर्मादिव्यापारवत् वेदबोधितस्वर्गसाधनत्वात्" इत्यादि अनुमानप्रमाणप्रदर्शनार्थ मूलकार 'यागादि' इस ग्रन्थको कहते हैं अर्थात् यागादिके व्यापाररूपसेही धर्मकी कल्पना हो सकती है; अन्यथा मध्यमें व्यापाररूपेण धर्मस्वीकार न किया जाय तो चिरकाल विनष्ट हुए यागादि विना व्यापारसे कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गके जनक कदापि नहीं हो सकेंगे. इसी वार्ताको उदयनाचार्यजीने भी कहा है कि–" चिरकाल विनष्ट हुआ कर्म विना अपूर्वसे फलजननमें समर्थ नहीं होता"–इति।

ननु यागध्वंस एव व्यापारः स्यात्, नच प्रतियोगिध्वंसयोरेकत्राजनकत्वम्, सर्वत्र तथात्वे मानाभावात्, न च त्वन्मते फलानंत्यं, मन्मते चरमफलस्यापूर्वनाशकत्वान्न तथात्वमिति वाच्यम्, कालविशेषस्य सहकारित्वादित्यत आह। गंगास्नानेति। गंगास्नानस्य हि स्वर्गजनकत्वेऽनंतानां जलसंयोगध्वंसानां व्यापारत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वं कल्प्यते लाघवादिति भावः।

शंका–मध्यमें धर्मको व्यापार माननेकी अपेक्षया यागके ध्वंसहीको व्यापार मानालिया जाय तो हानि क्या है? यदि कहो कि–'प्रतियोगिको तथा प्रतियोगिके ध्वंसको एकत्र जनकता अप्रसिद्ध है' तो यह कथन भी युक्त नहीं क्योंकि सर्वत्र (तथात्वे) प्रतियोगि तथा प्रतियोगिके ध्वंसको एकत्र जनकत्वाभावमें कोई प्रमाण नहीं है और यदि कहो कि–यागध्वंसको व्यापार माननेवालेको फल आनन्त्य मानना होगा' यह अनुचित है और धर्मको व्यापार माननेवालेको तो फलानन्त्यरूप दोष नहीं है; क्योंकि उसने अन्तिम फलको धर्मरूप अपूर्वका नाशक माना है तो यह कथन भी युक्त नहीं; क्योंकि कालविशेषको फलविशेषमें सहकारी मानकर फलानन्त्यरूप दोषका वारण होसकता है. समा०–इसका उत्तर 'गंगास्नान' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देतेहैं. भाव यह कि–ध्वंसको व्यापार माननेवालेको गंगास्नानकी स्वर्गजनकता माननेमें मध्यमें अनन्तजलसंयोगोंको ध्वंसको व्यापार मानना होगा उनकी अपेक्षया मध्यमें अपूर्वकी कल्पना करनेमें अतिलाघव है.

ननु ध्वंसोऽपि न व्यापारोऽस्तु, न च निर्व्यापारस्य चिरध्व-स्तस्य कथं कारणत्वमिति वाच्यम् अनन्यथासिद्धनियतपूर्व-वर्तित्वस्य तत्रापि सत्त्वात्, अव्यवहितपूर्ववर्तित्वं हि चक्षुः-संयोगादेः कारणत्वे न तु सर्वत्र कार्यकालवृत्तित्वमिव समवा-यिकारणस्य कारणत्व इत्यत आह, कर्मनाशेति ।

शंका-यदि ऐसा है तो ध्वंसको भी व्यापार मत मानो; एवं कारणके मध्यमें कहीं भी व्यापार माननेकी आवश्यकता नहीं है. यदि कहो कि-निर्व्यापार चिर-विनष्ट यागादि क्रियाको स्वर्गादिकारणता कैसे होगी ? तो कारणता नाम ' अन-न्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववर्तित्व ' मात्रका है; सो ऐसी कारणता यागादि-मेंभी विद्यमान है. अव्यवहित पूर्ववर्तिरूप धर्म चक्षुःसंयोगादिगत कारणताका घटक है अर्थात् यदि रूपादि साक्षात्कारके प्रति चक्षुःसंयोगादिको कारणता कहनी होय तो ऐसे स्थलमें अव्यवहित पूर्ववर्तित्वका निवेश करना उचित है. सर्वत्र उसका कुछ उपयोग नहीं; जैसे समवायिकारणगत कारणताका कार्यकाल-वृत्तित्वघटक है, सर्वत्र नहीं. सामाधान-इसका उत्तर ' कर्मनाशा ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देते हैं.

यदि ह्यपूर्वं न स्यात्तदा कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यत्वं धर्मस्य न स्यात् । न हि तेन यागादिनाशः प्रतिबन्धो वा कर्तुं शक्यते, तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति भावः ।

भाषा-यदि यागादिजन्य धर्मात्मक अपूर्व न होय तो कर्मनाशाजलस्पर्शादिसे उसका नाश भी नहीं हुआ चाहिये, परन्तु नाश होना तो शास्त्रसिद्ध है और कर्म-नाशाजलके स्पर्शादिसे यागादिका नाश वा उसका प्रतिबन्ध तो कह कि नहीं सकते; क्योंकि यागादिको कर्मनाशा जलस्पर्शसे पूर्ववृत्तित्व है अर्थात् यागक्रिया वहुतकाल प्रथम हो चुकी है; इसलिये भिन्नकालीन पदार्थोंका परस्पर प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धकभाव या नाश्यनाशकभाव कहना उचित नहीं.

एतेन देवताप्रीतिरेव फलमित्यपास्तम् । गंगास्नानादौ सर्वत्र देवताप्रीतेरसम्भवात् देवतायाश्चेतनत्वेऽपि तत्प्रीतेरनुद्देश्य-त्वात्, प्रीतेः सुखस्वरूपत्वेन विष्णुप्रीत्यादौ तदसम्भवात् । जन्यसुखादेस्तत्राभावात्, तेन विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन पराभिम-तस्वर्गादिरेव विष्णुप्रीतिशब्देन लक्ष्यते ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

भाषा–कई विद्वानलोग यागादि शुभक्रियाका देवताप्रीतिरूपही फल मानते हैं. इस पूर्वकथनसे उसकाभी खण्डन किया; क्योंकि गंगास्नानादि सर्वत्र शुभकार्योंमें देवताप्रीतिका होना असम्भव है. यद्यपि देवता चेतन है इसलिये प्रीति होनेका सम्भव होसकता है तथापि यागस्नानादिक्रिया कर्ताका देवताप्रीति उद्देश्य नहीं है और 'प्रीति' नाम सुखविशेषका है, सो विष्णुप्रीतिआदिकोंमें उसका होना असम्भव है; क्योंकि विष्णुआदिको ईश्वररूप होनेसे उनमें जन्यसुखका अभाव है; इसलिये विष्णुप्रीति' शब्दसे विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन मीमांसकोंके अभिमत स्वर्गादिकाही लक्षणया बोध होता है ॥ १६१॥ १६२ ॥

अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः ॥
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ१६३

भाषा–नरकादि दुःखके साधनका नाम 'अधर्म' है और निषिद्धकर्मोंसे उसकी उत्पत्ति होती है. प्रायश्चित्तादि आचरणसे उसका नाश होता है. यह धर्माधर्मरूप दोनों गुण केवल जीवनमात्रमें रहते हैं ॥ १६३ ॥

अधर्मो नरकादीनामिति । नरकादिसकलदुःखानां नारकीयशरीरादीनां च साधनमधर्म इत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह, प्रायश्चित्तेति । यदि ह्यधर्मो न स्यात्तदा प्रायश्चित्तादिना नाश्यत्वं न स्यात् । नहि तेन ब्रह्महननादीनां नाशः प्रतिबन्धो वा विधातुं शक्यते तस्य पूर्वमेव विनष्टत्वादिति भावः । जीवेति । ईश्वरस्य धर्माधर्माभावादिति भावः ॥ १६३ ॥

भाषा–नरकमें होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंका तथा नारकीय शरीरादिकोंका कारणभित अधर्म है. 'प्रायश्चित्त' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार उसमें प्रमाण दिखलाते हैं. यदि अधर्म कुछ वस्तु न होय तो प्रायश्चित्तादिद्वारा उसके नाशका विधान भी नही हुआ चाहिये. उस प्रायश्चित्तादिसे ब्राह्मणवधादिका नाश अथवा प्रतिबन्ध तो विधान करही नहीं सकते; क्योंकि 'तस्य' उस ब्रह्महननादि कर्मका तो पूर्वही विनाश हो चुका है. मूलगत 'जीववृत्ति' यह पद कहनेका भाव यह है कि–ईश्वरमें धर्माधर्मादिका सर्वथा अभाव है ॥ १६३ ॥

इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः ॥

भाषा–यह धर्माधर्म दोनों वासनासे उत्पन्न होते हैं और इन दोनोंका आत्मज्ञानसे भी विनाश होता है.

इमौ धर्माधर्मौ । वासनेति । अतो ज्ञानिना कृते सुकृतदुष्कृत-कर्मणी न फलायालमिति भावः । ज्ञानादपीति, अपिना भोगपरिग्रहः ।

भाषा–मूलगत ' इमौ ' पदसे धर्माधर्मका ग्रहण है, ये दोनों वासनाजन्य हैं; इसीलिये ज्ञानीपुरुषके किये पुण्यपापादि कर्मफल प्रदानके लिये समर्थ नहीं होते-भाव यह कि–ज्ञानीपुरुषमें ज्ञानद्वारा वासनाका क्षय हुआ है, इसलिये उसकी शुभाशुभ क्रिया केवल प्रतीतिमात्र है, भोगोपयोगिनी नहीं है. " ज्ञानादपि " यहां ' अपि' शब्दसे भोगका परिग्रहण करना ।

ननु तत्त्वज्ञानस्य कथं धर्माधर्मनाशकत्वं "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इति वचनविरोधात्, इत्थंच तत्त्वज्ञानिनां झटिति कायव्यूहेन सकलकर्मणां भोगेन क्षय इति चेत् । न । तत्र भोगस्य वेदबोधितनाशकोपलक्षकत्वात् ।

शंका–" भोगे विना कर्मोंका शतकोटिकल्पोंसेभी क्षय होना असम्भव है"इत्यर्थक स्मृतिवचनके साथ विरोध होनेसे तत्त्वज्ञानको धर्माधर्मनाशकता कैसे होसकती है?अर्थात् नहीं होसकती इसलिये तत्त्वज्ञानी लोगोंको एककालावच्छेदेन शीघ्रही कायव्यूहसे अर्थात् यावत् कर्मभोगार्थ कायकदम्बके निर्माणसे सम्पूर्णकर्मोंका भोगहीसे नाश मानना उचित है. "समाधान–"नाभुक्तं इत्यादि वाक्यगत ' भोग' पद वेदबोधित नाशकमात्रका उपलक्षक है अर्थात् जैसे भोगसे विना कर्मोंका क्षय नहीं होता वैसेही आत्मज्ञानसे विना या प्रायश्चित्तादिसे विनाभी नहीं होता.

कथमन्यथा प्रायश्चित्तादिना कर्मणां नाशः । तदुक्तम्"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" इत्यादिना । श्रूयते च "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति ।

भाषा–अन्यथा यदि भोगपदको आत्मज्ञानादिका उपलक्षक नहीं मानों तो प्रायश्चित्तादिसे भी कर्मोंका नाश नहीं हुआ चाहिये. (तदुक्तम्) इसी वार्ताको भगवानने अर्जुनको भी कहा है कि–" हे अर्जुन ! जैसे दीप्त हुआ अग्नि काष्ठको सर्वरूपसे दग्ध करता है वैसेही ज्ञानरूप अग्नि भी यावत् कर्मको सर्वरूपसे दग्ध करता है. " श्रुतिमें भी कहा है कि–" उस परावरपरमात्माके दर्शनमात्रसे इस अधिकारी पुरुषके कर्मोंका क्षय होता है. "

ननु तत्त्वज्ञानिनस्तर्हि शरीरावस्थानं सुखदुःखादि च न स्यात्। ज्ञानेन सर्वेषां कर्मणां नाशादिति चेत्। न। प्रारब्धेतरकर्मणामेव नाशात्। तत्तच्छरीरभोगजनकं हि यत्कर्म तत्प्रारब्धम्। तदभिप्रायमेव नाभुक्तमिति वचनमिति।

शंका–यदि ऐसा है तो आत्मज्ञानी पुरुषके शरीरकी स्थिति तथा उसको सुखदुःखादिका अनुभव नहीं हुआ चाहिये; क्योंकि शरीरावस्थानादिके कारणीभूत कर्मोंका सर्व रूपसे नाश होचुका है. समाधान–प्रारब्धकर्मोंसे अन्यकर्मोंहीका आत्मज्ञानादिद्वारा नाश होता है, तत्तन्नरदेवादिशरीरावच्छेदेन भोगके जनक कर्मविशेषका नाम 'प्रारब्धकर्मके' अभिप्रायसेही 'नाभुक्तम्' इत्यादि स्मृतिवचन है–इति।

शब्दं निरूपयति, शब्दो ध्वनिश्चेति–

भाषा–'शब्दो ध्वनिश्च' इत्यादिग्रन्थसे मूलकार शब्दका निरूपण करते हैं–

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ॥१६४॥
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ॥
सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः–

भाषा–ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक भेदसे शब्द दोप्रकारका है. मृदंगादिसे उत्पन्न हुएका नाम 'ध्वन्यात्मक' शब्द है ॥ १६४ ॥ कण्ठताल्वादि संयोगसे उत्पन्न हुएका नाम 'वर्णात्मक' शब्द है, वह वर्ण 'क' 'ख' आदिभेदसे अनेक हैं, सम्पूर्ण शब्द समवायसम्बन्धसे आकाशमें रहते हैं।

नभोवृत्तिराकाशसमवेतः।

भाषा–मूलगत 'नभोवृत्ति' शब्दका विवरणही आकाशसमवेत है।

दूरस्थशब्दस्याग्रहणादाह, श्रोत्र इति–

भाषा–दूरदेशमें उत्पन्न हुए शब्दका ग्रहण नहीं होसकता; इसलिये 'श्रोत्र' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार उसकी रीति कहते हैं–

–श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥ १६५ ॥

भाषा–वह मृदङ्गाद्यवच्छेदेन उत्पन्न हुआ शब्द श्रोत्रदेशमें उत्पन्न हुआ ग्रहण होता है ॥ १६५ ॥

ननु मृदङ्गाद्यवच्छेदेनोत्पन्ने शब्दे श्रोत्रे कथमुत्पत्तिरत आह, वीचीति–

शंका–मृदङ्गादिदेशमें उत्पन्न हुआ शब्द श्रोत्रदेशमें कैसे उत्पन्न होगा ?

समाधान-इसका उत्तर मूलकार 'वीची' इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं लिखते हैं--

वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ॥

भाषा--वीची तरङ्गन्यायसे अर्थात् जलऊर्मितरङ्गोंके सर्व ओर प्रसरणवत् शब्दकी श्रोत्रावच्छेदेन उत्पत्ति कथन करी है ।

आद्यशब्देन बहिर्दशदिगवच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तेनैव शब्देन जन्यते तेन चापरस्तद्व्यापकः। एवं क्रमेण श्रोत्रोत्पन्नो गृह्यत इति।

भाषा--प्रथमशब्दसे बाह्य दशदिगवच्छेदेन शब्दान्तरकी उत्पत्ति होती है अर्थात् जैसे जलमें लोष्टादिके फेंकनेसे प्रथम एक तरङ्ग उत्पन्न होता है; पश्चात् उसी प्रथमतरङ्गसे चारों ओर अनेक वीचीतरङ्ग उत्पन्न हुए कूलतक जाते हैं वैसेही मृदङ्गादिके टंकारसे भी प्रथम एक शब्द उत्पन्न होता है पश्चात् उसी शब्दसे दशोंदिशामें शब्दान्तर उत्पन्न होते हैं. उनसे पुनः शब्दान्तरोंकी उत्पत्ति होती है; इसी क्रमसे मृदङ्गदेशगत शब्द श्रोत्रावच्छेदेन उत्पन्न हुआ ग्रहण होता है.

कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ १६६ ॥

भाषा--कदम्बगोलकन्यायसे अर्थात् जैसे कदम्बपुष्पमें गोलाकारता उत्पन्न होती है वैसेही शब्दकी उत्पत्ति भी किसी एक विद्वान्ने मानी है ॥ १६६ ॥

कदम्बेति । आद्यशब्दाद्दशसु दिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते, ततश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः । अस्मिन् कल्पे कल्पनागौरवादुक्तं कस्यचिन्मत इति ॥ १६६ ॥

भाषा--भाव यह कि-जैसे कदम्बपुष्पके मध्यमें एक कलिका पश्चात् चारों ओर दश कलिका ऐसेही आगे चारोंओर लगनेसे एक गोल गुच्छ बनजाता है वैसेही मृदङ्गादिदेशगत आद्यशब्दसे दशोंदिशाओंमें दश शब्द उत्पन्न होते हैं पश्चात उस एक एकसे पुनः दश दश शब्द उत्पन्न होते हैं, इस रीतिसेभी शब्दकी उत्पत्ति श्रोत्रदेशमें होसकती है, मूलमें 'कस्यचिन्मते' इस कहनेकाभाव यह है कि-इस मतमें अनन्त शब्दोंकी कल्पना करनेमें कल्पना गौरव है ॥ १६६ ॥

ननु शब्दस्य नित्यत्वादुत्पत्तिः कथमत आह, उत्पन्न इति-

शंका-शब्द तो नित्य है, आपने उसकी उत्पत्ति कैसे कही ? समाधान-इसका उत्तर 'उत्पन्नः कः' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं लिखते हैं ।

उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ॥

भाषा-कंठतालवाद्यभिघातसे ककरादिशब्द उत्पन्न होते हैं पश्चात शीघ्रही उनमें "ककारो विनष्टः" इत्याकारक प्रत्यय होता है; इसलिये शब्द अनित्य प्रतीत होते हैं,

शब्दानामुत्पादविनाशप्रत्ययशालित्वादनित्यत्वमित्यर्थः ।

भाषा-अर्थात् यावत् शब्दोंमें उत्पाद विनाश प्रत्यय विषयता है. इसलिये इनमें अनित्यता माननी उचित है.

ननु स एवायं ककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञानाच्छब्दानां नित्यत्वम्। इत्थं चोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपैवेत्यत आह, सोऽयं क इति-

शंका-" स एवायं ककारः-अर्थात् यह वही ककार है " इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानसे शब्दोंमें नित्यता प्रतीत होती है; इसलिये उनमें उत्पादविनाशावगाहिनी बुद्धि भ्रमरूपाही माननी उचित है. समाधान-इसका उत्तर ' सोऽयं कः ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देते हैं-

सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते ॥ १६७ ॥

भाषा-" सोऽयं कः-अर्थात् यह वही ककार है " इत्याकारक बुद्धि ककारादिनिष्ठ साजात्यका ग्रहण करती है ॥ १६७ ॥

साजात्यमिति।तत्र प्रत्यभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वं विषयो न तु तद्व्यक्त्यभेदो विषयः, उक्तप्रतीतिविरोधात्। इत्थं द्वयोरपि प्रतीत्योर्न भ्रमत्वमिति ॥ १६७ ॥

भाषा-ऐसे स्थलमें प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानका ककारादि सजातीयत्व विषय है, किन्तु ककारादिव्यक्तिका अभेद विषय नहीं क्योंकि (उक्त) उत्पादविनाशशाली प्रत्ययके साथ विरोध है. (इत्थञ्च) इस रीतिसे प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञानको साजात्यावगाही माना तो उत्पादप्रतीति तथा प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान इन दोनों बुद्धियोंको भ्रमरूपता नहीं है ॥ १६७ ॥

ननु सजातीयत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां भासत इति कुत्र दृष्टमित्यत आह, तदेवेति-

शंका-' सोऽयं ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानमें सजातीयत्वका भान आपने कहां देखा है ? समाधान-इसका उत्तर ' तदेव ' इत्यादि ग्रन्थसे मूलकार स्वयं देते हैं-

तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ॥
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः ॥ १६८ ॥

भाषा-" तदेवौषधम्-अर्थात् यह वही औषध है " इत्यादि स्थलोंमें सजातीय

पदार्थोंमें भी प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान देखनेमें आताहै.इसलिये सम्पूर्ण वर्ण अनित्यही हैं. यह हमारा सिद्धान्त है ॥ १६८ ॥

यदौषधं मया कृतं तदेवान्येनापि कृतमित्यादिदर्शनादिति भावः ॥ १६८ ॥ ॥ इति सिद्धान्तमुक्तावल्यां गुणनिरूपणम् ॥

भाषा-' जो औषधी मैंने करी थी; वही औषधी दूसरे पुरुषने भी करी है ' इत्यादि स्थलमें सजातीयत्वका भाव होता है. भाव यह कि-जो औषधी मैंने करी है वस्तुतः वह औषधी वह नहीं है जो कि, दूसरेने करी है; किन्तु उसी जातिकी दूसरी औषधी है-इति ॥ १६८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायविद्यानिवासभट्टाचार्यपुत्रश्रीयुतविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचिता न्यायसिद्धान्तमुक्तावली संपूर्णा ।

कर्तारं सर्वलोकानां भर्तारं सर्वप्राणिनाम् ॥
हर्तारं सर्वविघ्नानामाश्रये जानकीप्रियम् ॥ १ ॥
संसाराम्बुधितारणैकतरणी पूता प्रिया यस्य गीः
श्रेष्ठाचारविचारणैकजननी लोकोत्तरा यस्य धीः ॥
तर्कव्यूहविनाशनेऽतिसबला तेजोमयी यस्य श्री--
र्धन्योऽसौ गुरुनानको गुरुवरो गोविन्दसिंहस्तथा ॥ २ ॥
श्रीठाकुरपदबोध्यं स्ववाक्किरणापहृतदासहृद्धान्तम् ॥
त्रेधा नमामि सततं श्रीसद्गुरुनिहालसिंहार्कम् ॥ ३ ॥
श्रीकाश्यां निवसन्तो विज्ञाः श्रीशिवकुमारमिश्राद्याः ॥
मूर्ध्ना मे ते मान्या हृदा तु गुरुरामामिश्रवराः ॥ ४ ॥
भूतबाणग्रहक्षोणौ वैक्रमे वत्सरे वरे ॥
पौषशुक्लद्वितीयायां ग्रन्थः पूर्तिमगादयम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्दुःखभञ्जन्याश्रमाधिपतिनिर्मलोदग्रपूज्यपादश्रीठाकुरनिहालसिंहपादपाथोजप्रैष्यगण्डासिंहापरनामकगोविन्दसिंहसाधुकृते आर्यभाषाविभूषितन्यायमुक्तावलीप्रकाशे गुणनिरूपणम् ॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥ इति शम् ॥

श्रीः ।

विक्रय्य पुस्तकें-वेदान्तग्रन्थाः ।

नाम	की. रु. आ.
ब्रह्मसूत्र-(शारीरक) शांकरभाष्यसहित, इसमें शांकरभाष्यकी गोविन्दराजकृत रत्नप्रभा, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पतिमिश्रकृत भामती, आनन्दगिरिकृत न्यायनिर्णय यह तीनों टीकायें संयुक्त हैं.	१२-०
ब्रह्मसूत्र-(शारीरक) "वेदान्तदर्शन" रिसर्च स्कालर पं०माधवाचार्यकृत वेदान्ततत्त्वप्रकाशभाषाभाष्य समेत । मुमुक्षुओंको अतिसुगमतासे सुबोध ज्ञानोपयोगी बहुत सरल भाषामें है.	१-८
ब्रह्मसूत्र-(वेदान्तदर्शन) शांकरभाष्यानुसार सरल भाषाटीकामें है.	१-८
भगवद्गीता--चिद्घनानन्दी "गूढार्थदीपिका" भाषाटीका । श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्रीस्वामी चिद्घनानन्दगिरिजी महोदयने सर्वसांसारिक लोगोंके उपकारार्थ "श्रीमच्छंकरभाष्यके" अनुसार पदच्छेद-अन्वयांक तथा-पदार्थसहित निर्माण किया है । यह मुमुक्षुगणोंको अतिसरल सुबोधयुक्त है तथा सुंदर कपडेकी मनोहर जिल्दबँधी है.	८-०
भगवद्गीता--आनन्दगिरिकृत भाषाटीकासहित । जिसमें अन्वय करके भावार्थ स्पष्ट कियागया है.	३-८
भगवद्गीता-सान्वय व्रजभाषा दोहासहित । अत्युत्तम ग्लेज कागज	१-६
" तथा रफ कागज.	१-२
भगवद्गीता-वैष्णव हरिदासजीकृत भाषार्थ तथा दोहा चौपाइयोंमें (परमानन्दप्रकाशिका.)	१-०
भगवद्गीता-(अमृततरंगिणी भाषाटीका) रघुनाथप्रसादकृत बडा अक्षर.	१-२
भगवद्गीता-अमृततरंगिणी-दोहासहित भाषाटीका पाकिटबुक	०-१२
भगवद्गीता- श्रीधरीसंस्कृतटीका सहित ग्लेज कागज.	१-४
" तथा रफ कागज.	१-०
भगवद्गीता-विशिष्टाद्वैतमतानुयायी तत्त्वार्थसुदर्शनी टीका भाषाभाष्य सहित पञ्चनदीय पं० सुदर्शनाचार्य शास्त्रिप्रणीत.	४-०

नाम	की. रु. आ.
भगवद्गीता–श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत मधुसूदनीटीका सहित.	२–८
भगवद्गीता–रामानुजभाष्य (विशिष्टाद्वैतपर)	२–०
भगवद्गीता–सदानन्दस्वामिकृत श्लोकबद्धभावप्रकाशटीकासमेत.	४–०
भगवद्गीता–बडा अक्षर १६ पेजी गुटका रेशमी.	०–१४
भगवद्गीता–गुटका–रेशमी जिल्द विष्णुसहस्रनाम सहिता	०–१०
भगवद्गीता–गुटका पाकिट बुक (६४ पेजी)	०–७
भगवद्गीता–गुटका महीन अक्षर (तावीजी)	०–४
भगवद्गीतादि पञ्चरत्न–इसमें–गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति और गजेन्द्रमोक्ष है मोटा अक्षर रेशमी जिल्द.	१–६
भगवद्गीतादि पञ्चरत्न–अक्षर बडा खुलापत्रा लंबी संची.	१–०
भगवद्गीतादि पंचरत्न–भाषाटीकासमेत बडा अक्षर.	२–८
भगवद्गीतादि पंचरत्न–नवरत्न। इसमें गीतामंगल आचार्यकृत अष्टपदी विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज 'अनुस्मृति' गजेन्द्रमोक्ष. अष्टादशश्लोकी गीता सप्तश्लोकी गीता और चतुश्लोकी भागवत है	०–१०
भगवद्गीतादि पञ्चरत्न–द्वादशरत्न। इसमें गीतामाहात्म्य, गीतार्थसंग्रह, गीतामंगलाचरण, गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रशमोक्ष अष्टादशश्लोकी गीता, सप्तश्लोकी गीता, चतुःश्लोकी भागवतादि है	०–१२
भगवद्गीता–सरल गुजराती अर्थ सहित विलायती कपडेकी सुनहरी जिल्द	०–४
" तथा वायडिंग पुठेकी जिल्द	०–३
भक्तिमीमांसा– शाण्डिल्यऋषि प्रणीत सूत्र और आचार्यस्वप्नेश्वर विरचित संस्कृत भाष्यसहित.	०–८
भक्तिदर्शन-महर्षि शाण्डिल्यप्रणीत। निगमागमी भाषाभाष्य सहित इसमें भक्तिविषयक सभी बातोंका वर्णन है	०–१२
भागवतवेदस्तुति–श्रीधरीटीका और श्रीधरीटीकाकी वंशीधरीटीका, श्रीधरानुयायिनी, विश्वनाथी, तोषिणी नीलकण्ठी आदि पंच संस्कृतटीकाओंसमेत.	१–०

नाम.	की.रु.आ.
मध्वविजय—नारायणपंडिताचार्य विरचित । इसमें श्रीमध्वाचार्यके दिग्विजय-प्रसङ्गसे अत्युत्तम वेदान्तरहस्यका वर्णन है	०–८
मध्वविजय—छलारी नरसिंहाचार्यरचित । शेषविरचित 'मंदोपकारिणी' नामक संस्कृतटीकासमेत ।	०–४
महावाक्यविवरण—स्वामि रामकृष्णानन्दगिरिकृत भाषाटीका सहित मुमुक्षुओंको आत्मज्ञान सम्पादनमें अत्यन्त उपयोगी है.	०--१०
मुक्तिसागर--भाषामें	०--३
योगवासिष्ठ--सटीक संस्कृतटीका-खुलापत्रा.	२०--०
रामगीता—मूल	०–१॥
रामगीता—भाषाटीका–सहित, पदप्रकाशिका, अनुवादसमुच्चय और विषमपदीके सहित	०–८
लघुवासुदेवमनन—इस छोटेसे ग्रन्थमें मोक्षोपायादि आत्मानात्मविवेक, जीवके दुःखादि विचार, कर्मविचार, रागद्वेषादि वृत्तिभेद, चित्तशोधन, आत्मविचार प्राणादिविचार, सच्चिदानन्दस्वरूपत्व आदि विषय हैं	०–८
विवेकचूडामणि—भाषाटीकासमेत.	१–४
वेदान्तपरिभाषा—शिखामणिटीका और मणिप्रभा—संस्कृतटीका सहित.	३–८
वेदान्तपरिभाषा—अर्थदीपिका—संस्कृतटीका समेत.	१–८
वेदान्तपरिभाषा-साधु गोविन्दसिंहकृत अत्युत्तम भाषाटीकासमेत. ...	१–२
वेदान्तसार-संस्कृत मूल और संस्कृत टीका तथा भाषाटीकासमेत । इसमें संपूर्ण वेदान्तका तत्वरूप सार वर्णित है.	१–०
वेदान्तसंज्ञा—भाषाटीकासमेत । इस छोटेसे ग्रन्थके अभ्याससे वेदान्तकी संज्ञादि प्रक्रियाजाननेसे पञ्चदशी आदि बडे२ग्रन्थोंको सुगमतासे समझसकेंगे	०–८
वेदान्तग्रन्थपञ्चक—जिसमें–(वाक्यप्रदीप, वाक्यसुधारस, हस्तामलक, निर्वाणपञ्चक, मनीषापञ्चक) ये पाचों ग्रन्थ अवश्य विचारने योग्य हैं.	०–८
वेदान्तरामाण-भाषाटीका सहित । रामायणका वेदान्तपक्षमें भावार्थ लिखा गया है.	१–८

नाम.	की. रु. आ.
वेदप्रामाण्यचन्द्रिका--जिसमें--वेद-वेदान्त-मीमांसादि सच्छास्त्रोंके प्रमाणों तथा बौद्ध, चार्वाकादि नास्तिकोंके मतोंका दृढ़ युक्तियोंसे भलीभांति खण्डन किया गया है.	०--१२
वेदान्तडिमडिम	०--२
वैराग्यशतक--साधु हरदयालकृत छन्दोबद्ध भाषाटीका । इसमें महाराजा भरथरीजीने सलीप्रकारसे वैराग्य दर्शाया है.	०--१२
वैराग्यभास्कर--श्रीस्वामी गोपालदास विरचित स्वकृत संस्कृतकारिका और भाषाटीका समेत । इसमें--वैराग्यभेदादि, संन्यास धर्म, निषिद्धान्नत्यागात्मक धर्म और संकीर्ण धर्मादि भलेप्रकार वर्णित है.	०--१२
शिवगीता--पं० ज्वालप्रसादजी मिश्रकृत भाषाटीकासहित । पद्मपुराणोक्त १६ अध्यायोंमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको शिवजीने ज्ञानोपदेश किया है-	०--१४
श्रीमच्छास्त्ररहस्यार्याशतक--इसमें अजातवाद उत्तम प्रकारसे है.	०--२

पुस्तकें मिलनेका ठिकाना-

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस
बम्बई.

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस
कल्याण--बम्बई.